सम्यग्दर्शन की विधि

जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में = स्वभाव में) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन वैरागयादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता ।

लेखक - C.A. जयेश मोहनलाल शेठ
(बोरीवली) B.Com., F.C.A.

-: भावार्थसहित नमस्कार मन्त्र :-

णमो अरिहंताणं	तीन काल के तीर्थंकर परमात्माओं एवं केवली परमात्माओं को बारम्बार नमस्कार हो
णमो सिद्धाणं	तीन काल के सिद्ध परमात्माओं को बारम्बार नमस्कार हो
णमो आइरियाणं	तीन काल के आचार्यों को बारम्बार नमस्कार हो
णमो उवज्झायाणं	तीन काल के उपाध्यायों को बारम्बार नमस्कार हो
णमो लोए सव्वसाहूणं	तीन काल के सभी साधुओं को बारम्बार नमस्कार हो
एसो पंचणमोक्कारो	यह पंचनमस्कार
सव्वपावप्पणासणो	सभी पापों का नाशक है
मंगलाणं च सव्वेसिं	सभी मंगलों में
पढमं हवइ मंगलं	यह प्रथम मंगल है

पञ्चपरमेष्ठीवन्दन श्लोक

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धीश्वराः।
आचार्याः जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवराः रत्नत्रयाराधकाः।
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु ते मङ्गलम्।।

सम्यग्दर्शन की विधि

– लेखक –
CA जयेश मोहनलाल शेठ
बी.काम., एफ.सी.ए.

– अर्पण –

माता – **पूज्य कांताबेन,** पिता – **पूज्य स्वर्गीय मोहनलाल नानचंद शेठ,**
तथा भाई – **श्री रश्मिनभाई मोहनलाल शेठ** को

जो जीव, राग–द्वेषरूप परिणमित होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में = स्वभाव में) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन वैरागयादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता ।

सम्पादन : मनीष मोदी

प्रकाशक : शैलेश पूनमचन्द शाह

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
१	लेखक के हृदयोद्गार	१
२	पूर्वभूमिका	५
३	सम्यग्दर्शन	१२
४	द्रव्य-गुण व्यवस्था	१६
५	द्रव्य-पर्याय व्यवस्था	२०
६	उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप व्यवस्था	२३
७	दृष्टि भेद से भेद	२४
८	पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध की वस्तु व्यवस्था दर्शाते श्लोक	२६
९	सम्यग्दर्शन का स्वरूप	५६
१०	सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् दृष्टि का विषय	६०
११	पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध के सम्यग्दर्शन का विषय दर्शाते श्लोक	६३
१२	आत्मज्ञान रूप स्वात्मानुभूति परोक्ष या प्रत्यक्ष	६८
१३	स्वात्मानुभूति आत्मा के किस प्रदेश में?	६९
१४	क्या इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं?	७०
१५	पर्याय परम पारिणामिकभाव की ही बनी हुई है	७३
१६	स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय	७७
१७	नव तत्त्व की सच्ची श्रद्धा का स्वरूप	७८
१८	सम्यग्दर्शन का लक्षण	८३
१८अ	श्वेताम्बर ग्रन्थों में स्वात्मानुभूति दर्शाती गाथाएँ	८५
१९	सम्यग्दृष्टि को भोग बन्ध का कारण नहीं	८९
२०	निमित्त-उपादान की स्पष्टता	९१
२१	उपयोग और लब्धि रूप सम्यग्दर्शन	९३
२२	स्वानुभूतिरहित श्रद्धा	९४
२३	सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सा गुण	९६
२४	सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता	९७
२५	शुभोपयोग निर्जरा का कारण नहीं	१३७
२६	सम्यग्दर्शन बिना द्रव्य चारित्र	१३९
२७	स्वपर विषय का उपयोग करनेवाला भी आत्मज्ञानी होता है	१४०

२८	प्रवचनसार में सम्यग्दर्शन का विषय	१४२
२९	नियमसार की टीका में सम्यग्दर्शन का विषय	१४४
३०	ध्यान के विषय में...	१४७
(३१)	साधक को सलाह	१५०
३२	नियमसार के अनुसार सम्यग्दर्शन और ध्यान का विषय...	१५६
३३	पंचास्तिकाय संग्रह की गाथायें	१७७
३४	अष्टपाहुड की गाथायें...	१७८
३५	सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग	१७७
३६	समयसार में सम्यग्दर्शन का विषय	१८३
३७	समयसार के अधिकारों का विहंगावलोकन	२०४
३८	समयसार के परिशिष्ट में से अनेकान्त का स्वरूप	२२१
(३९)	बारह भावना	२२७
(४०)	नित्य चिन्तन कणिकाएँ	२२९
(४१)	रात्रिभोजन के सम्बन्ध में	२३६
(४२)	समाधिमरण चिन्तन	२३७
(४३)	यूनिवर्सल लॉ	२३९
	आत्मप्राप्ति का मार्ग	२६०

◯ = इन प्रकरणों को बार-बार पढ़े ।

© CA. **जयेश मोहनलाल शेठ**

मूल्य : अमूल्य

नोट : यह पुस्तक किसी को प्रकाशित कराना हो अथवा
इसकी प्रभावना करना हो तो हमसे संपर्क साधने का निवेदन है।

E-book available on www.jayeshsheth.com

सम्पर्क और प्राप्तिस्थान

शैलेश पूनमचन्द शाह - ✔✐⊷, पारिजात, स्वामी समर्थ मार्ग, (हनुमान क्रॉस रोड ⊷✉,
छत्रपति शिवाजी स्कूल के सामने, विले पार्ले (पूर्व), मुम्बई ✔✐✐✐✕✗ ✆ email : spshah1959@gmail.com
फ़ोन नं 022 2613 3048 - मोबाईल नं. 98924 36799 / 73032 81334

मनीष मोदी, हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय -
९, हीराबाग़, सी. पी. टैंक, चर्नी रोड (पूर्व), मुम्बई ४००००४
मोबाईल नं. 98208 96128 ✆ email : manishymodi@gmail.com

टाईपसेटिंग : **समीर पारेख - क्रियेटिव पेज सेटर्स, मो.** : 83692 68695 ● Email : creativesamir@gmail.com
मुद्रण : **निलेश पारेख, पारस प्रिन्टर्स,** गोरेगाँव, मुंबई - **मो.** : 99677 22359

साधनासम्बन्धी सावधानी

इस पुस्तक में बतायी गयी सम्यग्दर्शन की विधि आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना कार्य नहीं करेगी – यह समझना अत्यंत आवश्यक है। यद्यपि हमने इस पुस्तक में सम्यग्दर्शन की योग्यताओं का वर्णन करने के लिये एक प्रकरण दिया है, फिर भी अनेक लोग आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं को प्राप्त करने का पुरुषार्थ किये बिना तथा यह जाँचे बिना कि वे योग्यताएँ ख़ुद में हैं या नहीं, सीधे शुद्धात्मा में 'मैंपन' करने का प्रयास करने लगते हैं। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना ऐसा करने से उनका सम्यग्दर्शनरूपी कार्य होना कठिन है, क्योंकि बहिरात्मभाव में स्थित आत्मा के लिये यह विधि कार्यकारी नहीं होती।

अतः सभी जनों को सर्वप्रथम केवल आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्य, तीव्र विषय-कषाय भावों का नाश, पर में सुखबुद्धि का नाश, संसार सम्बन्धी इच्छाओं का नाश, तीव्र बाह्य आसक्ति का नाश, संसार के प्रति निर्वेद, आत्मप्राप्ति का संवेग, सिर्फ़ मुक्ति का लक्ष्य, आत्मा का ध्यान रखने का भाव अर्थात् धर्मध्यान, सरलता, अन्याय-अनीति का त्याग, अभक्ष्यभक्षण का त्याग, सप्त महाव्यसनों का त्याग, भवभ्रमण का भय, संसार को असार मानना, चारों गति के भवों को रोग समान मानना, सभी जीवों के प्रति मैत्री आदि चार भावनाएँ, बारह भावनाओं का प्रायोगिक अनुसरण, तत्वज्ञान में विपरीतता का अभाव, देव-शास्त्र-गुरु-धर्म के प्रति अपार श्रद्धा, आत्महित को सर्वोपरि मानना, बाह्य पदार्थों के मूल्यांकन में कमी, इस भव में सिर्फ़ आत्मप्राप्ति को ही करने योग्य कार्य मानना, भगवान के वचनों में पूर्ण श्रद्धा – ऐसी आत्मा की वैराग्यादि योग्यता के लिये पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

सही कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता, इसलिये इन योग्यताओं के बिना कोई भी बाह्यनिमित्त कार्यकारी नहीं होता। अपवादस्वरूप कभी-कभी किसी को सामान्य निमित्त से भी सम्यग्दर्शन हो जाता है, जिसका कारण उसके पूर्वभव की जागृत हुई योग्यताएँ होती हैं।

अनेक लोग मानते हैं कि सम्यग्दर्शन के असंख्यात योग होते हैं। जैसे दुःख, कष्ट, नुक़सान, अपमान, गरीबी, शारीरिक रोग, प्रियजन का वियोग, प्रतिकूल परिस्थितियाँ आदि। इन्हें वैराग्यादि योग्यताओं के निमित्त रूप में मानना चाहिये, पर इसका अर्थ यह नहीं कि बिना वैराग्यादि योग्यताओं के ही सम्यग्दर्शन हो जाएगा। ऐसा माननेवाले वास्तव में संसार-रसिक होते हैं जिन्हें वैराग्यादि

योग्यताओं का अभ्यास कठिन लगता है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना इस पुस्तक में बतायी गयी सम्यग्दर्शन की विधि कार्यकारी नहीं बनेगी।

इसलिये पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं को समझना आवश्यक है। अन्यथा सिर्फ़ बौद्धिक रूप से बार-बार इस विधि का प्रयोग करने से भ्रम हो सकता है। अतः सर्वप्रथम अपनी योग्यता की जाँच के लिये नीचे दिए गए प्रश्न ख़ुद से पूछने चाहिये। प्रत्येक साधक को पहले अपनी योग्यता की जाँच करनी चाहिये और इस पुस्तक के २४वें प्रकरण में बतायी गयी आत्मयोग्यता का अभ्यास करना चाहिये, साथ ही ३१वें प्रकरण में दी गई सलाह का पालन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त 'यूनिवर्सल लॉ (धर्मध्यान सहित)' पुस्तक भी पढ़नी चाहिये। इसलिये इस विधि का सिर्फ़ बौद्धिक अभ्यास नहीं करना चाहिये।

आत्मपरीक्षण के प्रश्न:

- मुझे क्या अत्यंत प्रिय लगता है?
- मुझे किस वस्तु या व्यक्ति के प्रति मोह/ममता है?
- मेरी तीव्र इच्छाएँ क्या हैं?
- ऐसा क्या है जिसके बिना मैं जी नहीं सकता?

इन प्रश्नों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि आपकी बहिर्मुखता या परसन्मुखता कितनी है। इसके बाद बारह भावना, चार भावना, धर्मध्यान, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) आदि के अभ्यास से इस बहिर्मुखता का उपचार करना चाहिये और अपने अभिप्राय को आत्मसन्मुख बनाते रहना चाहिये, जिससे यह विधि कार्यकारी बन सके।

दूसरी बात, आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं को प्राप्त कर आत्मसन्मुख होने के बाद सम्यग्दर्शन सहजरूप से होता है। अतः शुद्धात्मा में 'मैंपन' भी सहज रूप से ही होता है, क्योंकि यह कोई कृत्रिम क्रिया नहीं है। आत्मानुभूति के बिना शुद्धात्मा में 'मैंपन' संभव ही नहीं है। इसलिये कृत्रिम प्रयास करने के बजाय आत्मयोग्यता प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे आत्मानुभूति स्वतः ही, सहज ही, हो जाएगी।

– जयेश मोहनलाल शेठ

मुंबई, १२/०४/२०२६

प्रस्तावना

संसार के तमाम प्रपंचों से यथासम्भव दूर रहते हुए सिर्फ़ आत्म साधना में लीन और ज़रूरी तथा ग़ैरज़रूरी का फ़र्क़ समझने में समर्थ चिन्तक जयेशभाई शेठ की कृति 'सम्यग्दर्शन की विधि' उस अनुभव की एक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है जिससे वे निरन्तर गुज़रते रहे हैं। अपने अनुभव को सीधे-सीधे पाठक को सौंपने के पूर्व उन्होंने उसे कुन्दकुन्द (दूसरी सदी ईस्वी) तथा जोइन्दु (छठी सदी ईस्वी) जैसे आत्म साधकों से लेकर पं. राजमल (१६वीं सदी ईस्वी) जैसे विद्वानों के ग्रन्थों की कसौटी पर कसा है। सब तरह से खरा उतरने पर ही बहुजन के हित और बहुजन के सुख के लिये उन्होंने उसके प्रकाशन की सहमति दी है।

पुस्तक के पीछे लेखक की एक सार्वभौमिक, सर्वजनीन दृष्टि है जो कि वह मात्र आत्मा की बात करती है। वह किसी संकीर्ण सोच में क़ैद नहीं है। जीवन के सिद्धान्त पक्ष और व्यवहार पक्ष दोनों पर उसने एक निश्छल तटस्थता से विचार किया है।

पुस्तक में अन्त:सलिला की तरह बहती हुई गुजराती भाषा के लहज़े और कुछ गुजराती शब्दों ने उसकी हिन्दी को एक टटकेपन से सम्पन्न किया है। गुजराती के ये ऐसे शब्द हैं जिन्हें हिन्दी में आसानी से समझा जा सकता है। इनसे हिन्दी का शब्द भंडार और समृद्ध ही होगा।

मुझे लगता है कि लेखक का सम्पर्क, सोच और रचनाकर्म उसकी साधना को दूसरों में संक्रमित करने में भी समर्थ है। उसके सहयोग में रह रहे शैलेशभाई शाह की जीवनचर्या और व्यवहार को देखकर मैं यही संकेत ग्रहण करता हूँ। दूसरों में अपने व्यक्तित्व का ऐसा संक्रमण और संप्रेक्षण कर पाना तभी सम्भव है जब लेखक की ख़ुद की जीवनचर्या, आत्म साधना एवं जीवन उसके लेखन से भी बड़ा तथा मुख्य हो और लेखन उसका एक बायप्रोडक्ट भर हो। कालजयी लेखन हमेशा बायप्रोडक्ट ही होता है।

– डॉ. जयकुमार जलज
३० इन्दिरा नगर रतलाम

Blank

ॐ श्रीमहावीराय नम:

१

लेखक के हृदयोद्गार

मुझमे छोटी उम्र से ही सत्य को खोजने की तड़प थी। इसलिये सभी दर्शनों का अभ्यास किया और अन्त में जैन दर्शन के अभ्यास के पश्चात् १९९९ में ३८ वर्ष की उम्र में मुझे सत्य की प्राप्ति हुई, अर्थात् उसका अनुभव/साक्षात्कार हुआ। तत्पश्चात् जैन शास्त्रों का पुन:-पुन: स्वाध्याय करते हुए अनेक बार सत्य/शुद्धात्मा का अनुभव हुआ, जिसकी विधि इस पुस्तक में शास्त्रों के आधार सहित सभी आत्मार्थिओं के लाभार्थ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

प्रत्येक जैन सम्प्रदाय में सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में तो अनेक पुस्तकें हैं, जिनमें सम्यग्दर्शन के प्रकार, सम्यग्दर्शन के भेद, पाँच लब्धियाँ, सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण, सम्यग्दर्शन के आठ अंग, सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष-इत्यादि विषयों पर विस्तार से वर्णन है परन्तु उनमें सम्यग्दर्शन के विषय सम्बन्धी चर्चा बहुत ही कम देखने में आती है; इसलिये हमने उसपर प्रस्तुत पुस्तक में थोड़ा प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

हम किसी भी मत-पन्थ में नहीं हैं। हम मात्र आत्मा में हैं, अर्थात् मात्र आत्मधर्म में ही हैं; इसलिये यहाँ हमने किसी भी मत-पन्थ का मण्डन अथवा खण्डन न करके मात्र जो आत्मार्थ उपयोगी है, वही देने की कोशिश की है; इसलिये सब उसे इसी अपेक्षा से समझें-यह अनुरोध है।

हमने इस पुस्तक में जो भी बताया है, वह शास्त्र के आधार से और अनुभव कर बताया है, तथापि किसी को हमारी बात कल्पना भर लगती हो, तो वे इस पुस्तक में बताये हुए विषय का किसी भी शास्त्र के साथ मिलान कर देखें अथवा स्वयं अनुभव करके प्रमाण करके देखें-इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई परीक्षण की विधि नहीं है। कोई अपनी धारणा को अनुकूल न होने से हमें अन्यथा माने, तो उसमें हमारा कुछ नुकसान नहीं है क्योंकि उससे हमारे आनन्द की मस्ती में कुछ भी हीनता आनेवाली नहीं है। यदि आपको ऐसा लगता हो कि आपने जो धार रखा है, वही सच्चा है तो आपसे हम कहते हैं कि-आप अपनी धारणा के अनुसार आत्मानुभूति कर लें तो बहुत अच्छा; और यदि आप अपनी धारणा अनुसार वर्षों तक प्रयत्न करने के बाद भी, भावभासन (तत्त्व का निर्णय) तक भी नहीं पहुँचे हों और तत्त्व की चर्चा तथा वाद-विवाद ही करते रहे हों, तो आप, इस पुस्तक में दर्शाये हुए विषय पर अवश्य विचार करना। यदि आप विचार करेंगे तो तत्त्व का निर्णय तो अचूक होगा ही-ऐसा हमें विश्वास है; इसलिये इस पुस्तक में जो विषय बताया है, उसपर सबको विचार करने के लिये हमारा अनुरोध है। हम किसी वाद-

विवाद में नहीं पड़ना चाहते; इसलिये जिन्हें यह बात समझ में न आये अथवा न रुचे, वे हमें क्षमा करें। 'मिच्छामि दुक्कडं'। 'उत्तम क्षमा'।

इस काल में जैनसमाज दो भागों में विभाजित हो गया है; जिसमें से एक विभाग ऐसा है कि जो मात्र व्यवहार नय को ही मानता है और मात्र उसे ही प्रधानता देता है तथा मात्र उससे ही मोक्ष मानता है। जबकि दूसरा विभाग ऐसा है कि जो मात्र निश्चय नय को ही मानता है और मात्र उसे ही प्रधानता देता है तथा मात्र उससे ही मोक्ष मानता है। परन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग निश्चय-व्यवहार की योग्य सन्धि में ही है। यह बात कोई विरले ही जानते हैं। जैसा कि **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** श्लोक ८ में भी कहा है कि 'जो जीव व्यवहार नय और निश्चय नय को वस्तुस्वरूप द्वारा यथार्थरूप से जानकर मध्यस्थ होता है, अर्थात् निश्चय नय और व्यवहार नय में पक्षपातरहित होता है, वही उपदेश के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है। (अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है।)'

वर्तमानकाल में बहुभाग जैनसमाज व्यवहार नय को ही प्रधानता देता है और निश्चय नय की घोर अवगणना अथवा विरोध करता है, जिससे वह समाज जाने-अनजाने भी एकान्त मतावलम्बी होता है। वह पाखण्डी का मत है। जैनसमाज का दूसरा वर्ग जो कि निश्चय नय को ही प्रधानता देता है और व्यवहार नय की घोर अवगणना अथवा विरोध करता है, वह समाज भी जाने-अनजाने में एकान्तमतरूप है, वह भी पाखण्डी का मत ही है।

हमने इस पुस्तक में निश्चय-व्यवहार की योग्य सन्धि समझाने का प्रामाणिक प्रयत्न किया है। उसे सारा जैनसमाज योग्य रीति से समझकर आराधन करे तो जैन धर्म में आमूल क्रान्ति आ सकती है और अभी जो एकान्त प्ररूपणायें चलती हैं, जो कि पाखण्ड मत रूप हैं वे रुक सकती हैं।

मात्र व्यवहार नय को ही मान्य करके, उसे ही प्रधानता देता एक उदाहरण है - सम्यग्दर्शन का स्वरूप; मात्र व्यवहार नय को ही मान्य करनेवाले बहुत सारे जैन ऐसा मानते हैं कि सम्यग्दर्शन अर्थात् सात/नौ तत्त्वों की (स्वानुभूतिरहित) श्रद्धा अथवा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की (स्वानुभूतिरहित) श्रद्धा। सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या व्यवहार नय के पक्ष की है परन्तु निश्चय नय के मत से जो एक को अर्थात् आत्मा को जानता है, वही सर्व को अर्थात् सात/नौ तत्त्वों तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को जानता है क्योंकि एक आत्मा को जानते ही वह जीव सच्चे देवतत्त्व का अंशत: अनुभव करता है और इसीलिये वह सच्चे देव को अन्तर से पहचानता है तथा सच्चे देव को जानते ही अर्थात् (स्वानुभूति सहित की) श्रद्धा होते ही वह जीव वैसा देव

बनने के मार्ग में गतिशील सच्चे गुरु को भी अन्तर से पहचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसा देव बनने का मार्ग बतानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहचानता है।

निश्चय सम्यग्दर्शन की सच्ची व्याख्या ऐसी होने पर भी व्यवहार नय के पक्षवालों को सम्यग्दर्शन की ऐसी सच्ची व्याख्या मान्य नहीं होती अथवा वे ऐसी व्याख्या का ही विरोध करते हैं और इसी लिये वे सम्यग्दर्शन अर्थात् सात/नौ तत्त्वों की कही जाती (स्वात्मानुभूतिरहित) श्रद्धा अथवा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की कही जाती (स्वात्मानुभूतिरहित) श्रद्धा इतना ही मानते होने से उन्हें 'स्वात्मानुभूतिरहित की श्रद्धा' और 'स्वात्मानुभूतिसहित की श्रद्धा' के बीच के अन्तर की ख़बर ही नहीं होती अथवा ख़बर करना ही नहीं चाहते। इसलिये वे सम्यग्दर्शन, जो कि धर्म की नींव है उसके विषय में ही अनजान रहकर सम्पूर्ण ज़िन्दगी क्रिया-धर्म उत्तम रीति से करने पर भी संसार का अन्त करनेवाला धर्म प्राप्त नहीं करते।

इसी प्रकार जो मात्र निश्चय नय को ही मान्य कर के उसे ही प्रधानता देते हैं, वे मात्र ज्ञान की शुष्क (कोरी) बातों में ही रह जाते हैं और आत्मा की योग्यता के विषय में अथवा मात्र नींवरूपी सदाचार के विषय की भी घोर उपेक्षा कर के, वे भी संसार का अन्त करनेवाले धर्म से तो दूर ही रहते हैं। तदुपरान्त ऐसे लोगों को प्राय: स्वच्छन्दता के कारण अर्थात् पुण्य को एकान्तत: हेय मानने के कारण पुण्य का भी अभाव होने से भव का भी ठिकाना नहीं रहता। उक्त दोनों ही बातें दयनीय हैं। करुणा उपजानेवाली हैं।

इसी प्रकार जैनसमाज में एक छोटा वर्ग ऐसा भी है जिसने वस्तुव्यवस्था को ही विकृत कर दिया है; वह द्रव्य और पर्याय को इस हद तक अलग मानता है जैसे वे दो अलग द्रव्य ही हों! वे एक अभेद द्रव्य में भेद उपजा (कल्पना) करके बताये हुए गुण-पर्याय को भी भिन्न समझते हैं अर्थात् द्रव्य का सम्यक् स्वरूप समझाने को द्रव्य को अपेक्षा से गुण और पर्याय से भिन्न बताया है, उसे वे वास्तविक रूप से भिन्न समझते हैं; द्रव्य और पर्याय को दो भाव न मानकर वे उसे दो भाग रूप मानने तक की प्ररूपणा करते हैं। आगे उसमें भी सामान्य-विशेष ऐसे दो भाग की कल्पना करते हैं। इस प्रकार वस्तुव्यवस्था की विकृत रीति से प्ररूपणा करके वे भी मोक्ष देनेवाले धर्म से दूर ही रहते हैं। ऐसे लोगों के भी प्राय: स्वच्छन्दता के कारण पुण्य का अभाव होने के कारण भव का ठिकाना नहीं रहता। यह बात भी दयनीय ही है।

अभी जैनसमाज में प्रवर्तमान तत्त्व की ऐसी ग़लत समझ को दूर करने के लिये हम अपनी आत्मा के अनुभूत विचार, शास्त्र के आधारसहित इस पुस्तक में प्रस्तुत करते हैं, जिनपर विचार-चिन्तन-मनन आप खुले मन से और 'अच्छा वही मेरा' और 'सच्चा वही मेरा' ऐसा अभिगम अपनाकर करेंगे तो अवश्य आप भी तत्त्व की प्रतीति नि:सन्देह कर सकेंगे ऐसा हमें

विश्वास है। यहाँ अपने लिये जो हमने 'हम' सम्बोधन प्रयोग किया है, वह कोई मानवाचक शब्द नहीं समझना। उसका अर्थ त्रैकालिक आत्मानुभवी है क्योंकि त्रिकालवर्ती आत्मानुभवियों की स्वात्मानुभूति एक समान ही होती है।

पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को नमस्कार करके, शास्त्र और स्वानुभूति के आधार पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन की विधि, सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक योग्यता, सम्यग्दर्शन के लिये चिन्तन-मनन के विषय, उसके स्पष्टीकरण के लिये द्रव्य-गुण-पर्यायमय सत् रूप वस्तु को जो कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप भी है, और जो केवलज्ञान, केवलदर्शन और मुक्ति का कारण है; उसके विषय में विशेष स्पष्टीकरण सहित समझाने का प्रयास हमने इस पुस्तक में किया है। यह पुस्तक हमारी पूर्व की 'दृष्टि का विषय' इस नाम से प्रकाशित पुस्तक में कुछ नया चिन्तन जोड़कर बनायी गयी है।

मुमुक्षु जीवों से हमारा अनुरोध है वे इस पुस्तक को आदि से अन्त तक अध्ययन करके अपना मत बनाये। अगर वे आधा-अधूरा या कुछ अंश पढ़कर अपना मत बना लेते हैं, तो वह उनका खुद से ही छल है।

इस पुस्तक की रचना में हमने जिन-जिन ग्रन्थों का आधार लिया है, उसके लिये हम उनके लेखकों, आचार्य भगवन्तों के, उन ग्रन्थों की टीका रचनेवालों के, अनुवादकों के तथा प्रकाशकों के हृदयपूर्वक आभारी हैं। प्रत्येक ग्रन्थ की गाथा का अन्वयार्थ और भावार्थ ' ' में दिया है। इस पुस्तक की रचना में अनेक लोगों ने अलग-अलग रीति से सहयोग दिया है, हम उन सब के ऋणी हैं। उन सबका हम हृदयपूर्वक आभार मानते हैं। विशेषकर डॉ० जयकुमार जलज जी का प्रस्तावना लिखने के लिये और मनीष मोदी जी का सम्पादन करने के लिये हृदयपूर्वक आभार मानते हैं।

हमारी आत्मा की अनुभूति के विचारों को आप परीक्षा करके और यहाँ प्रस्तुत शास्त्र के आधार पर स्वीकार करके सम्यग्दर्शन प्रगट करें, जिससे आप भी धर्मरूप परिणमें और मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर अन्त में सिद्धत्व को प्राप्त करें, इसी अभ्यर्थनासह।

प्रस्तुत पुस्तक में जाने-अनजाने में मुझसे कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध लिखा गया हो तो त्रिविध त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा!

मुम्बई :12-12-2018 सी. ए. **जयेश मोहनलाल शेठ**

२
पूर्वभूमिका

पहले हम अपनी अनादि की कहानी देखते हैं। उसके लिये हमें प्राथमिक काल-गणना समझना आवश्यक है। हम काल को सेकण्ड, मिनट, घण्टा इत्यादि रूप से जानते हैं। परन्तु हमारी कहानी समझने के लिये हमको उपमाकाल, जो असंख्यात वर्षों का होता है, उसे जानना आवश्यक है।

इसलिये पहले हम उपमाकाल की व्याख्या करते हैं। उसमें श्वेताम्बर-दिगम्बर आम्नाय में थोड़ा अन्तर हो सकता है, इसलिये यहाँ बतायी गयी व्याख्या से कोई सहमत न भी हो तो भी दिक्कत नहीं है; आप इसे शब्द या अंक के रूप में ग्रहण मत करना और इस व्याख्या के खरे-खोटेपन के विवाद में भी न पड़कर उस काल-गणना का भावभासन अवश्य करना, ऐसा आप सबसे हमारा नम्र निवेदन है।

(अनुमानित) ६००० किलोमीटर लम्बा, उतना ही चौड़ा और उतना ही गहरा कुँआ (पल्य) बनाकर उसको उत्तम भोगभूमि के सात दिन के जन्मे भेड़ के केश (अनुमानित अपने केश के ५१२ कतले करने जितना) के छोटे-छोटे टुकड़ों (जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते ऐसे बारीक टुकड़ों) से ठूँसकर भरना है। हर १०० वर्ष बाद उस कुँए से एक केश का टुकड़ा निकालना है। इस तरह से केश का एक-एक टुकड़ा निकालते-निकालते जब वह कुँआ पूरा खाली हो जाये तो उतने काल को एक व्यवहार पल्योपम कहते हैं। उस एक व्यवहार पल्योपम को असंख्यात से गुणा करने पर जो संख्या आयेगी, उतने काल को एक उदार पल्योपम कहते हैं। उस एक उदार पल्योपम को असंख्यात से गुणा करने पर जो संख्या आयेगी, उतने काल को एक अद्धा पल्योपम कहते हैं।

ऐसे एक करोड़ अद्धा पल्योपम को १० करोड़ अद्धा पल्योपम से गुणा करने पर जो संख्या आयेगी, उतने काल को एक सागरोपम कहते हैं।

इस प्रकार एक करोड़ सागरोपम को २० करोड़ सागरोपम से गुणा करने पर जो संख्या आयेगी, उतने काल को एक कालचक्र कहते हैं। ऐसे अनन्तानन्त कालचक्र बीतने पर एक पुद्गल परावर्तन काल का अनन्तवाँ हिस्सा व्यतीत होता है। इतना बड़ा है एक पुद्गल परावर्तन काल। एक पुद्गल परावर्तन काल के अनन्तवें भाग में अनन्तानन्त कालचक्र होते हैं।

अब हम अपनी कहानी समझते हैं। अनादि से हम इस संसार में भटक रहे हैं। यहाँ जैसे अपना घर होता है और हम कहीं भी यात्रा पर जाते हैं तो घूम-फिरकर घर में वापिस अवश्य आ जाते हैं। इसी तरह हमारी आत्मा का अनादि से एक ही निवासस्थान है। उसका नाम है निगोद। निगोद में अनन्तानन्त आत्मा एक ही शरीर में रहती हैं और एक साथ ही उन सबका जन्म-मरण होता है। उनकी आयु अनुमानित अपने एक श्वासोच्छवास के १८वें भाग प्रमाण होती है अर्थात् उनके लगातार जन्म-मरण होते रहते हैं। हमारे शरीर के ३.५ करोड़ रोम में गरम सुई से बींधकर, शरीर को मिट्टी में रगड़ेंगे तब जितना दु:ख होता है, उतना दु:ख भगवान ने जन्म का बताया है। मरण का दु:ख उससे कई गुणा अधिक होता है। ऐसा जन्म-मरण का दु:ख, निगोद के जीव को लगातार होता है। निगोद के जीव को सातवें नरक के जीव से भी कई गुणा अधिक दु:ख होता है ऐसा भगवान ने बताया है।

अनादि से हम निगोद में ऐसे दु:ख सहते थे। उसे अव्यवहार राशि या नित्य निगोद भी कहते हैं। कई ऐसे भी भव्य जीव हैं जो नित्य निगोद से कभी निकलनेवाले ही नहीं हैं। जब एक जीव का मोक्ष होता है, तब एक जीव उस अव्यवहार राशि में से व्यवहार राशि में आता है। इस प्रकार हम अनन्तानन्त पुद्गल परावर्तन काल बीतने पर निगोद में से निकलकर दो इन्द्रियादि गति में प्रवेश पाते हैं। यह हमारे लिये अभी तक का सबसे बड़ा इनाम (Jackpot) है।

निगोद से बाहर निकलने के बाद एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, नरक, युगलिया मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच युगलिया, देव आदि गतियों में असंख्यात-असंख्यात काल बिताने के पश्चात् हम कर्मभूमि में मनुष्य के रूप में जन्म पाते हैं।

ऐसे कई मनुष्य जन्म पाने के बाद कभी एक बार हमारा जन्म आर्यक्षेत्र में होता है। ऐसे कई बार आर्यक्षेत्र में मनुष्यजन्म पाने के बाद कभी एक बार हमारा जन्म उच्च कुल में होता है। ऐसे कई बार उच्च कुल में मनुष्यजन्म पाने के बाद कभी एक बार हमें इन्द्रियों की परिपूर्णता और निरोगी शरीर मिलता है। ऐसे कई बार इन्द्रियों की परिपूर्णता और निरोगी शरीर पाने के बाद कभी एक बार हमें दीर्घायु मिलती है। ऐसे कई बार दीर्घायु पाने के बाद कभी एक बार हमें सत्यधर्म मिलता है। ऐसे कई बार हमें सत्यधर्म मिलने के बाद कभी एक बार हमें उस सत्यधर्म में रुचि जगती है। ऐसे कई बार हमें सत्यधर्म में रुचि जगने के बाद कभी एक बार हमें उस सत्यधर्म के ऊपर श्रद्धा जगती है। ऐसी श्रद्धा को परम दुर्लभ बताया गया है।

इस तरह मनुष्य जन्म से लेकर सत्यधर्म में रुचि तक की प्राप्ति एक-एक से कई गुणा दुर्लभ-दुर्लभतर-दुर्लभतम बतायी गयी है। ऐसी दुर्लभतम वस्तु पाकर हमारे लिये उसका उपयोग, परम दुर्लभ कही गयी ऐसी श्रद्धा प्राप्त करने में और उसके फलस्वरूप वैराग्य प्राप्त करने में ही लगाने योग्य है। वह योग्यता की प्राप्ति भी एकमात्र आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन प्राप्ति) के लक्ष्य से होनी चाहिये, अन्यथा नहीं। क्योंकि एकमात्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न होने से ही हम अनन्तानन्त-काल से इस संसार में अनन्त दुःख सहते हुए भटक रहे हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्ष का अनुज्ञापत्र है।

इस प्रकार हमने अनन्तानन्त बार दुर्लभ ऐसा मनुष्यजन्म आदि प्राप्त करके भी एक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न करके अनन्तकाल निगोद में व्यतीत किया है। क्योंकि एक बार हम यदि निगोद से निकलकर २००० सागरोपम में मोक्ष प्राप्त नहीं करते तो हमें नियम से फिर निगोद में जाना पड़ता है।

एक जीव का निगोद में रहने का काल (कायस्थिति) २.५ पुद्‌गल परावर्तन जितना है अर्थात् वह जीव २.५ पुद्‌गल परावर्तन काल तक लगातार निगोद में ही जन्म-मरण करता रह सकता है। २.५ पुद्‌गल परावर्तन काल के बाद वह जीव थोड़े काल के लिये अगर प्रत्येक एकेन्द्रिय में जाकर वापस निगोद में आये तो दूसरे २.५ पुद्‌गल परावर्तन काल तक वह जीव निगोद में ही जन्म-मरण करता हुआ रह सकता है। किसी एक जीव के साथ ऐसा असंख्यात बार भी हो सकता है अर्थात् कोई एक जीव असंख्यात पुद्‌गल परावर्तन काल तक एकेन्द्रिय में रह सकता है। इससे उस जीव को अनन्तानन्त काल तक अनन्तानन्त दुःख झेलने पड़ते हैं।

निगोद से निकलकर फिर से मनुष्य जन्म आदि प्राप्त करना अत्यन्त-अत्यन्त कठिन है। इसी लिये भगवान ने एकेन्द्रिय से बाहर निकलने को चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया है। यह तथ्य याद रखें तो वर्तमान जीवन को एकमात्र आत्मप्राप्ति में ही लगाने योग्य समझेंगे। इस बात को हर दिन याद करना चाहिये। बल्कि यह बात कभी भी भूलने जैसी नहीं है।

इस कारण से हम इस पुस्तक में मुक्ति के इच्छुक मुमुक्षु जीवों के लिये सम्यग्दर्शन की विधि का यथासम्भव वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं।

इच्छा दुःख का कारण है। इसलिये जब तक सर्व इच्छाओं का यथार्थ शमन (नाश) न

हो तब तक सुख मिलना असम्भव ही है। इच्छा का नाश, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये योग्यतारूप भी है। इच्छा के नाश से ही वैराग्य का जन्म होता है। जब तक एक भी सांसारिक इच्छा है, तब तक संसार का नाश नहीं होता। इच्छा मन में उत्पन्न होती है, इस कारण पहले मन में से संसार का नाश आवश्यक है। मन में से संसार का नाश होते ही बाहर मात्र यन्त्रवत कार्य होते रहते हैं परन्तु संसार का आन्तरिक चालक बल ख़त्म हो जाता है।

इच्छा इस संसार का इंजन है। अनादि से यह जीव इच्छापूर्ति के लिये भाग रहा है। मगर आज तक जीव की इच्छापूर्ति नहीं हो पायी है क्योंकि जब तक किसी एक इच्छा की पूर्ति होती है, तब तक दूसरी अनेक नयी इच्छाएँ जन्म ले लेती हैं। इस प्रकार यह जीव अनादि से इच्छापूर्ति के प्रयास के कारण अनन्त संसार में भटक रहा है। यदि इस जन्म में भी हम इच्छाओं का यथार्थ शमन (नाश) न कर पायें तो और कितने काल तक हम इस संसार में भटकेंगे इसका पता नहीं। इच्छापूर्ति में सहायक या अवरोधक के ऊपर क्रमश: राग या द्वेष होता है, वह राग-द्वेष भी संसार बढ़ने का और अनन्त दु:खों का एक कारण बनता है।

अनादि से अपनी आत्मा इस संसार में सम्यग्दर्शन के अभाव के कारण ही भटकती है अर्थात् अनन्त पुद्गल परावर्तन से अपनी आत्मा इस संसार में अनन्त दु:ख सहन करती हुई घूमती रहती है और उसका मुख्य कारण है मिथ्यात्व अर्थात् सम्यग्दर्शन का अभाव। 'यह मिथ्यात्व हमारा महान शत्रु है' - ऐसा ज्ञात न होने के कारण बहुत से जीव अन्य-अन्य शत्रु की कल्पना करके आपस में लड़ते रहते हैं और इसी में यह अमूल्य जीवन पूरा करके, फिर अनन्तकाल के दु:खों को आमन्त्रण देते हैं। **परमात्मप्रकाश** - त्रिविध आत्माधिकार गाथा ६५ में भी बताया है कि 'इस जगत में (in the universe) ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं जहाँ चौरासी लाख जीवयोनि में उत्पन्न होकर, भेदाभेद रत्नत्रय के प्रतिपादक जिनवचन को प्राप्त नहीं करता हुआ यह जीव अनादि काल से न भ्रमा हो।'

आत्मा स्वभाव से सुखस्वरूप होने के कारण, सभी जीव सुख चाहते हैं, तथापि सच्चे सुख की जानकारी अथवा अनुभव न होने के कारण अनादि से हमारी आत्मा शारीरिक-इन्द्रियजन्य सुख, जो कि वास्तव में सुख नहीं है मात्र सुखाभासरूप ही है, मात्र दु:खपूर्वक ही है, उसका सेवन करता रहता है। वह सुख इन्द्रियों के आकुलतारूपी दु:ख को/वेग को शान्त करने को ही सेवन किया जाता है तथापि वह सुख अग्नि में ईंधन रूप ही होता है; अर्थात् वह सुख बारम्बार उसकी इच्छारूपी दु:ख जागृत करने का ही काम करता है। वह सुख (भोग)

भोगते हुए वह जो नया पाप बाँधता है वह नये दु:खों का कारण बनता है अर्थात् वैसा सुख दु:खपूर्वक और दु:खफल सहित ही होता है। फिर भी मनुष्य उसके पीछे पागल बनकर भागता है। दूसरे, शारीरिक-इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक है क्योंकि वह सुख अमुक काल के पश्चात् नियम से जानेवाला है अर्थात् जीव को ऐसा सुख मात्र त्रस-पर्याय में ही मिलने योग्य है जो कि बहुत अल्प काल के लिये होता है, पश्चात् वह जीव नियम से एकेन्द्रिय में जाता है जहाँ अनन्तकाल तक अनन्त दु:ख भोगने पड़ते हैं। एकेन्द्रिय में से बाहर निकलना भी भगवान ने चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया है।

इन्द्रियों के विषयों से प्रीति भी संसार का कारण है। हमने अनन्त भवों में अनन्तानन्त बार इन्द्रियों के विषयों का भोग भोगा है लेकिन इन्द्रियों के विषयों को भोगने से कभी भी मन भरता नहीं बल्कि वह अधिक बलवान बनती है वह और अधिक माँगती है। जिस प्रकार अग्नि में लकड़ी डालने से अग्नि अधिक बलवान बनती है, उसी प्रकार से इन्द्रियों को जितनी अधिक भोग सामग्री देंगे, उतनी उसकी अभिलाषा मिटती नहीं बल्कि बढ़ती है।

आत्मानुशासन, श्लोक ५१ में बताया है कि 'काले नाग जैसे प्राण नाश करनेवाले ऐसे इस भोग की तीव्र अभिलाषा से भूत, भावी और वर्तमान भवों को नष्ट करके तू अखण्डित मृत्यु से अनन्त बार मरा और आत्मा के सर्व स्वाधीन सुख का नाश किया; मुझे तो लगता है कि - तू अविवेक, परलोक भय से रहित, निर्दय और कठोर परिणामी है क्योंकि महापुरुषों से निन्दित वस्तु का ही तू अभिलाषी हुआ है। धिक्कार है उन कामी पुरुषों को जिनका अन्त:करण निरन्तर काम-क्रोध रूप महाग्रह (डाकू-पिशाच) के वश रहा करता है! ऐसा प्राणी इस जगत में क्या-क्या नहीं करता? सारे कुकर्म करता है।'

अनादि से अगर कोई मेरा सब से बड़ा दुश्मन है तो वह मैं स्वयं ही हूँ। अनादि से अगर किसी ने मुझे सब से ज़्यादा छला (ठगा) है तो वह मैं स्वयं ही हूँ। अनादि से मैंने स्वयं को ग़लत तर्कों में, पक्ष में, आग्रह में, हठाग्रह में, कदाग्रह में फँसाकर रखा हुआ है। इस कारण हम स्वयं को स्वच्छन्दता से मुक्ति दिलाने में असफल रहे हैं और ऐसे ही स्वयं को छलते रहे हैं। हम यह सब छोड़कर अपने मित्र भी बन सकते हैं। उसका तरीका बहुत ही आसान है। मुझे अपना ग़लत तर्क, पक्ष, आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह और स्वच्छन्दता छोड़कर 'सच्चा वही मेरा' और 'अच्छा वही मेरा' इस सूत्र को अपनाकर अपना परम मित्र बनना है।

आगे **आत्मानुशासन** श्लोक ५४ में भी बताया है कि 'हे जीव! इस अपार और अथाह

संसार में परिभ्रमण करते-करते तूने अनेक योनियाँ धारण कीं, महादोषयुक्त सप्त धातुमय मल से निर्मित यह तेरा यह शरीर है। क्रोधादि कषाय जन्य मानसिक और शारीरिक दु:खों से तू निरन्तर पीड़ित है। हीनाचार, अभक्ष्य भक्षण और दुराचार में तू निमग्न हो रहा है और ऐसा कर-करके तू अपनी आत्मा को निरन्तर ठग रहा है और जरारोग से ग्रस्त है। तू मृत्यु के मुख में पड़ा है तथापि व्यर्थ उन्मत्त हो रहा है, यही परम आश्चर्य है! क्या तू आत्मकल्याण का कट्टर शत्रु है? क्या तू अकल्याण चाहता है?'

कई जीव ऐसे भी हैं जो पुण्यार्जन को ही मोक्षमार्ग मानते हैं। वे निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लक्ष्य बग़ैर ही मात्र पुण्यार्जन में लगे रहते हैं और उस से ही मोक्ष मानते हैं। ऐसे बाल जीवों के ऊपर करुणा करके **योगसार** दोहा १५ में आचार्य भगवान ने बताया है कि 'और यदि तू अपने को तो जानता नहीं (अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं है) और केवल पुण्य ही करता रहेगा तो भी तू बारम्बार संसार में ही भ्रमण करेगा परन्तु शिवसुख को प्राप्त नहीं कर सकेगा।' अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना शिवसुख (मोक्ष) की प्राप्ति शक्य ही नहीं है।

आगे **योगसार** दोहा ५३ में भी आचार्य भगवान बताते हैं कि 'शास्त्र पढ़ने पर भी जो आत्मा को नहीं जानते (अर्थात् जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं है), वे भी जड़ हैं; इस कारण वे जीव निश्चय से निर्वाण को प्राप्त नहीं करते, यह बात स्पष्ट है।' अर्थात् मिथ्यात्व (अर्थात् सम्यग्दर्शन की अनुपस्थिति) अनन्त संसार का मूल कारण है। वह सभी पापों का राजा है। वह सम्यग्दर्शन से ही नष्ट होता है। सम्यग्दर्शन निर्वाण को प्राप्त करने के लिये अर्थात् शाश्वत् सुख की प्राप्ति के लिये परम आवश्यक है।

इसीलिये स्वामी **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** गाथा २९० से २९६ में बताया है कि - यह मनुष्य गति, आर्य खण्ड, उच्च कुल, धन, इन्द्रियों की परिपूर्णता, निरोगी शरीर, दीर्घायु, भद्र परिणाम, सरल स्वभाव, साधु पुरुषों की संगति, सम्यग्दर्शन-सत् श्रद्धान, चारित्र इत्यादि एक से एक अधिक-अधिक दुर्लभ है।

आत्मानुशासन श्लोक ७५ में बताया है कि 'मनुष्य प्राणी की दुर्लभता और उत्तमता के कारण विधिरूपी मन्त्री ने उसकी अनेक प्रकार से रक्षा करके दुष्ट परिणामी नारकी के जीवों को अधो भाग में रखा, देवों को ऊर्ध्व भाग में रखा, लोक के चारों ओर अनेक महान अलंघ्य समुद्र तथा उनके चारों ओर घनोदधि घन और तनु, इस नाम के तीन पवनों से लपेटकर विस्तीर्ण कोट कर रखा और बीच में पूर्ण यत्न से मनुष्य प्राणी को रखा...'

और **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** गाथा २९७ में भी बताया है कि 'जैसे महान समुद्र में गिरा हुआ रत्न फिर से प्राप्त होना दुर्लभ है, उसी प्रकार यह मनुष्यत्व प्राप्त होना दुर्लभ है – ऐसा निश्चय करके, हे भव्य जीवो! इस मिथ्यात्व और कषाय को छोड़ो, ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।'

इसलिये यह अमूल्य दुर्लभ मनुष्यजन्म मात्र शारीरिक–इन्द्रियजनित सुख और उसकी प्राप्ति के लिये ख़र्च करने योग्य नहीं है। इसके एक भी पल को व्यर्थ न गँवाकर, मात्र और मात्र शीघ्रता से शाश्वत् सुखदायी आत्मिक–सुख (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति के लिये लगाना ही योग्य है। यदि यह भव सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना निकल गया तो फिर अनन्तकाल तक ऐसा सम्यग्दर्शन पाने के योग्य भव प्राप्त होना दुर्लभ ही है इसलिये सभी से हमारा अनुरोध है कि आपको अपना वर्तमान पूरा जीवन सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये ही लगाना चाहिये। इसी लिये हम प्रस्तुत पुस्तक में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये आत्मा की योग्यताएँ, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि/रीति और उसके लिये जिस भावनाओं का मनन–चिन्तन करके आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित जिसमें एकत्व होता है ऐसे 'सम्यग्दर्शन (दृष्टि) के विषय' का विवेचन करेंगे।

- निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि हम जब सब्ज़ी बनाते हैं तब उसमें नमक उचित मात्रा में ही डालना होता है। अगर सब्ज़ी में नमक कम होगा तो वह फीकी लगेगी और ज़्यादा होगा तो वह खाने लायक ही नहीं रहेगी। नमक निश्चय है और सब्ज़ी व्यवहार। इसलिये समझना यह है कि अपनी साधना में निश्चय और व्यवहार का योग्य संयोजन आवश्यक है।
- निश्चय और व्यवहार के योग्य संयोजन में निश्चय सब्ज़ी में नमक की भाँति योग्य मात्रा में ही होना आवश्यक है। कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण सिर्फ़ निश्चय को ही सच्चा मानकर और व्यवहार को झूठा (उपचरित) मानकर अकेले निश्चय का ही सेवन करते रहते हैं। यह इस हुण्डा अवसर्पिणी कलिकाल का ही प्रभाव है कि वे भ्रम वश सब्ज़ी को छोड़कर अकेले नमक खाने की ही प्ररूपणा करते हैं। हम सोच भी नहीं सकते हैं कि उनकी क्या दशा होगी। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

३
सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का द्वार है। निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता और मोक्षमार्ग में प्रवेश के बिना अव्याबाध सुख का मार्ग ही साध्य नहीं होता। मोक्षमार्ग में प्रवेश और बाद के पुरुषार्थ से ही सिद्धत्व रूप फल मिलता है, अन्यथा नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना भवभ्रमण भी नहीं कटता, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने के बाद ही जीव अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक संसार में नहीं रहता, वह अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल में अवश्य सिद्धत्व को प्राप्त करता ही है जो कि सत्-चित्-आनन्द स्वरूप शाश्वत् है। इसलिये समझ में आता है कि इस मानव भव में यदि कुछ भी करने योग्य हो तो वह एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन ही सर्वप्रथम प्राप्त करने योग्य है जिससे स्वयं को मोक्षमार्ग में प्रवेश मिले और पुरुषार्थ प्रस्फुटित होने पर आगे सिद्ध पद की प्राप्ति हो।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि जो सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धारूपी अथवा नौ तत्त्व की श्रद्धारूपी सम्यग्दर्शन है, वह तो मात्र व्यावहारिक (उपचाररूप) सम्यग्दर्शन भी हो सकता है जो कि मोक्षमार्ग में प्रवेश के लिये कार्यकारी नहीं माना जाता, क्योंकि निश्चय नय के मत से जो एक को अर्थात् आत्मा को जानता है वही सर्व को अर्थात् सात/नौ तत्त्वों को और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को जानता है। एक आत्मा को जानने से ही वह जीव सच्चे देव तत्त्व का आंशिक अनुभव करता है, इससे वह सच्चे देव को अन्तर से पहचानता है और सच्चे देव को जानते ही अर्थात् श्रद्धा होते ही वह जीव इस देव बनने के मार्ग पर चलनेवाले सच्चे गुरु को भी अन्तर से पहचानता है और साथ ही साथ वह जीव देव बनने का मार्ग बतानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहचानता है। इस प्रकार स्वानुभूति (स्व की अनुभूति) युक्त सम्यग्दर्शन अर्थात् भेदज्ञान सहित सम्यग्दर्शन ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है और उसके बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश भी शक्य नहीं है। इसलिये यहाँ बताये गये सम्यग्दर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन ही समझना।

जैनसमाज में सम्यग्दर्शन पर बहुत कुछ लिखा गया है परन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन के दुर्लभपने से उसकी अनुभवसिद्ध रीति कम देखने में आती है। सम्यग्दर्शन के लिये अनेक सम्प्रदायों में हमने अनेक मुमुक्षु जीवों को गम्भीरता से प्रयास करते देखा है। लेकिन उनको उचित मार्गदर्शन न मिलने से वे जीव कुछ काल तक भरपूर प्रयास करने के बाद हताश हो जाते हैं। तब ऐसे लोग निराशा

से घिर जाते हैं और कई जीव उसको अपनी नियति के ऊपर छोड़ देते हैं। कई लोग अपनी पसन्द की साम्प्रदायिक क्रियाओं में या क्रम में लग जाते हैं। कई लोग आश्रम, मन्दिर, स्थानक, तीर्थ या साम्प्रदायिक व्यवस्था के कामों में लग जाते हैं। वे काम बुरे नहीं हैं परन्तु आत्मा का लक्ष्य भूलकर उसको ही धर्म मानना ग़लत है। कई लोग देव को प्रसन्न करने की आराधना में लग जाते हैं और उसको ही धर्म मानने लगते हैं। कई लोग देव को प्रसन्न करने की आराधना से उत्पन्न हुई कोई मामूली सिद्धि में ही अटक जाते हैं और उसको ही धर्म और धर्म की प्रभावना मानते हैं; उससे अपना अहंकार भी पुष्ट करते हैं। कई लोग प्राप्त हुए क्षयोपशम ज्ञान तक ही रुक जाते हैं और उससे ही अपना अहंकार पुष्ट करते हैं। कई लोग ध्यान (आर्तध्यान) के पीछे पड़ जाते हैं अर्थात् ध्यान से ही सम्यग्दर्शन मिलेगा ऐसा मानकर आत्मा का अनुभव न होने के कारण देहादिक का ही ध्यान करते रहते हैं, जिसे शास्त्र में आर्तध्यान कहा है और उसे तिर्यंच गति का कारण माना है। कई लोग कोरी भक्ति में लग जाते हैं।

यथार्थ भक्ति वह होती है, जिसमें मुमुक्षु जीव भगवान के या सत्पुरुष के वचनों पर चलने का प्रयास करता है न कि भगवान या सत्पुरुष की स्तुति करके स्वयं के कल्याण का उत्तरदायित्व उनके सिर पर मढ़ देता है।

ऐसा करने के पीछे कई कारण हो सकते हैं। जैसे कि – जिसे संसार से लगाव है उसे पुरुषार्थ संसार में लगाना है और स्वयं के आत्मकल्याण की जिम्मेदारी भगवान/सत्पुरुष के ऊपर रखनी है अथवा संसार में जैसे अन्य वस्तुएँ चापलूसी करके पाते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन को भी भगवान या सत्पुरुष की कोरी (बिना आज्ञा पाले हुए) भक्ति करके पा लेना है अथवा संसारी को जैसे हर चीज दिखावे या आडम्बर के लिये चाहिये, उसी तरह से सम्यग्दर्शन भी दिखावे के लिये चाहिये न कि मुक्ति के लिये। अन्य कई सांसारिक कारण भी हो सकते हैं। अन्य कई लोग संसार के आकर्षण से, धर्म के नाम पर एकत्रित की हुई धन–दौलत और उसके प्रपंच में ही फँस जाते हैं।

इस तरह से अनेक लोग सम्यग्दर्शन की बात तो करते हैं परन्तु वे मात्र व्यवहार सम्यग्दर्शन को ही वास्तविक/सच्चा सम्यग्दर्शन मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं और अपने आप को वे मोक्षमार्गी समझने लगते हैं। इसी रीति से अनादि से हमने स्वयं को ठगा है। कब तक ठगना है अपने आपको? इस बात का विचार करके स्वयं के ऊपर करुणा करके अर्थात् स्वदया करके अनादि से दुःखमय संसार में भटकते हुए अपने आपको इस संसार से छुड़ाना है, मुक्त कराना है। इसी कारण से निश्चय सम्यग्दर्शन आवश्यक है।

समग्र रूप से शास्त्रों के अध्ययन के अभाव के कारण वस्तुस्वरूप को समझने में कई लोगों को दिक्क़त होती हैं। इसलिये शास्त्रों को समग्रता से नहीं जाननेवाले लोग किसी के भी शब्दों को पकड़कर उसका हार्द समझे बिना मात्र शाब्दिक अर्थघटन करते हैं, मगर वे उसका यथार्थ अर्थग्रहण नहीं कर पाते। अर्थात् वे इस प्रकार से हार्द समझे बिना शाब्दिक अर्थग्रहण करके एकान्तरूप से परिवर्तित होते हैं या विकृतरूप से भी परिवर्तित होते हैं। लेकिन जताते ऐसा हैं कि हमने सब जान लिया है और ऐसे ही गुमान में वे अन्य किसी की सत्य बात भी, उनके मत के अनुकूल न होने से, नहीं सुनते। जब वे हार्द समझे बिना अपने शाब्दिक अर्थग्रहण के अनुसार पकड़ी हुई बात पर अड़े रहते हैं, तब उनको वह बात आग्रही बनाती है और आगे चलकर वह आग्रह हठाग्रह, दुराग्रह और एकान्तरूप आग्रह बनता है।

जैसे दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय यानी 'पर्यायरहित द्रव्य' इस कथन का हार्द समझे बिना शाब्दिक अर्थ ग्रहण करके अभेद द्रव्य में से पर्याय को भौतिक रीति से निकालने की चेष्टा करना। यह तो सबसे बड़ी ग़लती होगी क्योंकि अभेद और अखण्ड वस्तु/द्रव्य में से अगर एक अंश भी निकालने की चेष्टा की तो पूर्ण वस्तु का ही लोप हो जायेगा। अभेद नय ही सम्यग्दर्शन के लिये कार्यकारी है। परन्तु वर्तमान में मुमुक्षु जीव कोई न कोई भेद मानकर, भेद में ही रमते हैं और इसी में वस्तु का निर्णय करने की चेष्टा करते हैं, इससे उन्हें अभेद वस्तु की प्राप्ति (अनुभव) होना ही असम्भव है। इस कमी की पूर्ति हेतु हम इस पुस्तक में वस्तु का भेदाभेद स्वरूप समझाने का प्रयास करेंगे। वह अभेद अनुभूति में आनेवाली वस्तु (द्रव्य) को किस प्रकार पाना चाहिये यह हम अगले कुछ प्रकरणों में समझाने का प्रयास करेंगे। यह सब अनन्तकाल के बाद आनेवाले हुण्डावसर्पिणी पंचमकाल का ही प्रभाव है कि भगवान के मात्र २६०० वर्ष पश्चात् ही ज्यादातर सम्प्रदायों में धर्म मात्र बाहरी स्वरूप से ही बचा है और धर्म के प्राण अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन की बात बहुत कम लोग ही करते या मानते हैं।

सम्यग्दर्शन के लिए भेदज्ञान आवश्यक है। अर्थात् पुद्गल और उसके लक्ष्य से होनेवाले भावों से आत्मा का भेदज्ञान ज़रूरी है। द्रव्य-गुण-पर्याय की समझ आवश्यक न होने पर भी, जिसने उस द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप वस्तुव्यवस्था अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप वस्तुव्यवस्था को विपरीतरूप से धारण कीया हो तो उसके लिये यहाँ प्रथम द्रव्य-गुण-पर्याय रूप और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूपी वस्तुव्यवस्था सम्यक् रूप से बताते हैं। उसपर विचार करना आवश्यक है और सर्वप्रथम वह जैसा है वैसा ही स्वीकार करना परम आवश्यक है क्योंकि जैनसमाज में एक वर्ग

ऐसा भी है कि जिसने वस्तुव्यवस्था को ही विकृत कर दिया है। वे द्रव्य और पर्याय को इस हद तक अलग मानते हैं कि मानो वे दो अलग द्रव्य हों! वे एक अभेद द्रव्य में कल्पना करके बताये हुए गुण-पर्याय को भी भिन्न समझते हैं। आचार्योंने द्रव्य का सम्यक् स्वरूप समझाने के लिये द्रव्य को गुण और पर्याय से भिन्न बताया है। इसे वे वास्तविक तौर पर भिन्न समझते हैं, द्रव्य और पर्याय को दो भाव न मानकर वे उन्हें दो भागरूपी मानने तक की प्ररूपणा करते हैं और आगे उसमें भी सामान्य-विशेष ऐसे दो भाग की कल्पना करते हैं। इस प्रकार वस्तुव्यवस्था को ही विकृत रूप से धारण करके तथा उसकी विकृत प्ररूपणा करके वे स्वयं संसार का अन्त करनेवाले धर्म से तो दूर रहते ही हैं और जाने-अनजाने अनेक लोगों को भी संसार के अन्त से दूर रखते हैं। यह बात अत्यन्त करुणा उपजानेवाली है इसलिये यहाँ प्रथम हम वस्तुव्यवस्था पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं।

उसके पश्चात् हम निश्चय सम्यग्दर्शन की विधि भी समझाने का प्रयास करेंगे। मगर कोई ऐसा न समझे कि हम तनिक भी व्यवहार धर्म के ख़िलाफ़ हैं। वह आचरण (व्यवहार धर्म) जो हमें निश्चय धर्म की ओर ले जावे वह सब 'व्यवहार धर्म' संज्ञा पाने का अधिकारी है। जिनशासन की अनेकान्तमय वस्तुव्यवस्था ऐसी है, यह हमें कभी नहीं भूलना चाहिये। यही विधि है तत्त्व के निर्णय की जो हम आगे समझाने का प्रयास करेंगे। अब हम आगे द्रव्य-गुण की यथार्थ व्यवस्था समझाने का प्रयास करते हैं।

- हम लोग निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि न समझने के कारण से ही अनादि से संसार में रुल रहे हैं। वर्तमान में भी समाज की प्राय: यही स्थिति दिख रही है।
- प्रश्न: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय और व्यवहार के योग्य संयोजन में कितना निश्चय आवश्यक है?

  उत्तर: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझना अति आवश्यक है। शुद्धात्मा की अनुभूति से ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। यही सम्यग्दर्शन का सही और अनुभवसिद्ध मानक है। इसे समझना और ऐसा लक्ष्य तय करना अत्यन्त आवश्यक है।

४

द्रव्य–गुण व्यवस्था

संक्षेप में कहना हो तो कहेंगे कि द्रव्य, गुणों का समूह है और उस द्रव्य की वर्तमान अवस्था को पर्याय कहा जाता है।

प्रश्न :– गुणों का समूह अर्थात् गेहूँ की थैली समान या दूसरे किसी प्रकार?

उत्तर :– वह गेहूँ की थैली जैसा नहीं। जैसे थैली में अलग–अलग गेहूँ है उसी प्रकार द्रव्य में गुण नहीं हैं, परन्तु वे गुण द्रव्य में, शक्कर में मिठास की तरह हैं अर्थात् द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में (क्षेत्र में), उसके प्रत्येक प्रदेश में (प्रदेश अर्थात् क्षेत्र का छोटे से छोटा अंश) हैं। द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में, उस द्रव्य के समस्त (अनन्तानन्त) गुण रहते हैं। दूसरी प्रकार से ऐसा कहा जा सकता है कि एक अखण्ड द्रव्य में रही हुई अनन्तानन्त विशेषताएँ उस द्रव्य के अनन्तानन्त गुण रूप से वर्णित की गयी हैं। उन सब विशेषताओं के समूह को द्रव्य (वस्तु) रूप से बताया है, वह वस्तु (द्रव्य) तो अभेद–एक ही है परन्तु उसकी विशेषताओं को दर्शाने के लिये ही उसमें गुणभेद किया है, अन्यथा वहाँ कोई क्षेत्रभेद रूपी गुणभेद है ही नहीं। वहाँ तो मात्र एक वस्तु में रही हुई अनन्तानन्त विशेषताओं को बताने के लिये ही गुणभेद का सहारा लिया है, वह वस्तु में वास्तविक कोई भेद है ही नहीं, क्योंकि वस्तु अभेद ही है। इसलिये उसे कथंचित् भेदाभेदरूप बताया है अर्थात् वहाँ सर्वथा न तो भेद है और न ही अभेद है। वस्तु अपेक्षा से अभेद है और गुणों की अपेक्षा से भेद है। इसलिये उसे कथंचित् भेद–अभेदरूप बताया है।

इसका अर्थ यह है कि उस वस्तु में एक ही गुण है ऐसा नहीं परन्तु उस वस्तु में अनन्तानन्त विशेषताएँ अर्थात् गुण हैं। इस अपेक्षा से ही भेद कहलाता है परन्तु वहाँ वस्तु में कुछ भी वास्तविक भेद नहीं, इस अपेक्षा से अभेद ही कहलाती है, इसलिये अभेद नय को ही कार्यकारी बताया है और भेद नय मात्र वस्तु का स्वरूप समझाने के लिये बताया गया है। भेद व्यवहार मात्र ही है क्योंकि निश्चय से वस्तु एक अभेद ही है।

यहाँ हम **पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध** के (पण्डित देवकीनन्दनजी नायक कृत हिन्दी टीका के आधार से) श्लोकों पर विचार करेंगे।

श्लोक ३५ : अन्वयार्थ :– 'दूसरे पक्ष में अर्थात् अखण्ड अनेक प्रदेशी वस्तु मानने में निश्चय से जो गुणों का परिणमन होता है, वह द्रव्य के सर्व प्रदेशों में समान होता है, और वह

ठीक है क्योंकि हिलाया गया एक बाँस अपने सभी पर्वों में, एक–एक गाँठ में हिल जाता है।' इस प्रकार द्रव्य अखण्ड है। सभी प्रदेशों में रहे हुए सारे गुण सभी प्रदेशों में परिणमन करते हैं।

श्लोक ३९ : अन्वयार्थ :– 'इन गुणों का आत्मा ही द्रव्य है क्योंकि ये गुण देश से (द्रव्य से) भिन्न सत्तावाले नहीं हैं। निश्चय से देश में (द्रव्य में) विशेष (गुण) नहीं रहते परन्तु वे विशेष (गुण) द्वारा ही देश (द्रव्य) जैसा गुणमय ज्ञात होते हैं।' अर्थात् जो गुण है, वही द्रव्य है। दूसरा कोई द्रव्य नहीं है।

श्लोक ४५ : अन्वयार्थ :– 'इसलिये यही निर्दोष कथन है कि इस निर्विशेष–निर्गुण द्रव्य के विशेष ही गुण कहलाते हैं और वे प्रति क्षण कथंचित् परिणमनशील हैं।'

अर्थात् द्रव्य में गुणों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। और वे सभी गुण शाश्वत (टिकते) और परिणमनशील हैं अर्थात् जो टिकते हैं वही टिककर परिणमते भी हैं, वे कूटस्थ नहीं हैं। कथंचित् का अर्थ यह है कि जो टिकता है वही परिणमता है मात्र अपेक्षा से टिकते और परिणमन कहते हैं। अर्थात् जो टिकता है उसका वर्तमान–वही उसका परिणमन और उसमें कोई वास्तविक भेद न होने से उसे कथंचित् कहा है।

श्लोक १०५ : अन्वयार्थ :– 'प्रकट है अर्थ जिसका ऐसे गुणों के लक्षण सम्बन्धी पदों का सारांश यह है कि समान हैं प्रदेश जिनके ऐसे एक साथ रहनेवाले जो विशेष हैं, वे ही (विशेष) ज्ञान द्वारा भिन्न करने पर क्रम से श्रेणीकृत गुण जानना।'

भावार्थ – 'अनन्त गुणों के समुदाय का नाम द्रव्य है। द्रव्य के सम्पूर्ण प्रदेशों में जैसे एक विवक्षित गुण रहता है, उसी तरह द्रव्य के सब गुण भी उस द्रव्य के उन्हीं सब प्रदेशों में युगपत (एक साथ) रहते हैं। इसलिये द्रव्य के सभी गुण समान प्रदेशवाले अर्थात् अभिन्न हैं। वस्तुत: इनमें कोई भेद नहीं तथापि श्रुतज्ञानान्तर्गत नय ज्ञान से विभक्त (भिन्न–भिन्न) करने पर उनकी भिन्न–भिन्न श्रेणियाँ हो जाती हैं क्योंकि वस्तु में खण्ड कल्पना नय ज्ञान के कारण से ही होती है।' अर्थात् वस्तु अभेद ही है। उसमें भेद की कल्पना नय ज्ञान से ही सम्भव है।

श्लोक ४९१ : अन्वयार्थ :– '....इन सब गुणों की एक ही सत्ता होने से इन सब गुणों में अखण्डितपना प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।'

श्लोक ४९२ : अन्वयार्थ :– ''इसलिये यह कथन निर्दोष है कि – यद्यपि भाव की अपेक्षा से सत् अखण्डित एक है, तथापि वह सारा कथन 'विवक्षावश से है।' 'सर्वथा' उसी नय से नहीं।''

भावार्थ :– ''इसलिये हमारा यह कहना ठीक है कि भाव की अपेक्षा से भी 'सत्' एक

और अखण्डित है तथा ऐसा कहना वह भी नय विशेष की विवक्षा से है परन्तु सर्वथा नहीं।'' अर्थात् अभेद नय से है, भेद नय से नहीं।

श्लोक १४३ : अन्वयार्थ :- 'सत्ता, सत्त्व अथवा सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये आठ शब्द सामान्य रूप से एक द्रव्य रूपी अर्थ के ही वाचक हैं।'

इसलिये यदि ऐसा कहने में आये कि एक सत्ता के दो सत् हैं या तीन सत् हैं या चार सत् हैं या अनन्त सत् हैं तो यह कथन भेद नय की अपेक्षा से समझना। क्योंकि सत्ता और सत् ये दोनों एकार्थवाचक ही हैं, तथापि भेद की अपेक्षा से एक सत्ता के दो, तीन, चार, अथवा अनन्त भेद करके भेद नय से कथन किया जा सकता है परन्तु वास्तव में (वस्तुत:) तो सत् कहो या सत्ता कहो, वह एक, अभेद ही है अर्थात् जो भी भेद किये हैं, वे तो मात्र वस्तु को समझाने के लिये ही हैं, भेद व्यवहार मात्र ही हैं।

श्लोक ५२४ : अन्वयार्थ :- 'अनन्त धर्मवाले एक धर्मी के विषय में आस्तिक्य बुद्धि होना, वही इस व्यवहार नय का फल है...' अर्थात् व्यवहार से भेद मात्र आस्तिक्य बुद्धि होने के लिये ही है अन्यथा नहीं।

भावार्थ :- ''पूर्वोक्त प्रकार के व्यवहार को मानने का प्रयोजन यह है कि 'वस्तु के अनन्त धर्म होने पर भी वह एक अखण्ड वस्तु है' ऐसी प्रतीति करना, अर्थात् गुण-गुणी अभेद होने से गुणों को जानने पर गुणी की सुप्रतीत (पहचान) जीव को हो तो यह व्यवहार नय का यथार्थ फल आया कहलाता है। व्यवहार के आश्रय का फल विकल्प-राग-द्वेष है, इसलिये भेद का आश्रय न करके अर्थात् इस नय द्वारा कहे हुए गुण के भेद में न रुककर अभेद द्रव्य की प्रतीति करना वह इस नय के ज्ञान का फल है, यह फल न आवे तो वह नय ज्ञान यथार्थ नहीं है।''

श्लोक ६३४-६३५ : अन्वयार्थ :- 'निश्चय से व्यवहार नय अभूतार्थ है (अर्थात् सम्यग्दर्शन के काल में अर्थात् आत्मा की अभेद अनुभूति के काल में कार्यकारी नहीं है) उसमें यह कारण है कि यहाँ सूत्र में जो द्रव्य को गुणवाला कहा है, उसका अर्थ करने से यहाँ पर गुण अलग है, द्रव्य अलग है तथा गुण के योग से वह द्रव्य गुणवाला कहलाता है ऐसा अर्थ सिद्ध होता है (ज्ञात होता है) परन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है, न उभय है, न इन दोनों का योग है परन्तु केवल अद्वैत सत् (अभेद द्रव्य) ही है तथा उसी सत् को चाहे गुण मानो अथवा द्रव्य मानो, परन्तु वह भिन्न नहीं अर्थात् निश्चय से अभिन्न ही है।'

भावार्थ :- ''व्यवहार नय से 'गुणवद्द्रव्यं' गुणवाले को द्रव्य कहने से ऐसा बोध हो सकता है कि गुण और द्रव्य भिन्न-भिन्न वस्तु है तथा गुण के योग से द्रव्य, द्रव्य कहलाता है, परन्तु

ऐसा अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है, न दोनों हैं न दोनों का योग है परन्तु निश्चय नय से केवल एक अद्वैत, अभिन्न, अखण्ड सत् ही है उसे ही, चाहे गुण कहो, चाहे द्रव्य कहो अथवा जो चाहो वह कहो! सारांश - ''

श्लोक ६३६ : अन्वयार्थ :- 'इसलिये यह न्याय से सिद्ध हुआ कि व्यवहार नय है तो भी वह अभूतार्थ है तथा वास्तव में उसका अनुभव करनेवाले जो मिथ्या दृष्टि हैं वे भी यहाँ खण्डित ही हैं।' अर्थात् जो द्रव्य को अभेद-अखण्ड अनुभव नहीं करते, उन्हें नियम से भ्रमयुक्त मिथ्यादृष्टि मानना चाहिये।

भावार्थ :- ''व्यवहार नय, उक्त प्रकार के भेद को विषय बनाता है क्योंकि विधिपूर्वक भेद करना ही 'व्यवहार' शब्द का अर्थ है; इसलिये सिद्ध होता है कि व्यवहार नय अभूतार्थ ही है। - परमार्थभूत नहीं तथा वास्तव में उसका अनुभव करनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, वे भी नष्ट हो चुके (अर्थात् वे अनन्त संसारी हो चुके)....'' अर्थात् जो भेद में ही रमते हों और भेद की ही प्ररूपणा करते हों उन्हें कभी अभेद द्रव्य अनुभव में आनेवाला ही नहीं है। इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं - नष्ट हो चुके समान हैं।

श्लोक ६३७ : अन्वयार्थ :- 'शंकाकार कहता है कि यदि ऐसा कहो तो नियम से निश्चयपूर्वक निश्चय नय ही आदर करने योग्य मानना चाहिये क्योंकि अकिंचित्कारी होने से अपरमार्थभूत व्यवहार नय से क्या प्रयोजन है? यदि ऐसा कहो तो' - अर्थात् शंकाकार एकान्त से निश्चय नय ही मानना चाहिये ऐसा कहता है। उत्तर -

श्लोक ६३८-६३९ : अन्वयार्थ :- 'इस प्रकार कहना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ आगे द्विप्रतिपत्ति होने पर तथा संशय की आपत्ति आने पर और वस्तु का विचार करने में बलपूर्वक व्यवहार नय प्रवृत्त होता है अथवा जो ज्ञान दोनों नयों का अवलम्बन करनेवाला है, वही प्रमाण कहलाता है; इसलिये प्रसंगवश वह व्यवहार नय किसी के लिये ऊपर के (ऊपर बताये हुए) कार्यों के लिये आश्रय करने योग्य है परन्तु सविकल्प ज्ञानवालों की भाँति निर्विकल्प ज्ञानवालों को वह श्रेयभूत नहीं है।' अर्थात् वह मिथ्यात्वी को तत्त्व समझने/समझाने के लिये आश्रय करने योग्य है परन्तु सम्यग्दृष्टियों को अनुभव काल में उसका आश्रय नहीं होता अर्थात् वह श्रेयभूत नहीं है। क्योंकि जो विकल्प है वह व्यवहार है। जो निर्विकल्प है वही निश्चय है। अब हम आगे द्रव्य-पर्याय की यथार्थ व्यवस्था समझाने का प्रयास करते हैं।

५

द्रव्य-पर्याय व्यवस्था

द्रव्य और गुण की व्यवस्था देखी, अब हम पर्याय के विषय में विचार करेंगे।

प्रश्न :- गुणों के समुदाय रूप अभेद द्रव्य (वस्तु) है तो उसमें पर्याय कहाँ रहती है?

उत्तर :- पर्याय द्रव्य के सारे प्रदेश में (पूर्ण क्षेत्र में) रहती है क्योंकि गुणों के समूह रूप अभेद द्रव्य का जो वर्तमान है अर्थात् उसकी जो वर्तमान अवस्था है (परिणमन है) उसे ही उस द्रव्य की पर्याय कहने में आती है और उस अभेद पर्याय में ही विशेषताओं की अपेक्षा से अर्थात् गुणों की अपेक्षा से उसमें (अभेद पर्याय में) ही भेद करके उसे गुणों की पर्याय कहा जाता है। इस कारण कहा जा सकता है कि जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र गुणों का है और वह तथा उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है; इसलिये ही द्रव्य-पर्याय को व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध कहा जाता है।

यही बात **प्रवचनसार** गाथा ११४ में भी कही है कि 'द्रव्यार्थिक (नय) द्वारा सम्पूर्ण (अर्थात् पूर्ण द्रव्य) द्रव्य है; और फिर पर्यायार्थिक (नय) द्वारा वह (द्रव्य) अन्य-अन्य है क्योंकि उस काल में तन्मय होने के कारण (द्रव्य पर्यायों से) अनन्य है।'

प्रश्न :- तो द्रव्य और पर्याय के प्रदेश भिन्न हैं ऐसा किस प्रकार कहा जा सकता है?

उत्तर :- भेदविवक्षा में जब एक अभेद-अखण्ड द्रव्य में भेद उत्पन्न करके समझाया जाता है तब द्रव्य और पर्याय, ऐसे वस्तु के 'दो भावों' को अपने-अपने भाव की अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, परन्तु वास्तव में वहाँ कोई भिन्नता ही नहीं है, वे दोनों अभेद ही हैं, तन्मय ही हैं अर्थात् एक ही आकाश प्रदेशों को अवगाह किए हुए हैं। जैसे स्वामी **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** गाथा २७७ में बताया है कि 'वस्तु जिस काल में जिस स्वभाव से परिणमित होती है, उस काल में उस परिणाम से तन्मय होती है...' और **पंचास्तिकाय संग्रह** गाथा ९ में भी बताया है कि 'उन-उन सदभाव पर्यायों को जो द्रवता है-प्राप्त होता है, उसे सर्वज्ञों द्वारा द्रव्य कहा जाता है क्योंकि वह सत्ता से (अर्थात् द्रव्य से) अनन्यभूत है।'

इस अभेद पर्याय को, आकार की अपेक्षा से व्यंजन पर्याय अथवा द्रव्य पर्याय कहा जाता है और उसी अभेद पर्याय को विशेषताओं की अपेक्षा से गुण पर्याय अथवा अर्थ पर्याय भी कहा

जाता है। यहाँ समझना यह है कि जो गुणों का समूह द्रव्य है, उसका कोई न कोई आकार अवश्य होगा और उसका कोई न कोई रूप और कार्य भी अवश्य होगा ही अर्थात् उसमें जो आकार है, उसे उस द्रव्य की द्रव्य पर्याय अथवा व्यंजन पर्याय कहा जाता है और जो उसका वर्तमान कार्य है (परिणाम है=अवस्था है), उसे उस द्रव्य की गुण पर्याय अथवा अर्थ पर्याय कहा जाता है।

जैसा हमने पहले देखा, वैसा भेदरूप व्यवहार, अभूतार्थ है; वह मात्र तत्त्व समझने अथवा समझाने के लिये प्रयोग में लिया जाता है, अन्यथा वह कार्यकारी नहीं है। वस्तु का स्वरूप तो अभेद ही है और वही भूतार्थ है। इसी लिये सर्व कथन अपेक्षा से ग्रहण करने योग्य है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है अर्थात् उसे जो कोई एकान्त से ग्रहण करे अथवा समझावे तो वह मिथ्यादृष्टि है और वह नष्ट हो चुका है अर्थात् यह मनुष्य भव हार चुका है। (पीछे बतायी गाथा ६३६ देखना)

प्रत्येक वस्तु का कार्य वस्तु से अभेद होता है। उसे ही उसका उपादान रूप परिणमन कहा जाता है। उस कार्य को अथवा अवस्था को, वर्तमान समय अपेक्षा से वर्तमान पर्याय कहा जाता है। भेद नय से ऐसा कहा जा सकता है कि - पर्याय द्रव्य में से आती है, और द्रव्य में ही जाती है क्योंकि कोई भी द्रव्य (वस्तु) का कार्य उससे अभेद ही होता है, तथापि भेद नय से ऐसा कथन किया जा सकता है कि वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं। द्रव्य और पर्याय को कथंचित् भिन्न कहा जाता है वह इसी अपेक्षा से।

कोई भी द्रव्य है वह नित्य है परन्तु कूटस्थ नित्य नहीं है क्योंकि यदि उस वस्तु का कोई भी कार्य ही नहीं मानने में आये तो उस वस्तु का ही अभाव हो जायेगा, इसलिये प्रत्येक नित्य वस्तु का, जो वर्तमान कार्य है उसे ही उसकी पर्याय कहने में आती है और ऐसी भूत-भविष्य और वर्तमान की पर्यायों का समूह ही द्रव्य (वस्तु) है। अर्थात् अनुस्यूति (continuity) से रचित पर्यायों का समूह, वही द्रव्य है।

वस्तु का ऐसा स्वभाव है कि वह स्थायी रहकर परिवर्तित होती है। इसलिये उस वस्तु में एक स्थिरता भाव है और एक परिवर्तन का भाव है, उसमें से जो स्थिरता भाव है उसे नित्य अर्थात् द्रव्य कहा जाता है, त्रिकाली ध्रुव कहा जाता है, और जो परिवर्तन का भाव है, उसे पर्याय कहा जाता है। लेकिन वस्तु में एक स्थिरता भाग और एक परिवर्तन भाग ऐसे दो भाग अर्थात् विभाग वास्तव में नहीं हैं। यदि ऐसे कोई विभाग मानने में आयेंगे तो वस्तु एक-अखण्ड-अभेद

न रहकर दो और भिन्न हो जायेगी फिर तो द्रव्य का एक भाग कूटस्थ और दूसरा भाग क्षणिक हो जायेगा। अर्थात् द्रव्य कूटस्थ और क्षणिक हो जायेगा। ऐसा होने से तो वस्तु की सिद्धि ही नहीं होगी क्योंकि ऊपर बताये अनुसार कोई भी द्रव्य कार्य बिना कूटस्थ हुए नहीं होता और कोई द्रव्य क्षणिक हो तो उस द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा, इससे तो ऐसे दो दोष वस्तुव्यवस्था न समझने से आ जायेंगे और वस्तु की सिद्धि ही नहीं होगी।

इसलिये प्रथम बताये अनुसार वस्तु का जो वर्तमान है अर्थात् उसकी जो अवस्था है, उसे ही पर्याय समझना अत्यन्त आवश्यक है। जब ऐसा कहा जाये कि पर्याय तो द्रव्य में से ही आती है और द्रव्य में ही जाती है तो ऐसे कथन को ऊपर बताये अनुसार अपेक्षा से मात्र 'व्यवहार' अर्थात् उपचार - कथन मात्र समझना, वास्तविक नहीं क्योंकि पर्याय द्रव्य का ही वर्तमान रूप है इसलिये द्रव्य से अभेद है। अब आगे हम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की यथार्थ व्यवस्था समझाने का प्रयास करते हैं।

- निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि हमें कहीं प्रवास में जाना होता है तब हम सिर्फ़ नक़्शा नहीं देखते। एक बार नक़्शे को समझ लेने के बाद हम प्रवास शुरु कर देते हैं। अगर प्रवास शुरु नहीं किया तो नक़्शा देखने का मक़्सद पूरा नहीं होगा। नक़्शा निश्चय है और प्रवास व्यवहार।
- वर्तमान में कई लोग भ्रम वश अध्यात्म के नाम पर अकेले निश्चय का ही प्रतिपादन करते हैं और उसी से अनेकों की ज़िन्दगियों को बर्बाद करके उन्हें अनन्तकाल तक संसार में रुलाने के लिये ज़िम्मेदार हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।
- यह वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणी कलिकाल का ही प्रभाव है कि कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या का ही विरोध करते हैं और अपने ही मोक्षमार्ग-प्रवेश में बाधा बनते हैं। वे जीवनभर बाह्यचारित्र की आराधना करके भी मोक्षमार्ग से वंचित रह जाते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

६

उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप व्यवस्था

अब उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से भी यही भाव समझते हैं। जो उत्पाद-व्यय है, वह पर्याय है और जो ध्रुव है वह द्रव्य है अर्थात् जो द्रव्य है, वह नित्य है और उससे ही 'यह वही है' ऐसा निर्णय होता है इसलिये उसे ही ध्रुवभाव अथवा अपरिणामी भाव भी कहा जाता है।

जैनधर्म में ध्रुवभाव एकान्त अपरिणामी अर्थात् कूटस्थ नहीं परन्तु परिणमनशील वस्तु है। जैसे स्वामी **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, गाथा २२६ में बताया है कि - 'और एकान्त स्वरूप द्रव्य है, वह लेशमात्र भी कार्य नहीं करता तथा जो कार्य नहीं करे, वह द्रव्य ही कैसा? वह तो शून्य रूप जैसा है।' भावार्थ - 'जो अर्थक्रिया रूप हो, उसे ही परमार्थ वस्तु कहा है परन्तु जो अर्थक्रिया रूप नहीं, वह तो आकाश के फूल की भाँति शून्य रूप है।' अर्थात् जो अपने कार्यसहित की वस्तु है, उसका जो स्थिरता भाव है, वही ध्रुव भाव अथवा अपरिणामी भाव है और उस वस्तु का जो कार्य है अर्थात् उसका जो वर्तमान भाव अथवा उसकी जो वर्तमान अवस्था है, उसे ही उसका परिणमता भाव कहा जाता है, उसे ही उत्पाद-व्यय कहा जाता है। वह इस प्रकार कि पुरानी पर्याय का क्षय और नयी पर्याय का उत्पाद, यह उत्पाद-व्यय किसी नयी वस्तु के उत्पाद-व्यय रूप नहीं, वे तो मात्र एक वस्तु के (द्रव्य के) एक समय पहले के रूप का व्यय और वर्तमान समय के रूप का उत्पाद ही है अर्थात् एक-अभेद-अखण्ड-अभिन्न वस्तु का समय अपेक्षा से कार्य (परिणमन), वही उसकी उत्पाद-व्यय रूप पर्याय कही जाती है।

यहाँ कोई वास्तविक उत्पाद-व्यय अथवा आना-जाना नहीं है। परन्तु वस्तु नित्य परिणमती रहती है अर्थात् अनुस्युति से रचित पर्यायों का समूह, वही वस्तु और उसमें समय अपेक्षा से उत्पाद-व्यय कहा जाता है अर्थात् उसी वस्तु को वर्तमान से देखने पर उसे उस द्रव्य की वर्तमान अवस्था अर्थात् पर्याय कहा जाता है। वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रुव ऐसे वास्तविक भेद न होने पर भी, मात्र 'व्यवहार' से ही, भेद नय की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है। उसका फल मात्र वस्तु का स्वरूप समझाने तक ही है, न कि भेद में ही अटक जाने के लिये। भेद में ही अटकने से वस्तु का अभेद स्वरूप जो स्वात्मानुभूति के लिये कार्यकारी है पकड़ में नहीं आता। अब हम आगे, भेदाभेद स्वरूप किस अपेक्षा से प्राप्त होता है, उसकी यथार्थ विधि समझाने का प्रयास करते हैं।

७

दृष्टि भेद से भेद

कई लोग संसारी जीव को एकान्त अशुद्ध मानते हैं। वे पर्यायदृष्टि जीव कहे जाते हैं। वे लोग चतुर्थ गुणस्थानक में शुद्धात्मा के अनुभव की बात भी नहीं मानते। संसारी जीव शुद्ध नय/शुद्ध द्रव्यार्थिक नय अपेक्षा से परम शुद्ध है अर्थात् त्रिकाल शुद्ध है, यह बात कई शास्त्रों में बताई है। सम्यग्दर्शन प्राप्ति के समय जो शुद्धात्मा का अनुभव होता है, वह इस त्रिकाल शुद्धात्मा का अनुभव होता है न कि आत्मा के मध्य के आठ रुचक प्रदेशों का। उस शुद्धात्मा को कारण परमात्मा या कारण समयसार भी कहते हैं। वह कारण परमात्मा त्रिकाल शुद्ध है, जिसके बल/ अनुभव से ही कार्य परमात्मत्व प्राप्त होता है, यह बात हम आगे विस्तार से समझायेंगे। उसको यथायोग्य समझकर पहले उसका निर्णय करना अर्थात् भाव भासन करना है ताकि उसका अनुभव अपनी योग्यता अनुसार हो सके।

वस्तु में सर्व भेद दृष्टि अपेक्षा से हैं, न कि वास्तविक। जैसे कि-प्रमाणदृष्टि से देखने पर वस्तु द्रव्य-पर्यायमय है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप ही है, जबकि उसी वस्तु को पर्यायदृष्टि से देखें अर्थात् उसे मात्र उसके वर्तमान कार्य से, उसकी वर्तमान अवस्था से ही देखें तो वह मात्र उतनी ही है। पूर्ण द्रव्य उस समय मात्र वर्तमान अवस्थारूप ही ज्ञात होता है। उस वर्तमान अवस्था में ही पूर्ण द्रव्य छिपा हुआ है। यही भाव समयसार गाथा १३ में दर्शाया गया है अर्थात् वर्तमान, त्रिकाली का ही बना हुआ है। जैसे स्वामी **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** गाथा २६९ में बताया है कि 'जो नय वस्तु को मात्र विशेषरूप से (पर्याय से) अविनाभूत (अर्थात् पर्याय रहित द्रव्य को नहीं परन्तु पर्याय सहित द्रव्य को) सामान्यरूप को नाना प्रकार की युक्ति के बल से (अर्थात् पर्याय को गौण करके द्रव्य को) साधे वह द्रव्यार्थिक नय (द्रव्यदृष्टि) है।' भावार्थ- 'वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक है। विशेष के बिना सामान्य नहीं होता...' और गाथा २७० में भी बताया है कि 'जो नय अनेक प्रकार से सामान्य सहित सर्व विशेष को उसके साधन का जो लिंग (चिह्न) उसके वश से साधता है, वह पर्यायार्थिक नय (पर्यायदृष्टि) है।' भावार्थ-'सामान्य (द्रव्य) सहित उसके विशेषों (पर्यायों) को हेतुपूर्वक साधे (अर्थात् द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करे), वह पर्यायार्थिक नय (पर्यायदृष्टि) है....' अर्थात् पूर्ण द्रव्य जब मात्र वर्तमान अवस्थारूप-पर्यायरूप

ही ज्ञात होता है, उसे ही पर्यायदृष्टि कहा जाता है और उस समय उस वर्तमान पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य छिपा हुआ है।

इसलिये यदि ऐसा कहा जाये कि वर्तमान पर्याय का सम्यग्दर्शन के विषय में समावेश नहीं होता तो वहाँ समझना पड़ेगा कि किसी भी द्रव्य की वर्तमान पर्याय का लोप होते ही, पूर्ण द्रव्य का ही लोप हो जायेगा, वहाँ वस्तु का ही अभाव हो जायेगा। इसलिये दृष्टि के विषय में (सम्यग्दर्शन के विषय में) वर्तमान पर्याय का अभाव न करके, मात्र उसमें रही हुई अशुद्धि को (विभावभाव को) गौण करना ही ठीक है; जो हम आगे स्पष्ट करेंगे।

उसी पूर्ण वस्तु को यदि द्रव्यदृष्टि से देखें तो वह सम्पूर्ण वस्तु मात्र द्रव्यरूप ही–ध्रुवरूप ही–अपरिणामीरूप ही ज्ञात होती है, वहाँ पर्याय ज्ञात ही नहीं होती क्योंकि तब पर्याय उस द्रव्य में अन्तर्भूत हो जाती है। पर्याय गौण हो जाती है और पूर्ण वस्तु ध्रुवरूप–द्रव्यरूप ही ज्ञात होती है इसीलिये ही द्रव्यदृष्टि कार्यकारी है यह बात हम आगे विस्तार से बतायेंगे।

यहाँ बताये अनुसार द्रव्य–गुण–पर्याय और उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप वस्तुव्यवस्था सम्यक् रूप से न समझ में आयी हो अथवा तो विपरीतरूप से धारणा हुई हो तो, सर्वप्रथम उसे सम्यक् रूप से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उसके बिना सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) समझना ही अशक्य है। इसलिये अब हम यही भाव शास्त्र के आधार से भी दृढ़ करेंगे।

- निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि दोनों का यथायोग्य प्रमाण में सेवन करना। किसी एक का भी अधिक मात्रा में सेवन करने से या किसी एक का भी पक्ष रखने से वह निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि नहीं बन पायेगी।
- कई लोग नयाभास के कारण निश्चयनय से भ्रम वश स्वयं को शुद्ध मानते हुए अपने राग–द्वेष के लिये स्वयं को ज़िम्मेदार न मानते हुए कर्मों को ही ज़िम्मेदार मानते हैं और स्वछन्दता से जीते हैं। ऐसी ग़लत प्ररूपणा से वे अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

८

पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध की वस्तु व्यवस्था दर्शाते श्लोक

श्लोक ६७ : 'अन्वयार्थ :- ....जैसे परिणमनशील आत्मा यद्यपि ज्ञानगुणत्व से अवस्थित है तथापि ज्ञानगुण के तरतम (कम-ज़्यादाभाव) रूप अपनी अपेक्षा से अनवस्थित है।' अर्थात् आत्मा (द्रव्य) परिणमनशील है और फिर भी उसे टिकते भाव से = ज्ञानगुण से = ज्ञायकभाव से देखने में आवे तो वह वैसा का वैसा ही ज्ञात होता है अर्थात् अवस्थित है और यदि ज्ञान गुण की ही कम-ज़्यादा अवस्था से अर्थात् विकल्परूपी = ज्ञेयाकाररूपी अवस्था से देखने में आवे तो वह वैसा का वैसा नहीं रहता अर्थात् अनवस्थित ज्ञात होता है यही अनुक्रम से द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि है।

श्लोक ६८-६९ : अन्वयार्थ :- 'यदि ऊपर के कथन अनुसार गुण-गुणांश की (गुण-पर्याय की) कल्पना न मानने में आवे तो द्रव्य, गुणांश की भाँति निरंश हो जाता अथवा वह द्रव्य, कूटस्थ की भाँति नित्य हो जाता, परिणमनशील बिल्कुल नहीं होता अथवा क्षणिक हो जाता अथवा यदि तुम्हारा ऐसा अभिप्राय हो कि अनन्त अविभागी गुणांशों का मानना तो ठीक है परन्तु उन सब निरंश अंशों का परिणमन समान अर्थात् एक सरीखा होना चाहिये परन्तु तरतमरूप (तीव्र-मन्दरूप) नहीं होना चाहिये।'

भावार्थ :- 'द्रव्यार्थिक नय से वस्तु अवस्थित है तथा पर्यायार्थिक नय से वस्तु अनवस्थित है। इस प्रकार की (वस्तु में) प्रतीति होने के कारण से गुण-गुणांश कल्पना सार्थक है ऐसा पहले सिद्ध किया है, अब उसी (वस्तुस्वरूप) को दृढ़ करने के लिये व्यतिरेकरूप से ऊहापोह की जाती है कि-यदि गुण-गुणांश कल्पना मानने में न आवे तो द्रव्य के स्वरूप में चार अनिष्ट पक्ष उत्पन्न होने का प्रसंग आयेगा और वे इस प्रकार :- १. एक गुणांश की भाँति द्रव्य को निरंश मानना पड़ेगा। २. द्रव्य में मात्र गुणों का ही सद्भाव मानने से कीलक की भाँति उसे कूटस्थ अर्थात् अपरिणामी मानना पड़ेगा। ३. गुणों के अतिरिक्त मात्र गुणांश कल्पना ही मानने पर उसे (द्रव्य को) क्षणिक मानना पड़ेगा। तथा ४. गुणों के अनन्त अंश मानने पर भी उनका समान परिणमन मानना पड़ेगा परन्तु तरतम अंश रूप नहीं माना जा सकेगा।'

श्लोक ७० : अन्वयार्थ :- 'ऊपर के चारों ही पक्ष दोषयुक्त हैं क्योंकि वे प्रत्यक्षरूप से बाधित हैं और वे प्रत्यक्ष बाधित इसलिये हैं कि - उन पक्षों को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण

नहीं है तथा उनके साधक प्रमाण का अभाव इसलिये है कि – उन पक्षों की सिद्धि के लिये इस लोक में कोई दृष्टान्त भी नहीं मिल सकता।' अर्थात् द्रव्य को परिणामी सिद्ध किया और फिर भी उसे टिकते भाव (स्थिरता के भाव) की अपेक्षा से अपरिणामी भी कहा जाता है परन्तु एकान्त से नहीं क्योंकि जिनसिद्धान्त में अनेकान्त की ही जय होती है, एकान्त की नहीं।

श्लोक ८३-८४ : अन्वयार्थ :- 'जैसे आम के फल में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों पुद्गल द्रव्य के गुण अपने-अपने लक्षण से भिन्न हैं तथा निश्चय से वे सब अखण्ड देशी (द्रव्य) होने से किसी भी प्रकार से पृथक् भी नहीं किये जा सकते। वास्तव में जैसे विशेषरूप होने के कारण वे पर्यायदृष्टि से (भेद विवक्षा से) देश, देशांश, गुण और गुणांश रूप स्वचतुष्टय कहा जा सकता है तथा सामान्यरूप की अपेक्षा से अर्थात् द्रव्यार्थिकदृष्टि से (अभेद विवक्षा से) वे ही सब एक आलाप से एक अखण्ड द्रव्य कहे जा सकते हैं।' अर्थात् जो विशेष अपेक्षा से पर्याय है, वही सामान्य अपेक्षा से द्रव्य है, जैसे कि उपादान स्वयं ही कार्यरूप परिणमता है, यह बात तो सर्वविदित है, उसमें उपादान वही द्रव्य है और कार्य पर्याय है, इससे यह बात सिद्ध होती है कि द्रव्य स्वयं ही परिणमन करता है और द्रव्य स्वयं ही वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से पर्याय कहलाता है।

जैसे मिट्टी का पिण्ड नष्ट होकर मिट्टी का घड़ा बनने से मिट्टीरूपी द्रव्य की एक पर्याय का नाश हुआ और दूसरी नयी पर्याय का उत्पाद हुआ परन्तु दोनों में मिट्टीत्व तो कायम ही रहा, नित्य ही रहा, इस अपेक्षा से कूटस्थ रहा – अपरिणामी रहा। मिट्टीरूपी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप में परिणमन नहीं करता इसलिये उसे इस अपेक्षा से भी कूटस्थ अथवा अपरिणामी कहा जा सकता है। उस पिण्ड और घड़े में मिट्टीत्व वैसा का वैसा ही रहता है, इस अपेक्षा से उसे कथंचित् कूटस्थ अथवा कथंचित् अपरिणामी कहा जा सकता है। एकान्त से अपरिणामी कहने पर तो वहाँ एक भाग अपरिणामी और एक भाग में परिणामी-ऐसा मानने से तो द्रव्य का ही नाश हो जायेगा। वह द्रव्य द्रवे भी नहीं, इसलिये उसका कुछ कार्य ही न मानने पर द्रव्यपने का ही नाश हो जायेगा। इस प्रकार उपादान से कार्य को भिन्न मानने से आकाशकुसुमवत, द्रव्य का ही अस्तित्व नहीं रहेगा और उसके कार्य का भी अस्तित्व नहीं रहेगा।

इसलिये इसी प्रकार समझना कि उपादान स्वयं ही कार्यरूप परिणमित हुआ है और इस कारण से उस परिणाम में पूर्ण उपादान उपस्थित ही है। परिणाम (कार्य) स्वयं उपादान का ही बना है अर्थात् जो पर्याय है, वह द्रव्य की ही बनी है क्योंकि वह द्रव्य का ही वर्तमान है। इसी

लिये उसे द्रव्यदृष्टि से देखने पर वहाँ मात्र द्रव्य ही ज्ञात होता है – त्रिकाली ध्रुव ही ज्ञात होता है। वहाँ उसकी वर्तमान अवस्था (पर्याय) गौण हो जाती है और उसे ही द्रव्यदृष्टि कहा जाता है। जबकि पर्यायदृष्टि में, उसी द्रव्य को उसकी वर्तमान अवस्था से अर्थात् पर्याय से ही देखने पर द्रव्य गौण हो जाता है, द्रव्य ज्ञात ही नहीं होता, पूर्ण द्रव्य मात्र पर्यायरूप ही भासित होता है। ऐसी ही मुख्य–गौण की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई अभाव की व्यवस्था ही नहीं है क्योंकि अखण्ड–अभेद द्रव्य में किसी भी अंश का अभाव चाहने पर पूर्ण द्रव्य का ही अभाव अर्थात् लोप हो जाता है। इसलिये अभाव अर्थात् मुख्य–गौण, अन्यथा नहीं।

श्लोक ८९ : अन्वयार्थ :– 'जैसे वस्तु स्वत:सिद्ध है उसी प्रकार वह स्वत: परिणमनशील भी है इसलिये यहाँ वह सत् नियम से उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य स्वरूप है।'

भावार्थ :– 'जैनदर्शन में जैसे वस्तु का सद्भाव स्वत:सिद्ध माना है (अर्थात् उस वस्तु का कभी नाश नहीं होता और इस अपेक्षा से वह ध्रुव है – नित्य है) वैसे ही उसे परिणमनशील भी माना है (अर्थात् द्रव्य स्वयं ही पर्यायरूप परिणमता है), इसीलिये सत् स्वयं ही नियम से उत्पाद–स्थिति–भंगमय है (अर्थात् मिट्टी स्वयं ही पिण्डत्व छोड़कर घटरूप होती है)। अर्थात् सत् स्वयं सिद्ध होने से ध्रौव्यमय और परिणमनशील होने से उत्पाद–व्ययमय है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु त्रितयात्मक (उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यमय) है।' यदि द्रव्य को ही परिणामरूप मानें तो परिणाम के नाश से द्रव्य का भी नाश हो जायेगा, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि उत्पाद–व्यय तो द्रव्य का नहीं बल्कि द्रव्य की अवस्था का है। वही द्रव्य स्वयं पिण्डत्व छोड़कर घटत्व धारण करता है और वहाँ पिण्ड का व्यय और घट का उत्पाद कहा जाता है। परन्तु उन दोनों में रहे हुए मिट्टीत्व का नाश किसी काल में नहीं होता और इसी लिये उसे त्रिकाली ध्रुव अथवा अपरिणामी कहा जाता है। अन्य किसी प्रकार से नहीं।

श्लोक ९० : अन्वयार्थ :– 'परन्तु वह सत् भी परिणाम बिना उत्पाद, स्थिति, भंग रूप नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने से जगत में असत् का जन्म (आकाश के फूल का जन्म) और सत् का विनाश (वृक्ष के फूल का विनाश) दुर्निवार हो जायेगा।'

भावार्थ :– 'सत्, केवल स्वत:सिद्ध और परिणमनशील होने के कारण ही उत्पाद, स्थिति तथा भंगमय मानने में आया है, अर्थात् ये तीनों अवस्थायें हैं क्योंकि प्रतिसमय सत् की अवस्थाओं में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हुआ करते हैं परन्तु केवल सत् में नहीं, इसलिये (भेद नय से) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य को सत् के परिणाम कहने में आता है; यदि ऐसा न मानकर सत् में ही उत्पाद, व्यय,

और ध्रौव्य मानने में आवे तो असत् की उत्पत्ति तथा सत् के विनाश को दुर्निवार मानना पड़ेगा।'

श्लोक ९१ : अन्वयार्थ :- 'इसलिये नियम से द्रव्य कथंचित् किसी अवस्थारूप से उत्पन्न होता है तथा किसी अन्य अवस्था से नष्ट होता है परन्तु परमार्थ रूप से (द्रव्यार्थिक नय से) निश्चय से वे दोनों ही नहीं हैं अर्थात् द्रव्य न तो उत्पन्न होता है तथा न नष्ट होता है।' अर्थात् द्रव्यदृष्टि से तो वह नित्य त्रिकाली ध्रुवरूप ही ज्ञात होता है, उसमें कोई उत्पाद-व्यय ज्ञात होते ही नहीं क्योंकि उनपर दृष्टि ही नहीं, दृष्टि केवल त्रिकाली ध्रुव द्रव्य पर ही है इसलिये उत्पाद-व्यय गौण हो जाते हैं और नित्यत्व मुख्य हो जाता है, यही विधि है पर्याय के अभाव की।

भावार्थ :- 'इसलिये द्रव्य, पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से नवीन-नवीन अवस्थारूप से उत्पन्न तथा पूर्व-पूर्व अवस्थाओं से नष्ट कहने में आता है, परन्तु द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य, न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है।' इस भाव को अपेक्षा से ध्रुवभाव, अपरिणामीभाव भी कहा जा सकता है परन्तु एकान्त से नहीं।

श्लोक १०८ : अन्वयार्थ :- 'जैनधर्म का यह सिद्धान्त है कि जैसे द्रव्य नित्य-अनित्यात्मक है, उसी प्रकार गुण भी अपने द्रव्य से अभिन्न होने के कारण नित्य-अनित्यात्मक है-ऐसा समझना।'

भावार्थ :- '...द्रव्यदृष्टि से वे गुण परस्पर में तथा द्रव्य से अभिन्न ही है..'

श्लोक ११० : अन्वयार्थ :- 'जैसे ज्ञान, घट के आकार से पट के आकाररूप होने के कारण परिणमनशील है तो क्या उसका ज्ञानत्व नष्ट हो जाता है? यदि वह ज्ञानत्व नष्ट नहीं होता, तो इस अपेक्षा से नित्य क्यों सिद्ध नहीं होगा? अर्थात् अवश्य ही (नित्य सिद्ध) होगा।' यहाँ समझना यह है कि कोई ऐसा कहे कि ज्ञान गुण तो अकबन्ध-कूटस्थ-अपरिणामी रहता है और उसमें से ज्ञान की पर्याय निकलती है, तो ऐसी मान्यता से तो ज्ञान गुण का ही अभाव हो जायेगा क्योंकि ज्ञान गुण परिणमनशील है अर्थात् ज्ञान गुण स्वयं किसी न किसी कार्य बिना रहता ही नहीं, वह ज्ञान गुण स्वयं ही उस कार्यरूप परिणमता है, अर्थात् स्व-पर को जानने के रूप में परिणमता है और उस स्व-पररूप प्रतिबिम्ब को गौण करते ही सामान्यपने से ज्ञान गुण वैसा का वैसा ही ज्ञात होता है। इसलिये कहा जाता है कि वह ज्ञानपने का उल्लंघन करता ही नहीं, इस अपेक्षा से उसे कूटस्थ अथवा अपरिणामी कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

भावार्थ :- 'घट को छोड़कर पट को और पट को छोड़कर अन्य पदार्थ को जानते समय ज्ञान पर्यायार्थिक नय से अन्य रूप कहलाने पर भी उसके ज्ञानत्व का उल्लंघन नहीं करता परन्तु

सामान्यपने से (उस प्रतिबिम्ब को गौण करने पर जो भाव रहता है, उसे ही उसका सामान्य कहा जाता है। विशेष, सामान्य का ही बना हुआ होता है। पर्यायरूप विशेष, द्रव्यरूप सामान्य का ही बना हुआ होता है अर्थात् विशेष को = पर्याय को गौण करते ही सामान्य = द्रव्य की अनुभूति होती है) निरन्तर "**तदेवेदं**" - वह ही यह है। अर्थात् यह वही ज्ञान है कि जिसकी पहले वह पर्याय थी और अभी यह पर्याय है (अर्थात् ज्ञान ही = ज्ञान गुण ही उस पर्यायरूप में परिणमित हुआ है)। ऐसी प्रतीति होती है, इसलिये ज्ञानत्व सामान्य की अपेक्षा से ज्ञान नित्य है। जैसे कि-'

श्लोक १११ : अन्वयार्थ :- 'आम्रफल में रूप नाम का गुण परिणमन करते-करते हरित में से पीला हो जाता है तो क्या इतने में उसके वर्णत्व का नाश हो जाता है? अर्थात् नहीं होता। इसलिये वह वर्णत्व नित्य है।' ऐसा है जिनसिद्धान्त का त्रिकाली ध्रुव।

भावार्थ :- '... सामान्यरूप से तो वर्णत्व वही का वही है, वह (वर्ण सामान्यत्व) कहीं नष्ट नहीं हो गया, इसलिये वर्ण सामान्य की अपेक्षा से वह वर्ण गुण नित्य ही है।' इस प्रकार सामान्य की अपेक्षा से उसे कूटस्थ अथवा अपरिणामी कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। अन्यथा मानने पर जिनसिद्धान्त के विरुद्ध अर्थात् अन्यमती मिथ्यात्वरूप परिणाम आयेगा जो अनन्त संसार का कारण बनेगा।

श्लोक ११२ : अन्वयार्थ :- 'जैसे वस्तु (द्रव्य) परिणमनशील है, उसी प्रकार गुण भी परिणमनशील है (अन्यथा मानने से मिथ्यात्व का उदय समझना) इसलिये निश्चय से गुण के भी उत्पाद-व्यय दोनों होते हैं।'

भावार्थ :- 'इसलिये जैसे द्रव्य, परिणमनशील है, वैसे द्रव्य से अभिन्न रहनेवाले गुण भी परिणमनशील हैं और वे परिणमनशील होने से उनमें प्रति समय उत्पाद-व्यय (कोई न कोई कार्य) भी हुआ ही करता है; और इस युक्ति से गुणों में उत्पाद-व्यय होने से उसे अनित्य भी कहने में आता है, सारांश कि-'

श्लोक ११३ : अन्वयार्थ :- 'इसलिये जैसे ज्ञान नाम का गुण सामान्यरूप से नित्य है तथा उसी प्रकार घट को छोड़कर पट को जानने पर ज्ञान नष्ट और उत्पन्न रूप भी है अर्थात् अनित्य भी है।' समझना यह है कि जो उपादान है अर्थात् जो द्रव्य अथवा गुण है, वह स्वयं ही कार्यरूप परिणमन करता है और उस कार्य की अपेक्षा से वह अनित्य है। लेकिन उपादान की अपेक्षा से नित्य है, ऐसा स्वरूप है नित्य-अनित्य का। यदि कोई इस स्वरूप से विपरीत धारणा सहित स्वयं

को सम्यग्दृष्टि मानते हों अथवा मनवाते हों तो उन्हें नियम से भ्रम में ही समझना क्योंकि भ्रम की भी शान्ति और आनन्द वेदन में आता है। यदि अनन्त संसार से बचना हो तो हमारा निवेदन है कि आप अपनी धारणा सम्यक् कर लें और अगर कोई संसारी जीव को एकान्त अशुद्ध मानकर स्वयं को सम्यग्दर्शन माने या समझे तो वह भी भ्रम में ही है। वह मान्यता भी एकान्त है क्योंकि संसारी जीव पर्यायार्थिक नय से अशुद्ध अवश्य है मगर वही संसारी जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परम शुद्ध है अर्थात् त्रिकाल शुद्ध है। ऐसा है वस्तुस्वरूप जिनशासन का जो एकान्त नयों से पराभूत नहीं होता। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से कोई भी आत्मा में रागादि का अस्तित्व नहीं है परन्तु पर्यायार्थिक नय से अज्ञानी आत्मा नियम से रागादिरूप परिणमता है, ऐसा है जिनशासन का अनेकान्त। जिसे यह अनेकान्तमय स्वरूप यथार्थरूप से समझ में नहीं आता उन्हें स्वयं को जिनशासन से बाह्य ही समझना चाहिये।

भावार्थ :- 'जिस समय ज्ञान घट को छोड़कर पट को विषय करने लगता है, उस समय पर्यायार्थिकदृष्टि से घट ज्ञान का व्यय और पट ज्ञान का उत्पाद होने से ज्ञान को अनित्य कहा जाता है तथा उसी समय पर्यायार्थिक नय की गौणता और द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से (समझना यह है कि जिनसिद्धान्त की समस्त बातें मुख्य-गौण अपेक्षा से ही होती हैं, एकान्त से नहीं। इसलिये जो एकान्त के आग्रही हैं, वे ऊपर बताये अनुसार नियम से मिथ्यात्वी हैं, अनन्त संसारी हैं, इसलिये वैसी धारणा हो तो अपने ऊपर कृपा करके यानी अपने ऊपर दया लाकर शीघ्रता से अपनी धारणा ठीक कर लेना अत्यन्त आवश्यक है) देखने पर घटज्ञान और पटज्ञानरूप दोनों अवस्थाओं में ज्ञान सामान्य होने से (अर्थात् वे अवस्थाएँ ज्ञान गुण की ही बनी हुई हैं, इसलिये उन अवस्थाओं को गौण करते ही अर्थात् ज्ञेयाकारों को गौण करते ही वहाँ ज्ञान गुण साक्षात् हाज़िर ही है, इसी प्रकार द्रव्य में भी अवस्थाओं को गौण करते ही साक्षात् द्रव्य हाज़िर ही है-पूर्ण द्रव्य अवस्थारूप से ही व्यक्त होता है और जो सामान्यरूप से द्रव्य है उसे ही अव्यक्त कहने में आता है। इसलिये वह व्यक्त, अव्यक्त का ही बना हुआ है) ज्ञान को ध्रौव्य अर्थात् नित्य (ऐसा है जिनसिद्धान्त का त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा) भी कहने में आता है (ऐसा है जिनसिद्धान्त का त्रिकाली ध्रुव-कूटस्थ-अपरिणामी, अन्यथा नहीं)। इसलिये अपेक्षावाद से ज्ञान गुण कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक सिद्ध होता है, परन्तु एकान्तवाद से नहीं।' अर्थात् जिन्हें एकान्त का ही आग्रह है उन्हें अपने पर दया लाकर शीघ्रता से उस एकान्त का आग्रह -पक्ष छोड़कर, यथार्थ धारणा कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। यही बात आगे अधिक दृढ़ होती है-

श्लोक ११७ : अन्वयार्थ :- 'गुण नित्य हैं तो भी वे निश्चय से अपने स्वभाव से ही प्रत्येक समय परिणमन करते रहते हैं और वह परिणमन भी उन गुणों की ही अवस्था है परन्तु गुणों की सत्ता से उनकी सत्ता (सत्) कहीं भिन्न नहीं है।' इसलिये एक सत्ता के दो, तीन, चार... सत् माननेवाले यदि अपेक्षा से समझें तो दिक्कत नहीं है परन्तु सत् अर्थात् सत्ता एक द्रव्य की वास्तविक (यथार्थ) अभेद-अखण्ड एक ही होती है, भेद अपेक्षा से एक सत्ता के दो, तीन, चार,.. सत् कहे जाते हैं परन्तु वैसा एकान्त से नहीं माना जाता।

भावार्थ :- 'गुणों की प्रतिसमय होनेवाली अवस्था का नाम ही पर्याय है, पर्यायों की सत्ता (सत्) कहीं गुणों से भिन्न नहीं है इसलिये द्रव्य की भाँति वे गुण भी गुण की दृष्टि से नित्य तथा अपनी पर्यायरूप अवस्थाओं से उत्पन्न तथा नष्ट होने के कारण से अनित्य कहने में आते हैं...'

इसलिये समझना यह है कि यदि कोई द्रव्य और पर्याय के प्रदेश भिन्न मानते हों तो उनके भाव की अपेक्षा से कहे जा सकते हैं परन्तु वास्तविक प्रदेश भेद नहीं है। इसलिये ऐसी एकान्त धारणा जीव को मिथ्यादृष्टि बनाती है। विधान कोई भी हो उसकी अपेक्षा समझकर बोलना अथवा मानना, एकान्त से नहीं; अन्यथा ऐसी बातें अनेक लोगों के अध:पतन का कारण बनती हैं। इसलिये ऐसे एकान्त प्ररूपणा के आग्रही मिथ्यादृष्टियों से दूर ही रहना आवश्यक है अन्यथा आप स्वयं भी अनन्त संसारी, मिथ्यादृष्टि, अनन्त दु:ख के ही घर बनेंगे।

एकान्त के आग्रही लोगों से हमारा अनुरोध है कि आप किसी भी विधान की अपेक्षा समझे बिना एकान्त से ग्रहण करके, एकान्त का आग्रह रखकर यदि जिनशासन का भला करना चाहते हों तो वह आपकी महान भूल है, वह तो जिनशासन के अध:पतन का ही निमित्त बनेगा और कितने ही जीवों के अध:पतन का कारण भी बनेगा। उन सबके अध:पतन की जवाबदारी ऐसे एकान्त प्ररूपणा और एकान्त का आग्रह करनेवालों की ही है, इसलिये उनकी दशा के विषय में विचार कर हमें बहुत ही करुणा उत्पन्न होती है और इसी कारण से हमको यहाँ इतना अधिक स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता हुई।

श्लोक ११९ : अन्वयार्थ :- 'गुणों के तद्वस्थ (अर्थात् अपरिणामी-कूटस्थ), उनके अवस्थान्तर को पर्याय तथा दोनों के मध्यवर्ती को (अर्थात् वे दोनों मिलकर) द्रव्य, यह शंकाकार का कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे सम्पूर्ण गुण की अवस्थाएँ आम्रेडित (एकरूप) होकर अर्थात् एक आलाप से पुन: पुन: प्रतिपादित होकर (अनुस्युति से रचित पर्यायों का प्रवाह, वही द्रव्य)

वस्तु अर्थात् द्रव्य कहलाता है। उसी प्रकार उसकी उन अवस्थाओं से भिन्न (अर्थात् पर्यायों से भिन्न) कोई भी भिन्न सत्तावाली वस्तु (अर्थात् द्रव्य = ध्रौव्य) कही नहीं जा सकती।'

इसका अर्थ स्पष्ट है कि जो द्रव्य है, वही पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पर्याय है और जो पर्याय है, वही द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से द्रव्य है। वे दोनों भिन्न न होने पर भी अपेक्षा से (प्रमाणदृष्टि से) उन्हें कथंचित् भिन्न कहा जा सकता है और इसी लिये उनके प्रदेश भी भाव अपेक्षा से भिन्न कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं, सर्वथा नहीं। वास्तव में तो वहाँ कोई भेद ही नहीं, भेदरूप व्यवहार तो मात्र समझाने के लिये ही है, निश्चय नय से तो द्रव्य अभेद ही है।

भावार्थ :- 'सत् की सम्पूर्ण अवस्थायें ही बारम्बार प्रतिपादित होकर वस्तु कहलाती हैं (अर्थात् सम्पूर्ण पर्यायों का समूह ही वस्तु है, द्रव्य है), परन्तु वस्तु अपनी अवस्थाओं से कहीं भिन्न नहीं है। (यहाँ जो वस्तु में अपरिणामी और परिणामी ऐसे विभाग मानते हों, उनका निराकरण किया है अर्थात् वैसी मान्यता मिथ्यात्व के घर की है)। इसलिये जैसे गुणमय द्रव्य होने से द्रव्य और गुणों में स्वरूपभेद नहीं होता, उसी प्रकार द्रव्य की अवस्थायें ही गुण की अवस्थायें कहलाती हैं। इसलिये द्रव्य भी उसकी पर्यायों से भिन्न नहीं है (प्रदेश भेद नहीं है), इसलिये गुण को तद्‌वस्थ (अपरिणामी) तथा अवस्थान्तरों को पर्याय मानकर इन दोनों के किसी मध्यवर्ती को अलग द्रव्य मानना ठीक नहीं है इसलिये -'

श्लोक १२० : अन्वयार्थ :- 'नियम से जो गुण परिणमनशील होने के कारण (यहाँ लक्ष्य में लेना आवश्यक है कि गुणों को नियम से परिणमनशील कहा है उसमें कोई अपवाद नहीं है और दूसरा, होने के कारण कहा है अर्थात् वे तीनों काल में उसी प्रकार हैं) उत्पाद-व्ययमय कहलाते हैं, वे ही गुण टंकोत्कीर्ण न्याय से (अर्थात् वे गुण अन्य गुणरूप न होने के कारण से) अपने स्वरूप को कभी भी उल्लंघन नहीं करते, इसलिये वे नित्य कहलाते हैं।' टंकोत्कीर्ण का अर्थ सामान्यरूप से वैसा का वैसा ही रहता है ऐसा लिया है, कोई दूसरे प्रकार से अर्थात् अपरिणामी इत्यादिरूप नहीं।

दूसरा, यहाँ कोई ऐसा समझे कि ऐसी तो पुद्‌गल द्रव्य की व्यवस्था भले हो परन्तु जीव द्रव्य की बात तो निराली ही है, तो उन्हें हम बताते हैं कि मात्र पुद्‌गल द्रव्य ही नहीं परन्तु छहों द्रव्यों की द्रव्य-गुण-पर्यायरूपी अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपी वस्तुव्यवस्था तो एक समान ही है। यदि जीव द्रव्य की कोई अन्य व्यवस्था होती तो भगवान ने और आचार्य भगवन्तों ने शास्त्रों में अवश्य बतायी होती परन्तु वैसा न होने से ही कुछ बताया नहीं है। इसलिये ऐसे मिथ्यात्वयुक्त

आग्रह को छोड़कर वस्तुव्यवस्था जैसी है वैसी ही मानना आवश्यक है, अन्यथा उस जीव ने स्वयं अनन्त संसारी, अनन्त दु:खी होने को ही आमन्त्रण दिया है। उसपर करुणा भाव से ही यह लिखा जा रहा है।

भावार्थ :- 'परिणमन की अपेक्षा से जो गुण उत्पाद-व्यययुक्त कहलाते हैं, वे ही गुण गुणत्व सामान्य की अपेक्षा से नित्य कहलाते हैं। उन दोनों अपेक्षाओं से द्रव्य से अभिन्नरूप गुण भी उत्पाद-व्यय और ध्रौव्ययुक्त कहे हैं...'

मिट्टी में किसी गुण का नाश होता है और कोई गुण उत्पन्न होता है - ऐसी शंका व्यक्त करने पर आगे की गाथा में बताते हैं कि -

श्लोक १२३ : अन्वयार्थ :- 'इस विषय में यह उत्तर ठीक है कि इस मृतिका का (मिट्टी का पक्का बर्तन रूप होने का) ऐसा होने पर क्या उसका मृतिकापन (मिट्टीत्व) नाश हो जाता है? यदि (मृतिकापन) नष्ट नहीं होता तो वह नित्यरूप क्यों नहीं होगा?' अर्थात् इस अपेक्षा से द्रव्य नित्य है, ध्रुव है, अन्यथा नहीं।

भावार्थ :- 'कच्ची मिट्टी को पकाने पर प्रथम के मिट्टी सम्बन्धी (सभी) गुण नष्ट होकर नवीन पक्व गुण पैदा होते हैं इस प्रकार माननेवाले के लिये यह उत्तर ठीक है कि - मृतिका की घटादि अवस्था होने पर, क्या उसका पृथ्वीत्व-मृतिकापन भी नष्ट हो जाता है? यदि वह मृतिकापन नष्ट नहीं होता तो वह मृतिकापन क्या नित्य नहीं है?'' अर्थात् नित्य ही है, इस अपेक्षा से द्रव्य को नित्य-ध्रुव इत्यादि कहा जाता है। अब शंकाकार शंका करता है कि द्रव्य और पर्याय को सर्वथा भिन्न मानने में क्या दोष है? उत्तर -

श्लोक १४२ : अन्वयार्थ :- 'अनु शब्द का अर्थ है - जो बीच में कभी भी स्खलित नहीं होनेवाले प्रवाह से (अनुस्यूति से रचित पर्यायों का प्रवाह, वही द्रव्य) वर्त रहा हो तथा 'अयति' वह क्रियापद गति अर्थवाली 'अय' धातु का रूप है इसलिये अविच्छिन्न प्रवाहरूप से जो गमन कर रहा है वह अन्वयार्थ की अपेक्षा से अन्वय शब्द का अर्थ द्रव्य है।'

भावार्थ :- '... जो निरन्तर अपनी उत्तरोत्तर होनेवाली पर्यायों में गमन करे, वह द्रव्य है (यानी द्रव्य, पर्यायों में ही छिपा हुआ है)। गति 'अन्वय' शब्द 'अनु' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'अय' धातु से बना है, द्रव्य की यह व्युत्पत्ति अन्वय शब्द में भलीभाँति घटित हो सकती है। जैसे 'अनु'- अव्युच्छिन्न प्रवाहरूप से जो अपनी प्रति समय होनेवाली पर्यायों में बराबर 'अयति' अर्थात् गमन करता हो, उसे अन्वय कहते हैं; इसलिये अन्वय और द्रव्य ये दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं।' पर्यायों

का जो प्रवाहरूप समूह है वही सत् है और वही द्रव्य है। यानी जो पर्यायें हैं, उनमें ही द्रव्य छिपा हुआ गति करता है मतलब जो पर्याय है वह द्रव्य की ही बनी हुई है और इसलिये ही पर्यायों को व्यतिरेक = विशेष = व्यक्त और द्रव्य को अन्वयरूप = सामान्य = अव्यक्त कहा जाता है।

श्लोक १५९ : अन्वयार्थ :- 'सारांश यह है कि निश्चय से गुण स्वयंसिद्ध है तथा परिणामी भी है, इसलिये वह नित्य और अनित्य रूप होने से भली प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक भी है।'

भावार्थ :- 'अनादि सन्तानरूप से जो द्रव्य के साथ अनुगमन करता है वह गुण है। यहाँ 'अनादि' इस विशेषण से स्वयंसिद्ध, 'सन्तानरूप' इस विशेषण से परिणमनशील तथा 'अनुगतार्थ' इस विशेष से निरन्तर द्रव्य के साथ रहनेवाले, ऐसा अर्थ सिद्ध होता है। सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्य के गुण स्वयंसिद्ध और निरन्तर द्रव्य के साथ रहनेवाले हैं। इसलिये तो उन्हें नित्य अर्थात् ध्रौव्यात्मक कहा जाता है। और प्रतिसमय परिणमनशील हैं, इसलिये उन्हें अनित्य और उत्पादव्ययात्मक भी कहा जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण गुण उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मक है।' जिनसिद्धान्त की वस्तुव्यवस्था ऐसी है।

श्लोक १७८ : अन्वयार्थ :- 'सारांश यह है कि जिस प्रकार द्रव्य नियम से स्वत:सिद्ध है, उसी प्रकार वह परिणमनशील भी है, इसलिये वह द्रव्य प्रतिसमय बारम्बार प्रदीप (दीपक) की शिखा की भाँति परिणमन करता ही रहता है।'

भावार्थ :- 'जैसे द्रव्य, स्वत:सिद्ध होने से नित्य - अनादि-अनन्त है, उसी प्रकार वह परिणमनशील होने से दीपक की शिखा की भाँति प्रति समय परिणमन भी करता ही रहता है। इसलिये वह अनित्य भी है और उसका वह परिणमन पूर्व-पूर्व भाव के विनाशपूर्वक (मिट्टी के पिण्ड के विनाशपूर्वक) तथा उत्तर-उत्तर भाव के उत्पाद से (मिट्टी के घट के उत्पाद से) होता रहता है। इसलिये द्रव्य, कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक कहने में आता है। (एक ही वस्तु के दो स्वभाव हैं। यह सच नहीं है कि एक वस्तु के दो भाग-एक नित्य और दूसरा अनित्य-ऐसा भाग मानने से मिथ्यात्व का दोष आता है) जैसे कि जीव मनुष्य से देव पर्याय को प्राप्त करने पर द्रव्यार्थिकदृष्टि से उसकी प्रत्येक पर्यायों में जीवत्व सदृश (समान) रहने पर भी (अर्थात् उस पर्याय का सामान्य, वही जीवत्व अर्थात् द्रव्य) पर्यायार्थिकदृष्टि से प्रत्येक पर्याय में (उसकी एक-एक पर्याय में) वह कथंचित् भिन्नता को धारण करता है। उसी प्रकार प्रतिसमय होनेवाले क्रम में भी द्रव्यार्थिक नय से सदृशता रहने पर भी (अर्थात् उस क्रमरूप पर्याय में सामान्यभावरूप से द्रव्य

हाज़िर ही है) परन्तु पर्यायार्थिक नय से कथंचित् विसदृशपन (अन्यथात्व) भी देखने में आता है (अर्थात् उस क्रम में हो रही पर्याय में विशेषभावरूप से अन्य-अन्य भाव भी देखने में आते हैं)। इस विषय में दूसरा दृष्टान्त गोरस का भी दिया जाता है-जैसे दूध, दही, मट्ठा इत्यादि दूध की अवस्थाओं में द्रव्यार्थिक नय से गोरसपन की सदृशता होने पर भी पर्यायार्थिक नय से दूध से दही इत्यादि अवस्थाओं में कथंचित् विसदृशपना भी देखने में आता है। इस प्रकार अनुमान से अथवा स्वानुभव प्रत्यक्ष से नित्य-अनित्य की प्रतीति होने से यद्यपि क्रम में भी कथंचित् सदृशता-विसदृशता दोनों होती हैं परन्तु ऐसा होने पर भी केवल उनका काल सूक्ष्म समयवर्ती होने से वह क्रम प्रतिसमय लक्ष्य में नहीं आता, इसलिये उसमें अन्यथात्व' (यह वैसा नहीं) और तथात्व (यह वैसा ही है) की विवक्षा ही नहीं की जा सकती। ऐसा नहीं।'

जिस समय ज्ञान घटाकार मात्र है उस समय घट की जानने की योग्यता से और जिस समय लोकालोक को जानता है, उस समय वैसी योग्यता से ज्ञान गुण में कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती, मात्र अगुरुलघु गुण का ही फल समझने योग्य है।

श्लोक १९३-१९४-१९५ : अन्वयार्थ :- 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि इस प्रकार मानने से परमार्थ दृष्टि से घटाकार और लोकाकाररूप ज्ञान एक होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बन नहीं सकेंगे और न कोई किसी का उपादान कारण तथा न कोई किसी का कार्य भी बन सकेगा तथा गुण अपने अंशों से (पर्याय से) कम होने से दुर्बल और उत्कर्ष होने से बलवान क्यों नहीं होंगे? इस प्रकार से ऐसा भी बहुत भारी और दुर्जय दोष आयेगा।

(उत्तर) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्य को तो पहले ही भलीभाँति परिणमनशील निरूपण किया है, (सिद्ध किया है) इसलिये उसमें उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य ये तीनों भलीभाँति घटित हो सकते हैं। परन्तु इससे उल्टा सर्वथा नित्य या अनित्य अर्थ मानने से घटित नहीं होंगे।'

यदि वस्तु के (द्रव्य के) दो भाग मानने में आवें कि जिसमें का एक भाग सर्वथा नित्य मानने में आवे और एक भाग सर्वथा अनित्य अर्थात् नित्य और अनित्य को वस्तु के भाव की जगह विभाग अथवा भाग रूप मानने में आवे तो उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटित नहीं हो सकेगा और इसी कारण वैसी मान्यता जिनसिद्धान्त बाह्य है और मिथ्यात्व है, इसलिये ऐसी धारणा किसी की हो तो वह शीघ्रता से सुधार लेनी चाहिये, अपेक्षा से बहुत कुछ कहा जाता है परन्तु वैसा एकान्त से माना नहीं जाता।

भावार्थ :- 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि यदि अवगाहन गुण की विचित्रता से द्रव्य में केवल आकार से आकारान्तर ही हुआ करता है तो द्रव्य की पूर्व-उत्तर अवस्थाओं में अभेदता होने के कारण उसमें (यहाँ शंकाकार द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु को एक अभेदरूप अनुस्युति से रचित प्रवाहरूप नहीं मानता) उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य नहीं बन सकेगा तथा किसी भी प्रकार का कार्य-कारण भाव ही (यहाँ शंकाकार कार्य-कारणभाव को भेदरूप मानता है, भिन्न मानता है) सिद्ध नहीं हो सकेगा तथा यदि गुणांश के तदवस्थ रहने पर भी अगुरु-लघु गुण के निमित्त से उसमें भूत्वा-भवनरूपी परिणमन होता रहता है (यहाँ शंकाकार ध्रौव्य को/गुण को अपरिणामी मानता है-उसे अगुरु-लघु गुण के निमित्त से पर्याय मानता है और उसमें से पर्याय निकलती है कि जो ध्रौव्य से/गुण से भिन्न है ऐसा मानता है) तो यह आपत्ति आयेगी कि - गुण अपने अंशों से कम होने पर दुर्बल और अपने अंशों से बढ़ने पर क्या बलवान नहीं होंगे?

समाधान :- शंकाकार का उपरोक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि हमने पहले ही स्वत:सिद्ध द्रव्य को भलीभाँति परिणामी सिद्ध किया है अर्थात् द्रव्य स्वत:सिद्ध होने से, कथंचित् नित्यानित्यात्मक द्रव्य में ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटित हो सकते हैं। (अर्थात् द्रव्य स्वयं ही पर्याय-रूप परिणमता है और इस कारण से पर्याय द्रव्य की ही बनी हुई है और द्रव्य पर्याय में ही छिपा हुआ है। अर्थात् पर्यायरूप विशेषभाव को गौण करते ही सामान्यरूप द्रव्य प्राप्त होता है)। परन्तु सर्वथा नित्य या अनित्य पदार्थ में नहीं।

सारांश यह है कि आकार से आकारान्तर रूप होने से उत्पाद, व्यय की और वस्तुता से (सामान्य भाव अपेक्षा से) तद्वस्थ रूप होने से ध्रौव्यांश की (सामान्यभाव की) सिद्धि होती है। इसलिये उक्त प्रकार से (ऐसी रीति से) द्रव्य को कथंचित् नित्यानित्यात्मक मानने से उत्पादादि त्रय की तथा कारण-कार्य भाव की सिद्धि नहीं होती, ऐसी शंका निरर्थक है। यहाँ दृष्टान्त-'

श्लोक १९६ : अन्वयार्थ :- 'जैसे सोने के अस्तित्व में ही कुण्डलादिक अवस्थायें उत्पन्न होती हैं और वे कुण्डलादिक अवस्थायें होने से ही नियम से उत्पादादिक तीनों सिद्ध होते हैं।' अर्थात् द्रव्य को परिणामी मानने से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप व्यवस्था शक्य है, अन्यथा नहीं। ऐसी है जिनसिद्धान्त की वस्तुव्यवस्था।

भावार्थ :- 'जैसे स्वर्ण के अस्तित्व में ही उसकी कुण्डल-कंकण आदि अवस्थायें सिद्ध होती हैं, क्योंकि उन अवस्थाओं के होने से ही स्वर्ण में उत्पादादिक होते हैं अर्थात् स्वर्ण का

स्वर्णत्व द्रव्यदृष्टि से तदवस्थ रहने पर भी पर्यायार्थिकदृष्टि से कुण्डल-कंकण आदि के ही उत्पादादिक होते हैं परन्तु यदि वास्तविक विचार किया जाये तो उन कुण्डलादिक अवस्थाओं में मात्र आकार से आकारान्तर ही है परन्तु असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश नहीं। इसलिये शंकाकार का कथंचित् नित्यानित्यात्मक पदार्थ में उत्पादादिक नहीं बनेंगे, यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। कारण-कार्य भाव भी निम्न प्रकार सिद्ध होता है।'

श्लोक १९७ : अन्वयार्थ :- 'इस प्रक्रिया अर्थात् शैली से ही निश्चय से कारण और कार्य की सिद्धि भी समझ लेनी चाहिये क्योंकि इस सत् के ही सत् अर्थात् ध्रौव्य तथा उत्पाद और व्यय ये दोनों होते हैं।'

भावार्थ :- ''जिस प्रकार कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक पदार्थों में ही उत्पादादिकत्रय होते हैं, परन्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य पदार्थों में नहीं हो सकते-ऐसा सिद्ध किया, उसी प्रकार पदार्थों को नित्य-अनित्यात्मक मानने से ही कारण-कार्य भाव भी सिद्ध हो सकता है, परन्तु सर्वथा नित्य या अनित्य पदार्थों में नहीं, क्योंकि सर्वथा नित्य पक्ष में परिणाम बिना कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता तथा सर्वथा अनित्य पक्ष में पदार्थ मात्र क्षणवर्ती सिद्ध होने से और उनका प्रतिसमय निरन्वयनाश मानने से 'नित्य शक्तिपिण्डरूपी सत् (द्रव्य) कारण है तथा अनित्य परिणामरूपी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य उसके कार्य हैं।' ऐसा कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता, इसलिये कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक पदार्थों में ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और कार्य-कारण भाव भलीभाँति सिद्ध होता है। क्योंकि नित्य-अनित्यात्मक पदार्थों में ही सत् के उत्पादादिक मानने में आये हैं परन्तु निरन्वयनाश रूप या कूटस्थ नित्य में नहीं....'' द्रव्य और पर्याय ये वस्तु के दो भाव हैं, न कि दो भाग। इसलिये ही उसे कथंचित् नित्य-अनित्य कहा जाता है तथा सर्वथा नित्य-अनित्य ऐसा नहीं कहा जाता अथवा माना जाता। इसलिये जो कोई द्रव्य को एकान्त से नित्य-अपरिणामी और पर्याय को एकान्त से अनित्य-परिणामी मानते हों, उनका यहाँ निराकरण किया है। इसलिये ऐसी जिनकी धारणा हो, उनसे अपनी धारणा सुधार लेने का अनुरोध है।

श्लोक २०० : अन्वयार्थ :- 'निश्चय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों पर्यायों में होते हैं परन्तु सत के नहीं होते। परन्तु चूँकि उत्पादादिक पर्यायें ही द्रव्य हैं इसलिये द्रव्य को उत्पादादिकत्रयवाला कहा जाता है।' यहाँ अंश-अंशी रूप भेदनय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य इन तीनों को भेदरूपी पर्याय सिद्ध किया है क्योंकि अंश-अंशीरूपी भेद न किया जाये

तो सत् का नाश-सत् का उत्पाद और सत् का ही ध्रौव्य ऐसी विरुद्धता उद्‌भवित होती है इसलिये भेद नय से समझाया है कि सत् तो स्वत: सिद्ध होने पर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप ही है और इसलिये भेदनय से ये तीनों उसकी पर्याय कही जाती हैं।

प्रश्न उठता है कि उत्पाद का स्वरूप और उत्पाद किसका होता (कहा जाता) है? उत्तर -

श्लोक २०१ : अन्वयार्थ :- ''तद् भाव ('यह वही है') और अतद् भाव ('यह वह नहीं') को विषय करनेवाले नय की अपेक्षा से (अर्थात् द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से) सत् सद् भाव और असद् भाव से युक्त है इसलिये वह उत्पादादिक में नवीनरूप से परिणमित उस सत् की अवस्था का नाम ही उत्पाद है।'' अर्थात् द्रव्य की अवस्था बदलती है उसे ही उत्पाद कहा और पूर्व अवस्था को व्यय। व्यय का स्वरूप और वह किसका होता है? उत्तर -

श्लोक २०२ :- अन्वयार्थ :- 'तथा व्यय भी सत् का नहीं होता परन्तु उस सत् की अवस्था का नाश व्यय कहलाता है, तथा प्रध्वंसाभाव रूप वह व्यय सत्, परिणामी होने से सत् का भी अवश्य कहने में आया है।' अर्थात् अपेक्षा से कुछ भी कहा जा सकता है परन्तु समझना यह है कि उपादानरूपी द्रव्य स्वयं ही कार्यरूप में परिणमता है और उसे ही उसका उत्पाद कहा जाता है। पूर्व समयवर्ती कार्य को उसका व्यय कहा जाता है और उन दोनों कार्यरूप परिणमित जो उपादान-रूपी द्रव्य है, वही ध्रौव्य है। ध्रौव्य का स्वरूप और वह किसका होता है? उत्तर -

श्लोक २०३ : अन्वयार्थ :- 'पर्यायार्थिक नय से (भेद विवक्षा से) ध्रौव्य भी कथंचित् सत् का होता है। केवल सत् का नहीं इसके लिये उत्पाद-व्यय की भाँति वह ध्रौव्य भी सत् का एक अंश है परन्तु सर्वदेश नहीं।' क्योंकि यदि वह सत् का (द्रव्य का) मानने में आये तो द्रव्य कूटस्थ/अपरिणामी गिना जायेगा कि जो वह नहीं है।

श्लोक २०४ : अन्वयार्थ :- 'अथवा तद् भाव से नाश न होना ऐसा जो ध्रौव्य का लक्षण दर्शाया है वहाँ भी अर्थात् उसका भी यह वास्तविक अर्थ है कि जो परिणाम पहले थे वे-वही परिणाम बाद में होते रहते हैं।' अर्थात् जो द्रव्यरूपी ध्रौव्य है, वही प्रत्येक पर्याय में स्वयं ही कार्यरूप परिणमता है और उसमें रही हुई सदृशता से (सामान्य अपेक्षा से) उसका तद् भाव से नाश न होने से उसे ध्रौव्य कहते हैं। जैसे कि ज्ञान आकारान्तरपन पाने पर भी ज्ञानत्व का नाश न होने से उस आकार में रहे हुए ज्ञान को (सामान्य को) ही ध्रौव्य कहा जाता है अर्थात् टंकोत्कीर्ण कहा जाता है।

श्लोक २०५ : अन्वयार्थ :- 'जैसे पुष्प की गन्ध वह परिणाम है तथा वह गन्ध गुण परिणमन कर रहा है इसलिये गन्ध (गुण) अपरिणामी नहीं है तथा निश्चय से निर्गन्ध अवस्था से पुष्प गन्धवाला हुआ है ऐसा भी नहीं है।' इस कारण से कहा जा सकता है कि ध्रौव्यरूपी द्रव्य/गुण स्वयं ही पर्यायरूप उत्पन्न होता है और तब ही पूर्व पर्याय का व्यय होता है; इसलिये अभेदनय से द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप कहा जाता है और भेदनय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप तीनों सत् की पर्याय कही जाती है, यह भेदरूपी पर्याय है। यही भाव आगे भी समझाते हैं।

श्लोक २०७ : अन्वयार्थ :- 'निश्चय से सर्वथा नित्य कोई सत् है-गुण कोई है ही नहीं तथा केवल परिणति रूप व्यय तथा उत्पाद ये दोनों उस सत् से अतिरिक्त अर्थात् भिन्न है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिए क्योंकि'' भेद नय से जो ऊपर भेद रूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को पर्याय रूप से समझाने से किसी को ऐसी आशंका उत्पन्न होती है कि क्या द्रव्य और पर्याय भिन्न है? तो कहते हैं कि ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिये।

श्लोक २०८ : अन्वयार्थ :- 'ऐसा होने पर सत् को भिन्नतायुक्त देश का प्रसंग आने से सत् वह न गुण, न परिणाम अर्थात् पर्याय और न द्रव्य रूप सिद्ध हो सकेगा, सब कुछ विवादग्रस्त हो जायेगा।'

भावार्थ :- 'गुणों को न मानकर द्रव्य को सर्वथा नित्य तथा उत्पाद-व्यय को द्रव्य से भिन्न केवल परिणतिरूप मानने से द्रव्य तथा पर्यायों को भिन्न-भिन्न प्रदेशत्व का प्रसंग आयेगा तथा सत्, द्रव्य-गुण व पर्यायों में से किसी भी रूप से सिद्ध नहीं हो सकेगा और इसलिये सत्, द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक न होने से उस सत् का भी क्या स्वरूप है? यह भी निश्चित नहीं हो सकेगा; इसलिये द्रव्य-गुण-पर्याय और सत् स्वयं वे सब विवादग्रस्त हो जायेंगे।' यहाँ कहे अनुसार यदि कोई द्रव्य को अपरिणामी और पर्याय उससे भिन्न (भिन्न प्रदेशी) परिणामी ऐसा मानता हो तो यहाँ बताया हुआ पहला दोष आयेगा। अब दूसरा दोष बताते हैं।

श्लोक २०९ : अन्वयार्थ :- 'तथा यहाँ दूसरा भी यह दोष आयेगा कि - जो नित्य है वह निश्चय से नित्य ही रहेगा तथा जो अनित्य है वह अनित्य ही रहेगा। इस प्रकार किसी भी वस्तु में अनेक धर्मत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा अर्थात् वस्तु अनेक धर्मात्मक सिद्ध नहीं होगी।' अब तीसरा दोष बताते हैं।

श्लोक २१० : अन्वयार्थ :- 'तथा यह एक द्रव्य है, यह गुण है और यह पर्याय है इस

प्रकार का जो काल्पनिक भेद होता है (अर्थात् यह भेद वास्तविक नहीं है) वह भी नियम से भिन्न द्रव्य की भाँति बनेगा नहीं।' अर्थात् जिस अभेद वस्तु में समझाने के लिये काल्पनिक भेद किये हैं और इसलिये ही उसे कथंचित् कहा है उसे यदि वास्तविक भेद समझने में आवे तो द्रव्य और पर्याय ये दोनों भिन्न प्रदेशी, दो द्रव्यरूप ही बन जाने से भेदरूप व्यवहार न रहकर नियम से भिन्न द्रव्य की भाँति भिन्न प्रदेशी ही बन जायेंगे और द्रव्य-गुण-पर्याय रूप जो काल्पनिक भेद होते हैं, वैसे काल्पनिक भेद नहीं बनेंगे। आगे शंकाकार नयी शंका करता है कि -

श्लोक २११ : अन्वयार्थ :- 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि - समुद्र की भाँति वस्तु को नित्य मानें तथा गुण को भी नित्य मानें और पर्यायें लहर की भाँति उत्पन्न और नाश होनेवाली मानें तो' - पदार्थ को समुद्र और लहर के उदाहरण से ऐसा मानें कि-द्रव्य = समुद्र का दल एकान्त से नित्य और पर्याय = लहर एकान्त से अनित्य मानें तो क्या हानि है? उसका समाधान-

श्लोक २१२ : अन्वयार्थ :- 'ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि समुद्र और लहरों (तरंगों) का दृष्टान्त शंकाकार के प्रकृत-उपरोक्त अर्थ का ही बाधक है (खण्डन करता है) तथा शंकाकार द्वारा नहीं कहे गये प्रकृत अर्थ के विषयभूत इस वक्ष्यमान (कथन करने से) कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक अभेद अर्थ का साधक है।' यहाँ याद रखना कि अभेद का साधक कहा है अर्थात् द्रव्य अभेद है उसमें भेद उत्पन्न करके कहा जाता है, भिन्न प्रदेश वास्तविक नहीं और दूसरा, प्रस्तुत उदाहरण से ही अभेद द्रव्य सिद्ध होता है। क्योंकि जो लहर = कल्लोल है, वह समुद्र की ही बनी है अर्थात् वह समुद्र ही उस रूप में परिणमित हुआ है इसलिये वह समुद्र ही है। ऐसा अभेद स्वरूप है द्रव्य का।

भावार्थ :- 'शंकाकार के कथनानुसार गुणों को और वस्तु को (द्रव्य को) सर्वथा नित्य तथा उत्पाद-व्यय को सर्वथा अनित्य मानना ठीक नहीं है क्योंकि इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये जो समुद्र और लहरों का दृष्टान्त दिया, वह शंकाकार के उपरोक्त पक्ष का साधक न होकर बिना कहे ही उपरोक्त पक्ष के (शंकाकार के पक्ष के) विपक्ष का अर्थात्-जिनसिद्धान्तानुसार माने हुए कथंचित् अभेदात्मक पक्ष का साधक है। आगे इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं-' यदि कोई व्यक्ति द्रव्य को चक्की की तरह समझता हो जैसे कि चक्की में नीचे का भाग स्थिर और ऊपर का भाग घूमता है तो द्रव्य में जिनसिद्धान्तानुसार ऐसी व्यवस्था भी नहीं है, यह भी इसी गाथा से सिद्ध होता है।

श्लोक २१३ :अन्वयार्थ :- 'लहरों से व्याप्त समुद्र की भाँति निश्चय से किसी भी गुण के परिणामों से अर्थात् पर्यायों से सत् की अभिन्नता होने से उस सत् का अपने परिणामों से कुछ भी भेद नहीं है।' अर्थात् जो पर्याय है वह द्रव्य का वर्तमान ही होने से द्रव्य की ही बनी हुई होने से (लहर में समुद्र ही होने से) वास्तव में कोई भेद नहीं है परन्तु भेदनय से भेद कहने में आता है इसलिये उसे कथंचित् भेदाभेद भी कहा जाता है।

भावार्थ :- 'जिस प्रकार लहरों के समूह को छोड़ने पर समुद्र कुछ भिन्न वस्तु सिद्ध नहीं हो सकता; इसी प्रकार अपने त्रिकालवर्ती परिणामों को छोड़ने पर गुण तथा द्रव्य भी कोई भिन्न वस्तु सिद्ध नहीं हो सकते।' अर्थात् पर्याय में ही द्रव्य छिपा है, द्रव्य पर्याय से वास्तविक भिन्न प्रदेशी नहीं है।

श्लोक २१४ : अन्वयार्थ :- 'परन्तु जो समुद्र है वही लहरें होता है क्योंकि वह समुद्र स्वयं ही लहर के रूप में परिणमन करता है।' अर्थात् द्रव्य ही (अव्यक्त ही) पर्यायरूप से (व्यक्तरूप से) व्यक्त होता है, परिणमन करता है।

श्लोक २१५ : अन्वयार्थ :- 'इसलिये सत् वह स्वयं ही उत्पाद है तथा वह सत् ही ध्रौव्य है तथा व्यय भी है क्योंकि सत् (द्रव्य) से पृथक् कोई उत्पाद अथवा व्यय अथवा ध्रौव्य नहीं है।'

द्रव्य-गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य व्यवस्था समझने के लिये इस गाथा का मर्म समझना अत्यन्त आवश्यक है कि वास्तव में द्रव्य अभेद है, भेद मात्र समझाने के लिये ही है, व्यवहार मात्र ही है।

श्लोक २१६ : अन्वयार्थ :- 'अथवा शुद्धता को विषय करनेवाले नय की अपेक्षा से उत्पाद भी नहीं, व्यय भी नहीं तथा ध्रौव्य, गुण और पर्याय भी नहीं परन्तु केवल एक सत् ही है।' अर्थात् शुद्ध नय से एक मात्र पंचमभावरूपी = परमपारिणामिकभावरूपी सत् ही है, वह वैसा का वैसा ही परिणमता है जो हम आगे देखेंगे।

भावार्थ :- 'शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, गुण और पर्याय इत्यादि कुछ भी नहीं है। केवल सर्व के समुदाय रूप एक सत् ही पदार्थ है (यह कथन वास्तविक= अभेद नय का है और यही कार्यकारी है इसलिये भेदरूप व्यवहार में रमने योग्य नहीं है परन्तु अभेद वस्तु में ही स्थिर होने योग्य है जो हम आगे देखेंगे।) क्योंकि जितनी कोई भेद विवक्षा है, वह सब पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से ही कल्पित करने में आती है (अर्थात् वास्तविक स्वरूप तो मात्र

अभेद ही है बाक़ी सब मात्र कल्पना ही है)। शुद्धद्रव्यार्थिक नय, किसी भी प्रकार के भेद को विषय नहीं बनाता इसलिये शुद्धद्रव्यार्थिक नय से निरन्तर सर्व अवस्थाओं में सत् ही प्रतीतिमान होता है (सर्व अवस्थाओं में = पर्याय में एकमात्र पंचमभावरूपी = परमपारिणामिकभावरूपी सत् ही प्रतीतिमान होता है) परन्तु उत्पाद-व्ययादिक नहीं। इसका स्पष्टीकरण-'

श्लोक २१७ : अन्वयार्थ :- 'सारांश यह है कि जो भेद होता है अर्थात् जिस समय भेद विवक्षित होता है, उस समय निश्चय से वे उत्पादादि तीनों प्रतीत होने लगते हैं तथा जिस समय वह भेद मूल से ही विवक्षित करने में नहीं आता उस समय वे तीनों (भेद) भी प्रतीत नहीं होते।'

भावार्थ :- 'ऊपर के कथन का सारांश यह है कि - पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है और दोनों नय (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) पदार्थ के सामान्य, विशेष धर्मों में से परस्पर सापेक्ष किसी एक धर्म को मुख्यरूप से तथा दूसरे धर्म को गौणरूप से विषय बनाते हैं (इसलिये द्रव्यार्थिक चक्षुवाले को जहाँ प्रमाणरूप द्रव्य, मात्र सामान्यरूप ही ज्ञात होता है, वहाँ पर्यायार्थिक चक्षुवाले को वह प्रमाणरूप द्रव्य मात्र पर्यायरूप ही ज्ञात होता है और प्रमाण चक्षु से देखने में आने पर वही प्रमाणरूप द्रव्य, उभयरूप अर्थात् द्रव्य-पर्याय स्वरूप ज्ञात होता है; इसलिये समझना यह है कि जिनसिद्धान्त में सब कुछ विवक्षावश अर्थात् अपेक्षा से कहा जाता है, न कि एकान्त से; इसलिये जब ऐसा प्रश्न होता है कि पर्याय किसकी बनी है? और उत्तर - द्रव्य की = ध्रौव्य की, ऐसा दिया जावे तो जिनसिद्धान्त नहीं समझनेवालों को लगता है कि पर्याय में द्रव्य कहाँ से आ गया? अरे भाई! पर्याय है वह द्रव्य का ही वर्तमान है और कोई भी वर्तमान उस द्रव्य का ही बना हुआ होगा न! दृष्टान्त - जैसे समुद्र में लहरें किसकी बनी हुई हैं? तो कहना पड़ेगा कि पानी की अर्थात् समुद्र की। मिट्टी का घड़ा किसका बना हुआ है? तो कहना पड़ेगा कि मिट्टी का। इसी प्रकार स्वर्ण के कुण्डलादिक आकारों की पर्यायें किसकी बनी हुई है? तो कहना पड़ेगा कि स्वर्ण की। अब पूछते हैं कि ज्ञेयाकार रूप पर्यायें किसकी बनी हुई है? तो कहना पड़ेगा कि ज्ञान की और वह ज्ञानसामान्य ही ज्ञायक है। ऐसी ही द्रव्य-पर्यायरूप वस्तुव्यवस्था है कि जिसे समझे बिना मिथ्यात्व का दोष खड़ा ही रहनेवाला है। इसी लिये यह वस्तुव्यवस्था सर्वप्रथम स्पष्टता से समझना अत्यन्त आवश्यक है।) जिस समय भेद विवक्षित होता है, उस समय अभेद गौण हो जाने से उत्पादादिक तीनों प्रतीत होने लगते हैं और जिस समय द्रव्यार्थिक नय द्वारा अभेदता विवक्षित होती है, उस समय भेद गौण हो जाने से उत्पादादिक तीनों में से किसी की प्रतीति नहीं होती। मात्र एक सत् ही सत् प्रतीतिमान होता है।'

जिनसिद्धान्त में त्रिकाल ध्रुवरूपी वस्तु अथवा पर्याय रहित द्रव्य को लक्ष्य में लेने की ऐसी ही विधि है। अभेद द्रव्य में से कुछ भी निकालना हो तो वह मात्र प्रज्ञा से = बुद्धि से ही (लक्ष्य करने से - मुख्य गौण करने से ही) निकाला जा सकता है, अन्यथा नहीं। इस पर हम आगे विचार करेंगे। अब शंकाकार नयी शंका करता है कि -

श्लोक २१८ : अन्वयार्थ :- 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि निश्चय से उत्पाद और व्यय ये दोनों ही अंश स्वरूप भले हों, परन्तु त्रिकालगोचर जो ध्रौव्य है, वह किस प्रकार अंशात्मक होगा?' - इस शंका का समाधान -

श्लोक २१९ : अन्वयार्थ :- 'ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वास्तव में ये तीनों अंश स्वयं सत् ही हैं सत् के नहीं। यहाँ सत् अर्थान्तरों की भाँति एक-एक होकर अनेक है, ऐसा नहीं है।'

भावार्थ :- 'ऊपर की शंका ठीक नहीं है क्योंकि जिनसिद्धान्त में सत् के उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य रूप अंश नहीं माने हैं परन्तु सत् स्वयं ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है (अर्थात् द्रव्य को एक, अखण्ड, अभेद स्वरूप ही माना है जो वास्तविकता है और वह स्वयं ही उत्पाद-व्यय रूप होता है) उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य ये तीनों प्रत्येक भिन्न-भिन्न पदार्थों की भाँति मिलकर अनेक नहीं हैं परन्तु विवक्षावश ही (भेदनय से अथवा मुख्य-गौण से) ये तीनों भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होते हैं। इसका स्पष्टीकरण -'

श्लोक २२० : अन्वयार्थ :- 'इस विषय में यह उदाहरण है कि - यहाँ जो उत्पाद रूप से परिणत सत् जिस समय उत्पाद द्वारा लक्ष्यमान होता है, उस समय वस्तु को केवल उत्पाद मात्र कहने में आता है।'

भावार्थ :- 'पदार्थ, अनन्त धर्मात्मक है, शब्द व नयात्मक ज्ञान के अंश द्वारा उसके सम्पूर्ण धर्म विषयभूत नहीं हो सकते इसलिये उन अनन्त धर्मों में जो ज्ञानांश या शब्द द्वारा जो कोई भी एक धर्म विषयभूत होता है, उस ज्ञानांश (प्रज्ञा = बुद्धि द्वारा) या शब्द द्वारा वस्तु उस समय केवल उसी धर्मरूपी जानने में आती है या कहने में आती है। (जैसे कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहने पर उसका मात्र ज्ञान गुण ही लक्ष्य में नहीं लेना है अपितु पूर्ण वस्तु अर्थात् पूर्ण आत्मा ही ज्ञानमात्र कहने से ग्रहण करना) इस न्यायानुसार जिस समय में नवीन-नवीन रूप से परिणत सत् उत्पादरूपी, ज्ञान तथा शब्द द्वारा विवक्षित होता है, उस समय वह सत् केवल उत्पाद मात्र कहने में आता है।' यहाँ कोई ऐसा कहे कि ध्रुव तो उत्पाद-व्यय से अलग होना ही चाहिये अथवा रखना ही चाहिये,

द्रव्य को केवल उत्पाद मात्र कैसे कह सकते हैं? तो उत्तर यह है कि वस्तु के (सत् के) एक अंश को लक्ष्य में लेकर अर्थात् मुख्य करके कथन करने में आये तो बाक़ी के समस्त अंश उसमें ही अन्तर्गर्भित हो जाते हैं अर्थात् एक को मुख्य करने पर बाक़ी सभी अपने आप ही गौण हो जाते हैं और उस मुख्य अंश से ही पूर्ण वस्तु का व्यवहार होता है (अर्थात् प्रतिपादन, प्रस्तुति होती है)। वहाँ प्रतिपादन अन्य अंशों को छोड़कर एक अंश का नहीं होता अपितु एक अंश को मुख्य और अन्य अंशों को गौण करके होता है। यही जिनसिद्धान्त के प्रतिपादन की शैली है, इसे ही स्याद्वाद कहा जाता है जो कि जिनसिद्धान्त का प्राण है।

श्लोक २२१ : अन्वयार्थ :- 'अथवा जिस समय यहाँ व्यय रूप से परिणत वह सत् केवल व्यय द्वारा निश्चय रूप से लक्ष्यमान होता है, उस समय वही सत् निश्चय से केवल व्यय मात्र क्या नहीं होगा? अवश्य होगा।'

श्लोक २२२ : अन्वयार्थ :- 'अथवा जिस समय ध्रौव्य रूप से परिणत सत् (केवल) ध्रौव्य द्वारा लक्ष्यमान होता है, उस समय उत्पाद-व्यय की भाँति वही का वही सत् ध्रौव्य मात्र है, ऐसा ही प्रतीत होता है।' अर्थात् पूर्व में बताये अनुसार द्रव्यार्थिक चक्षुवाले को जहाँ प्रमाणरूप द्रव्य, मात्र सामान्यरूप ही ज्ञात होता है अर्थात् ध्रुवरूप ही ज्ञात होता है, वहाँ पर्यायार्थिक चक्षुवाले को वही प्रमाणरूप द्रव्य मात्र पर्यायरूप ही ज्ञात होता है अर्थात् उत्पाद-व्ययरूप ही ज्ञात होता है। प्रमाण चक्षु से देखने में आने पर वही प्रमाणरूप द्रव्य, उभयरूप अर्थात् द्रव्य-पर्यायरूप ज्ञात होता है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप ज्ञात होता है; इसलिये समझना यह है कि जिनसिद्धान्त में प्रत्येक कथन विवक्षावश ही अर्थात् अपेक्षा से ही कहा जाता है न कि एकान्त से। इसलिये जब ऐसा प्रश्न उठता है कि पर्याय किसकी बनी है? और उत्तर- द्रव्य की = ध्रौव्य की, ऐसा दिया जाय तो जिनसिद्धान्त नहीं समझनेवालों को लगता है कि यह पर्याय में द्रव्य कहाँ से आ गया? अरे भाई! पर्याय द्रव्य का ही वर्तमान है। कोई भी वर्तमान उस द्रव्य का ही बना हुआ होगा न? जिनसिद्धान्त के अनुसार त्रिकाली ध्रुव वस्तु का स्वरूप ऐसा है, अन्यथा नहीं। अन्यथा लेने पर वह जिनमतबाह्य है। दृष्टान्त -

श्लोक २२३ : अन्वयार्थ :- 'मिट्टी रूप द्रव्य, सतात्मक घट द्वारा लक्ष्यमान होता हुआ केवल घटरूप ही कहने में आता है तथा वहाँ ही असतात्मक पिण्ड रूप द्वारा लक्ष्यमान होता हुआ केवल पिण्डरूप ही कहने में आता है।' और अब मिट्टीरूप (ध्रुवरूप) कहते हैं।

श्लोक २२४ : अन्वयार्थ :- 'अथवा वह मिट्टीरूप द्रव्य अगर यहाँ केवल मृतिकापन (मिट्टीत्व) से लक्ष्यमान होता है तो वह मिट्टी ही कहा जाता है, इस प्रकार एक सत् के ही उत्पादादिक तीनों इस सत् के अंश हैं।' एक अभेद सत् रूप वस्तु को अलग-अलग विवक्षाओं से देखने पर वह पूर्ण वस्तु ही उस स्वरूप कही जाती है, जैसे कि घट को मात्र मिट्टीरूप अर्थात् त्रिकाली ध्रुवरूप देखने से वह पूर्ण वस्तु (घट) मात्र मिट्टीरूप ही ज्ञात होती है, अर्थात् उसमें से घटत्व अथवा पिण्डत्व निकालना नहीं पड़ता वह अपने आप ही मिट्टीत्व में अंतर्भूत हो जाता है, अत्यन्त गौण हो जाता है। यही विधि है 'त्रिकाली ध्रुव द्रव्य को द्रव्यदृष्टि से निहारने की' अन्य विधि नहीं। यही आगे बताते हैं।

श्लोक २२५ : अन्वयार्थ :- 'परन्तु वृक्ष में फल, फूल तथा पत्र की भाँति कोई अंशरूप एक भाग से सत् का उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य नहीं है।' अर्थात् वास्तव में द्रव्य में ध्रुव और पर्याय ऐसे दो भाग नहीं हैं और उनके क्षेत्र भेद (भिन्न प्रदेश) भी नहीं हैं परन्तु एक ही वस्तु को अपेक्षा से - भेद नय से ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ :- 'जिस प्रकार वृक्ष में फूल, फल तथा पत्र इत्यादि भिन्न-भिन्न अंशों से रहते हैं और वह वृक्ष भी उनके संयोग से फल, फूल, पत्रादि वाला कहने में आता है, उस प्रकार सत् के किसी एक अंश से अलग उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नहीं है तथा न तो अलग-अलग अंशात्मक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से, द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही कहा जाता है। इसलिये शंकाकार का 'उत्पाद-व्यय को अंशात्मक मानना और ध्रौव्य को अंशात्मक न मानना' यह कथन (शंका) ठीक नहीं है।'

अब शंकाकार शंका करता है कि उत्पादादिक तीनों अंशों के होते हैं या अंशी के (द्रव्य के = सत् के) होते हैं? और ये तीनों सतात्मक अंश हैं या असतात्मक? इसका समाधान देते हैं-

श्लोक २२७ : अन्वयार्थ :- 'ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिनसिद्धान्त में निश्चय से अनेकान्त ही बलवान है। एकान्त बलवान नहीं है। इसलिये अनेकान्तपूर्वक समस्त ही कथन अविरुद्ध होते हैं तथा अनेकान्त के बिना समस्त कथन विरुद्ध हो जाते हैं।' मात्र शब्दों को पकड़कर हार्द समझे बिना कभी एकान्त अर्थ नहीं निकालना चाहिये क्योंकि जिनसिद्धान्त में प्रत्येक शब्द-प्रत्येक वाक्य किसी न किसी अपेक्षा के साथ ही होता है। इसलिये उन शब्दों अथवा वाक्यों को उस-उस अपेक्षानुसार समझकर ग्रहण करना आवश्यक है। अनेकान्त स्वरूप जिनसिद्धान्त के अनुसार ही अर्थ समझना योग्य है, अन्यथा एकान्त के दोष से मिथ्यात्व का दोष अवश्य ही आता है जो कि अनन्त भवभ्रमण बढ़ाने में समर्थ है। इसी लिये एकान्त ग्रहण और एकान्त के

आग्रह से बचकर प्रस्तुत किसी भी विधान को अनेकान्त स्वरूप समझाये अनुसार ग्रहण करके शीघ्रता से संसार से मुक्त होना चाहिये। मोक्षमार्ग पर चलने के लिये अनेकान्त ही सहायभूत है।

श्लोक २२८ : अन्वयार्थ :- 'यहाँ केवल अंशों के उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य नहीं होते, तथा अंशी के भी उत्पादादि तीनों नहीं होते परन्तु निश्चय से अंश से युक्त अंशी के ये उत्पादादिक तीनों होते हैं।' अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप द्रव्य कहा है, वह पूर्ण अभेद है और वह अभेदरूप ही परिणमता है और वह पूर्ण द्रव्य ही उत्पादादि रूप होता है; उसमें कोई अंशरूप विभाग नहीं है, मात्र अपेक्षा से कहे जाते हैं।

श्लोक २२९ : भावार्थ :- 'शंकाकार का कहना है कि शब्द या अर्थ दृष्टि से उत्पादादि एक पदार्थ में बन सकते हैं, वैसे ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय किसी एक पदार्थ में सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि उत्पाद-व्यय अनित्यपने के साधक हैं और ध्रौव्य नित्यपने का साधक है, इसलिये ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय, ये दोनों परस्पर विरोधी होने से उन्हें एक पदार्थ का मानना तो प्रत्यक्ष बाधित है। उसका समाधान-'

श्लोक २३०-२३१ : अन्वयार्थ :- 'ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय परस्पर विरोधी हैं, यह बात ठीक है परन्तु यदि निश्चय से इन तीनों में क्षण भेद अर्थात् भिन्न-भिन्न समय हो तो अथवा निश्चय से सत् स्वयं ही नाश होता हो (अर्थात् सत् परिवर्तित न होकर नाश होता हो), तथा सत् स्वयं ही उत्पन्न होता हो (अर्थात् सत् परिवर्तित न होकर नाश होकर नया उत्पन्न होता हो) तो परस्पर विरुद्ध कथन होता परन्तु इन उत्पादादिक तीनों का क्षण भेद अथवा स्वयं सत् का ही नाश पाना या उत्पन्न होना वह किसी भी जगह, किसी भी हेतु से कुछ भी, किसी का भी, किसी भी प्रकार से नहीं होता, क्योंकि इस जगह उसका दृष्टान्त भी नहीं मिलने से, उसके साधक प्रमाण का अभाव है।'

श्लोक २३८ : अन्वयार्थ :- 'न्याय बल से यह सिद्ध हुआ कि ये तीनों (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) एक कालवर्ती है क्योंकि वृक्षत्व जो है वही अंकुर के रूप में उत्पन्न और बीजरूप से नष्ट होनेवाला है।' अर्थात् पूर्ण द्रव्य ही एक पर्याय से नष्ट होकर दूसरी पर्याय के रूप में परिवर्तित होता रहता है और इसी लिये ही उसे ध्रुव कहा जाता है, उसकी पूर्व पर्याय को व्ययरूप और वर्तमान पर्याय को उत्पादरूप कहा जाता है, अर्थात् उस द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप कोई अलग अंश नहीं, मात्र वस्तुव्यवस्था समझाने के लिये ऐसे भेद करके बताया है कि - जो भी

द्रव्य है, वह द्रवता है अर्थात् परिणमता है, अर्थात् परिवर्तित होता रहता है और वह परिवर्तित होते हुए द्रव्य को ध्रुव कहा जाता है। जबकि उसके परिणाम को - अवस्था को पर्याय (उत्पाद-व्यय) कहा जाता है।

श्लोक २४३ : अन्वयार्थ :- 'प्रकृत कथन में ऐसा मानने में आया है कि सत् को किसी अन्य (पूर्व) पर्याय से विनाश तथा किसी अन्य (वर्तमान) पर्याय से उत्पाद तथा उन दोनों से भिन्न किसी सदृश पर्याय से (द्रव्य सामान्यरूप कि जिसकी दोनों पर्यायें बनी हैं और जो सामान्यरूप होने से वैसा का वैसा ही उत्पन्न होता है इसलिये उसे सदश पर्याय = परमपारिणामिकभाव कहा जाता है) ध्रौव्य होता है।' अब इसका ही उदाहरण बताते हैं-

श्लोक २४४ : अन्वयार्थ :- 'यहाँ उदाहरण वृक्ष की भाँति है कि जैसे वह वृक्ष सतात्मक अंकुररूप से स्वयं ही (अर्थात् वृक्ष स्वयं ही अर्थात् द्रव्य स्वयं ही) उत्पन्न है, बीजरूप से नष्ट है (पूर्व पर्याय से नष्ट कहा जाता है) तथा दोनों अवस्थाओं में वृक्षत्व से ध्रौव्य है। (समझना यह है कि वृक्षरूप ध्रौव्य किसी पर्याय से भिन्न अपरिणामी विभाग नहीं परन्तु जो पर्याय है वह विशेष है और उसका ही सामान्य अर्थात् वह जिसकी बनी हुई है, उसे ही ध्रौव्य कहा जाता है अर्थात् अन्य कोई अपरिणामी ध्रौव्य अलग नहीं है। यह समझना आवश्यक है कि-वह द्रव्य ही है कि जिसकी पर्याय बनी हुई है, वह द्रव्यत्व से ध्रौव्य) ऐसा भी है अर्थात् वृक्ष में (अर्थात् द्रव्य में) अलग-अलग अपेक्षा से ये तीनों (बीज, अंकुर और वृक्षत्व अर्थात् व्यय, उत्पाद और ध्रौव्यत्व) एक समय में होता है।' यही जिनसिद्धान्त के अनुसार वस्तु का स्वरूप है। मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को यही स्वीकार्य होना चाहिये।

भावार्थ :- '...बीज के अभाव और अंकुर के उत्पादरूप दोनों अवस्थाओं में सामान्यरूप से वृक्षत्व मौजूद है...' अर्थात् समझना यह है कि विशेषरूप अवस्थायें (पर्यायें) सामान्यरूप (द्रव्य) की ही बनी हुई है।

श्लोक २४६ : अन्वयार्थ :- 'जिस कारण से उत्पाद और व्यय इन दोनों की आत्मा स्वयं सत् है (अर्थात् उत्पाद-व्यय पर्याय सत् रूप द्रव्य की ही बनी है कि जिसे सामान्य यानी ध्रौव्य कहा जाता है) ये दोनों तथा ध्रौव्य ये तीनों सत् ही हैं, सत् से भिन्न नहीं (भिन्न प्रदेशी नहीं)।' वास्तव में वस्तु अभेद होने से ही ऐसी वस्तुव्यवस्था घटित होती है। अब सारांश-

श्लोक २४७ : अन्वयार्थ :- 'पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से उत्पाद है, व्यय है तथा

ध्रौव्य है परन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से न उत्पाद है, न व्यय है तथा न ध्रौव्य है।'

इसलिये हम जब द्रव्य-पर्याय स्वरूप वस्तु को अर्थात् प्रमाणरूप द्रव्य को मात्र द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुव कहते हैं तब किसी को प्रश्न होगा कि-इसमें प्रमाण का द्रव्य क्यों लिया जाता है? तो उसका उत्तर यह है कि - जैसी आपकी दृष्टि होगी, वैसा ही द्रव्य आपको दिखेगा। जो द्रव्य को प्रमाणदृष्टि से देखते हैं, उन्हें वह द्रव्य = वस्तु प्रमाणरूप दिखेगा, जो पर्यायदृष्टि से देखे उसे वह द्रव्य मात्र पर्यायरूप ज्ञात होगा और उसी प्रमाण के द्रव्य को यदि द्रव्यार्थिक नय के चक्षु से निरखा जाये तो वह पूर्ण वस्तु (पूर्ण द्रव्य) मात्र त्रिकाली ध्रुवरूप ही ज्ञात होगा कि जो पर्याय से निरपेक्षरूप सामान्य मात्र ही है; यही जिनसिद्धान्त की विलक्षणता है, कमाल है और यही विधि है पर्याय रहित द्रव्य को पाने की। **इसलिये सभी से हमारा निवेदन है कि सर्वप्रथम आप 'जैसा है वैसा' वस्तुव्यवस्था समझेंगे तो आपको अपने प्रश्न का उत्तर अपने आप ही मिल जायेगा। इसी कारण यह बात इतने विस्तार से समझायी है और उसमें पुनरावृत्ति का दोष सेवन करके भी बारम्बार उसी बात को स्पष्ट किया है कि वस्तुव्यवस्था और स्याद्वाद शैली समझे बिना शब्द और वाक्यों के अर्थ समझना अत्यन्त कठिन है। लेकिन अनेकान्त स्वरूप वस्तुव्यवस्था समझने के बाद वह अत्यन्त सरल है, यही बात आगे स्पष्ट करते हैं।**

श्लोक २५४ : अन्वयार्थ :- 'ध्रौव्य भी उत्पाद-व्यय के बिना नहीं होता क्योंकि वहाँ विशेष के अभाव में सतात्मक सामान्य का भी अभाव होता है' अर्थात् उत्पाद-व्ययरूप विशेष ध्रौव्यरूप सामान्य का ही बना है। इसी से एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव होता है।

भावार्थ :- 'वस्तु सामान्य विशेषात्मक है, विशेष निरपेक्ष सामान्य तथा सामान्य निरपेक्ष विशेष वह कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होती, ध्रौव्य सामान्यरूप है और उत्पाद-व्यय विशेषरूप है। इसलिये उत्पाद-व्यय बिना ध्रौव्य भी नहीं बन सकता, क्योंकि उत्पाद-व्ययात्मक विशेष के बिना ध्रौव्यात्मक सामान्य की भी सिद्धि नहीं हो सकती-इसलिये -'

श्लोक २५५ : अन्वयार्थ :- 'इस प्रकार यहाँ उत्पादादिक तीनों की व्यवस्था बहुत सुन्दर है **परन्तु उन उत्पादादिक तीनों में से किसी एक के निषेध को कहनेवाला अपने पक्ष का भी घातक होता है।** इसलिये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य में से केवल एक की व्यवस्था मानना ठीक नहीं है।' **यहाँ स्पष्ट होता है कि यदि कोई अभेद द्रव्य में से पर्याय को अलग करने**

का प्रयत्न करेगा अर्थात् जिसे पर्याय रहित द्रव्य इष्ट होगा तो उसके लिये पूर्ण द्रव्य का ही लोप हो जायेगा, अर्थात् वह मात्र भ्रम में ही रह जायेगा। इसलिये पर्याय रहित द्रव्य पाने की विधि जो ऊपर बतायी है, वैसे द्रव्यार्थिक नय के चक्षु से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से है। मात्र द्रव्य को ही ध्यान में लेने से वह पूर्ण द्रव्य कि जिसे आप प्रमाण का द्रव्य भी कह सकते हैं, वैसा पूर्ण द्रव्य ही मात्र द्रव्यरूप अर्थात् ध्रुवरूप ही ज्ञात होगा, उसका ही लक्ष्य होगा। इसलिये पर्याय रहित द्रव्य चाहिये तो उसकी विधि ऐसी ही है। अन्य किसी प्रकार से तो द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा और वह स्वयं अपने पक्ष का ही घातक बनकर मात्र भ्रम में ही रहेगा।

दूसरे, कोई वर्तमान पर्याय को दृष्टि के विषय से बाहर रखे तो पूर्ण द्रव्य ही बाहर हो जायेगा। ऐसा है वस्तुस्वरूप। ऐसी है वस्तुव्यवस्था जिनसिद्धान्त की, जो कि अनेकान्तमय है, एकान्तमय नहीं। इस विधि से द्रव्य को परिणामी नहीं माननेवाले को क्या दोष आयेगा? उत्तर–

श्लोक २५८ : अन्वयार्थ :– 'निश्चय से केवल एक ध्रौव्यत्व का विश्वास करने–माननेवाले के लिये भी द्रव्य परिणामी नहीं बनेगा। उसका परिणामीपन न होने से वह ध्रौव्य, ध्रुव भी नहीं रह सकेगा।' **यहाँ समझना यह है कि जो कोई ध्रौव्यरूप द्रव्य को अपरिणामी मानते हों तो, वह ऐसा एकान्त से नहीं क्योंकि यदि ध्रौव्य अपरिणामी हो तो द्रव्य का ही अभाव होगा।** इस कारण से ध्रौव्य का भी अभाव ही होगा, क्योंकि कोई भी वस्तु अपने वर्तमान के बिना नहीं होती। कोई भी द्रव्य (ध्रौव्य) उसकी अवस्था (वर्तमान = पर्याय) बिना होता ही नहीं और यदि ऐसा माना जाये तो उस द्रव्य के ध्रौव्य का ही अभाव हो जायेगा; इस कारण से उस ध्रौव्य को अवश्य परिणामी मानना पड़ेगा और वह परिणाम (अर्थात् उपादानरूप ध्रौव्य का कार्य – उसकी अवस्था) को ही उत्पाद–व्ययरूप पर्याय कहा जाता है। और उसमें (पर्याय में) रहे हुए सामान्यभाव (अर्थात् पर्याय जिसकी बनी है वह भाव) को ध्रौव्य कहा जाता है। 'यह वैसा ही है' यही उसका लक्षण है। और इस लक्षण अपेक्षा से उसे अपरिणामी भी कहा जाता है। अन्यथा नहीं। अन्यथा समझने से तो मिथ्यात्व का ही दोष आयेगा। उपसंहार–

श्लोक २६० : अन्वयार्थ :– 'ऊपर के दोषों के भय से तथा प्रकृत आस्तिकता को चाहनेवाले पुरुषों को यहाँ पर उत्पादादिक तीनों को उपरोक्त अविनाभावी ही मानना चाहिये।'

अर्थात् यह बात लक्ष्य में लेने योग्य है कि–जो कोई इस प्रकार से वस्तुव्यवस्था न मानते हों, उन्हें मिथ्यात्वी ही समझना। जो कोई आत्मार्थी है उन्हें यहाँ बतायी गई

वस्तुव्यवस्था को ही सम्यक् समझकर अपनाना परम आवश्यक है, अन्यथा मिथ्यात्व के दोष के कारण उसे अनन्त दु:ख से छुटकारा मिलेगा ही नहीं।

दूसरे, पंचाध्यायी शास्त्र में इसके अतिरिक्त भी इसी बात को पुष्ट करनेवाले अनेक श्लोक हैं परन्तु विस्तार भय के कारण अब हम विशेष महत्त्व के श्लोक ही देखेंगे; विस्तार रुचिवालों को इस शास्त्र का पूर्ण रूप से अभ्यास करना चाहिये।

श्लोक ३०३ : अन्वयार्थ :- 'जो सत् विधिरूप (अन्वयरूप, ध्रुवरूप, सामान्यरूप, द्रव्यरूप) अथवा निषेधरूप (अर्थात् व्यतिरेकरूप-उत्पादव्ययरूप-विशेषरूप-पर्यायरूप) भी कहा है, वही सत् (वस्तु = द्रव्य) यहाँ परस्पर की अपेक्षा से किसी एक में कोई दूसरा गर्भित हो जाने से कहा जा सकता है अर्थात् परस्पर सापेक्ष होने से एक-दूसरे में गर्भित हो जाता है।' यानी निषेधरूप पर्याय है। वह विधिरूप ध्रुव की ही बनी है। इसलिये वे दोनों एक-दूसरे में गर्भित हो जाते हैं और अपेक्षा अनुसार कोई एक ही (द्रव्यार्थिक नय या पर्यायार्थिक नय से) ज्ञात होते हैं, जबकि प्रमाण चक्षु से उभय अर्थात् दोनों ज्ञात होते हैं।

भावार्थ :- 'वस्तु अन्वय-व्यतिरेकात्मक सिद्ध होने से जिस समय वस्तु विधिरूप कही जाती है, उस समय निषेधरूप विशेष धर्म गौणरूप से उस विधि में गर्भित हो जाता है (अर्थात् ध्रुव में पर्याय गर्भित हो जाती है) ऐसा समझना, तथा जिस समय वही वस्तु निषेधरूप से विवक्षित होती है, उस समय विधिरूप सामान्य भी उसी निषेध में गौणरूप से गर्भित हो जाता है (अर्थात् पर्याय में ध्रुव गर्भित हो जाता है-अर्थात् पर्याय ध्रुव की ही बनी है) ऐसा समझना, क्योंकि अस्ति-नास्ति सर्वथा पृथक् नहीं परन्तु परस्पर सापेक्ष है। इसलिये विवक्षित की मुख्यता में अविवक्षित गौणरूप से गर्भित रहता है।' जिनसिद्धान्त में अभाव करने की यह विधि मुख्य गौणरूप व्यवस्था है। इसलिये जिसे अन्य विधि का आग्रह है-पक्ष है, उसे नियम से मिथ्यात्वी जानना चाहिये।

श्लोक ३०७ : अन्वयार्थ :- 'सारांश यह है कि विधि ही स्वयं (अन्वय ही स्वयं, ध्रुव ही स्वयं, सामान्य ही स्वयं, द्रव्य ही स्वयं) युक्तिवशात् (अर्थात् पर्यायार्थिक नय से, पर्यायदृष्टि से, भेददृष्टि से) निश्चय से (यहाँ याद रखना निश्चय से बताया है) निषेधरूप (अर्थात् व्यतिरेक, उत्पाद-व्यय, विशेष, पर्याय) हो जाता है तथा उसी तरह निषेध भी (अर्थात् व्यतिरेक-उत्पाद-व्यय-विशेष-पर्याय) स्वयं ही युक्तिवश से (अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से, द्रव्यदृष्टि से, अभेददृष्टि से) विधिरूप (अर्थात् अन्वय, ध्रुव, सामान्य, द्रव्य) हो जाता है।' **वस्तुव्यवस्था समझने के**

लिये अब इस गाथा से अधिक प्रमाण क्या चाहिये! यहाँ यही बताया है कि द्रव्यदृष्टि अथवा पर्यायदृष्टि अनुसार एक ही वस्तु क्रम से द्रव्य (ध्रुव) अथवा पर्याय (उत्पाद-व्यय) ज्ञात होती है। वहाँ कोई क्षेत्र अपेक्षा से विभाग नहीं है। यही विधि है जिनसिद्धान्त की पर्याय रहित द्रव्य को देखने की, इसी लिये ही आचार्य भगवान ने आगे के श्लोक में कहा है कि –

श्लोक ३०८ : अन्वयार्थ :– 'इस प्रकार यहाँ तत्त्व को जाननेवाले कोई भी जैन तत्त्व ज्ञाता स्याद्वादी कहलाते हैं तथा इससे अन्यथा जाननेवाले सिंहमाणवक (बिल्ली को सिंह माननेवाले) कहलाते हैं।'

भावार्थ :– 'इस प्रकार अनेकान्तात्मक तत्त्व को विवक्षावश विधि और निषेधरूप जाननेवाला कोई जैन ही सच्चा तत्त्वज्ञानी तथा स्याद्वादी कहलाता है। इससे अन्य प्रकार से वस्तु स्वरूप को जाननेवाला पुरुष सच्चा तत्त्वज्ञानी या स्याद्वादी नहीं कहा जा सकता। वह सिंहमाणवक कहलाता है। जैसे बिल्ली को सिंह कहा जाता है परन्तु वास्तव में वह सिंह नहीं किन्तु बिल्ली ही है। उपरोक्तानुसार तत्त्व को न जानकर अन्यथा प्रकार से जाननेवाले पुरुषों को भी उपचार से ही तत्त्वज्ञानी कहा जा सकता है। वास्तव में नहीं।' यह बात लक्ष्य में लेने योग्य है कि जो कोई यहाँ बतायी गयी विधि से वस्तुव्यवस्था न मानते हों, उन्हें नियम से मिथ्यात्वी ही समझना चाहिये। आगे भी ग्रन्थकार यही वस्तुव्यवस्था पुष्ट करते हैं। जैसे कि –

श्लोक ३३१ : भावार्थ :– 'तद्भाव और अतद्भाव को (परस्पर) निरपेक्ष मानने से पूर्वोक्त कार्य-कारण भाव के अभाव का प्रसंग आता है परन्तु यदि दोनों को (परस्पर) सापेक्ष माना जाये तो 'तदिदं' (यह वैसा ही है) 'तदिदं न' (यह वैसा नहीं) इस आकारवाले तत्भाव और अतत्भाव प्रतीति में कार्य-कारण तथा क्रिया-कारक ये सब सिद्ध हो जाते हैं।'

श्लोक ३३२ : अन्वयार्थ :– 'सारांश यह है कि सत्-असत् की तरह तत् तथा अतत् भी विधि निषेधरूप होते हैं परन्तु निरपेक्षरूप से नहीं, क्योंकि परस्पर सापेक्षरूप से तत्-अतत् ये दोनों भी तत्त्व हैं।' अन्यथा निरपेक्षरूप से वह अतत्त्व ही है यह समझना आवश्यक है।

श्लोक ३३३ : अन्वयार्थ :– 'पूर्वोक्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जिस समय केवल तत् की विधि मुख्य होती है, उस समय कथंचित् अपृथक् होने के कारण से अतत् गौण

हो जाता है। इसलिये वस्तु सामान्यरूप से तन्मात्र कहलाती है।' **यही विधि है त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की प्राप्ति की।**

श्लोक ३३४ : अन्वयार्थ :- 'तथा जिस समय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से केवल अतत् यह विवक्षा करने योग्य विधि मुख्य होती है, उस समय तत् स्वयं गौण होने से अविवक्षित रहता है इसलिये वस्तु को अतन्मात्र कहने में आता है।' **ऐसा है जिनसिद्धान्तानुसार वस्तु का स्वरूप, जो समझे बिना विकृत धारणाओं का अन्त शक्य ही नहीं है।** विकृत धारणाओं का अन्त मोक्षमार्ग के प्रवेश के लिये अत्यन्त आवश्यक है, अर्थात् सम्यग्दर्शन के लिये विकृत धारणाओं का अन्त और सम्यक् धारणा का स्वीकार बहुत ज़रूरी है।

श्लोक ३३७ : अन्वयार्थ :- 'ठीक है, परन्तु निश्चय से 'सर्वथा' इस पदपूर्वक सर्व कथन स्व-पर के घात के लिये हैं परन्तु स्यात् पद द्वारा युक्त सर्व पद स्व-पर के उपकार के लिये हैं।' स्याद्वाद के बिना किसी का भी उद्धार नहीं है यह बात सभी को ज़रा भी भूलने योग्य नहीं है।

श्लोक ३३८ : अन्वयार्थ :- 'अब इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे सत् स्वत: सिद्ध है (नित्य है), उसी प्रकार वह परिणमनशील भी है। (उत्पाद-व्यय रूप = अनित्य भी है) इसलिये एक ही सत् दो स्वभाववाला होने से (यहाँ दो स्वभाववाला बताया है-दो भागवाला नहीं समझना) वह नित्य तथा अनित्य रूप है।' ऐसा सम्भव नहीं कि एक भाग अपरिणामी और एक भाग परिणामी हो। अपेक्षा से ध्रुव को अपरिणामी कहा जाता है परन्तु वैसा माना नहीं जाता।

श्लोक ३३९-३४० : अन्वयार्थ :- 'सारांश यह है कि जिस समय यहाँ केवल द्रव्य (ध्रुव = द्रव्य) दृष्टिगत होता है, परिणाम दृष्टिगत नहीं होते, उस समय वहाँ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वस्तुत्व (द्रव्यत्व) का नाश नहीं होने से सम्पूर्ण वस्तु (यहाँ ध्यान में लेने योग्य बात यह है कि सम्पूर्ण वस्तु बतायी हुई है उसमें से कुछ भी निकालने में नहीं आया - सम्पूर्ण वस्तु अर्थात् प्रमाण का विषय) नित्य है (ध्रुव है)। अथवा जिस समय निश्चय से केवल परिणाम दृष्टिगत होते हैं, वस्तु (ध्रुव = द्रव्य) दृष्टिगत नहीं होती, उस समय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से नवीन पर्याय की उत्पत्ति तथा पूर्व पर्याय का अभाव होने से सम्पूर्ण वस्तु ही अनित्य है (अर्थात् पर्यायरूप है)।' इसलिये समझना यह है कि जो पर्यायार्थिक नय के विषयरूप पर्याय है, उसी में द्रव्य अन्तर्गत = गर्भित हो जाने से वह पर्याय उस द्रव्य की ही बनी है, ऐसा कहा जा सकता है और वही द्रव्य अगर शुद्ध नय से शुद्ध देखने में आवे तो वही पंचमभाव अर्थात् परमपारिणामिकभाव है। इस कारण

से किसी को प्रश्न हो कि समयसार गाथा १३ में बताया है कि 'नौ पदार्थ में (तत्त्व में) छिपी हुई आत्मज्योति' वह क्या है? तो उसका उत्तर यह है कि वह शुद्ध नय से परमपारिणामिक भाव ही है, यह बात हम आगे विस्तार से समझेंगे।

श्लोक ४११ : अन्वयार्थ :- 'निश्चय से अभिन्न प्रदेश होने से कथंचित् सत् (ध्रुव = द्रव्य) और परिणाम में अद्वैतता है तथा दीपक और प्रकाश की भाँति संज्ञा-लक्षणादि द्वारा भेद होने से सत् और परिणाम में द्वैत भी है।' अर्थात् द्रव्य और पर्याय ये दोनों अभिन्नप्रदेशी होने से अभेद हैं और लक्षण द्वारा भेद करने पर भेद रूप भी हैं, इसलिये कथंचित् भेद-अभेद रूप कहे जाते हैं।

श्लोक ४१२ : अन्वयार्थ :- 'सत् और परिणाम की द्वैतता जल और उसकी तरंगों की भाँति अभिन्न तथा भिन्न भी है क्योंकि जल तथा तरंगों में से जिस समय तरंगों की अपेक्षा से विचार किया जाता है उस समय तरंगें उदित होती हैं तथा विलीन होती हैं, इसलिये वे जल से कथंचित् भिन्न हैं। तथा जिस समय जल की अपेक्षा से विचार किया जाता है, उस समय वे तरंगें उदयमान तथा विलयमान ही नहीं होती परन्तु केवल जल ही जल प्रतीतिमान होता है; इसलिये वे जल से कथंचित् अभिन्न भी हैं। इस प्रकार सत् (ध्रुव) और परिणाम भी कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न हैं।' यही विधि है त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की प्राप्ति की, दूसरी नहीं। इससे अन्यथा मानने से मिथ्यात्व का दोष आता है। अब आगे घट और मृत्तिका का दृष्टान्त बताते हैं।

श्लोक ४१३ : अन्वयार्थ :- 'घट और मृत्तिका के द्वैत की भाँति यह सत् और परिणाम का द्वैत, द्वैत होने पर भी अद्वैत है, क्योंकि केवल मिट्टीत्व के रूप से नित्य है, तथा केवल घटत्व के रूप से अनित्य है।'

श्लोक ४१४ : अन्वयार्थ :- 'सत् के विषय में प्रत्यभिज्ञान प्रमाण प्राप्त होने से सत् नित्य है जैसे कि 'यह वही है' तथा नियम से 'यह वह नहीं' इस प्रतीति से सत् नित्य नहीं अर्थात् अनित्य है।'

श्लोक ५९१ : भावार्थ :- 'नयों की परस्पर सापेक्षता वह नयों के अन्यथारूप से न होनेवाले अविनाभाव की द्योतक है क्योंकि जिसके बिना जिसकी सिद्धि न हो उसे अविनाभावी कहते हैं। सामान्य के बिना विशेष की तथा विशेष के बिना सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये

सामान्य को विषय करनेवाला जो द्रव्यार्थिक नय है तथा विशेष को विषय करनेवाला जो पर्यायार्थिक नय है, उन दोनों में परस्पर सापेक्षता है।'

हमने यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याययुक्त सत् स्वरूप वस्तु अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप सत् रूप द्रव्य की व्यवस्था पूर्णत: समझायी है। उसे समझकर आशा है, सभी व्यक्ति सम्यग्दर्शन की विधि, आत्मा की योग्यताएँ और सम्यग्दर्शन के विषय पर थोड़ा विचार करेंगे और उसका शास्त्रीय आधार देखेंगे।

- ❒ कई लोग यह सोचकर कि हमारा व्यवहार तो ठीक है अब हमें सिर्फ़ निश्चय को ही ग्रहण करना शेष है, अकेले बौद्धिकरूप निश्चय का ही भरपूर सेवन करने लगते हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि यदि आत्मानुभूति का लक्ष्य न हो तो व्यवहार भी व्यवहाराभास कहा जाता है। जिसे एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही लक्ष्य हो उसके बाँट और तराज़ू (सफलता के पैमाने/मूल्यांकन के मानक) अपने आप बदल जाते हैं। मूल्यांकन के बाँट और तराज़ू बदलने से साधक को बाहरी जगत का सब कुछ असार और निरर्थक लगने लगता है और वह स्वयमेव अपनी अत्यन्त मूल्यवान आत्मा के सन्मुख होने लगता है। आत्मप्राप्ति की यही रीति है। उसके लिये बौद्धिक निश्चय के अतिरेक की कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, जिसने निश्चय नय को विपरीत रूप से ग्रहण किया हो उसे सम्यक् निश्चय समझना आवश्यक है।
- ❒ सम्यक् निश्चय यानी आत्मस्वरूप का जो वर्णन है वह मैं अभी भी प्रकट (अनुभव) कर सकता हूँ, मगर अभी पर्याय में ही वैसा हूँ – ऐसा नहीं। अगर पहली कक्षा में पढ़नेवाला विद्यार्थी भ्रम से स्वयं को डॉक्टर मानने लगे तो फिर वह आगे पढ़ेगा ही क्यों? वह या तो पढ़ना ही छोड़ देगा या फिर पढ़ाई के प्रति निरुत्साहित हो जायेगा। यही हाल निश्चय को ग़लत ढंग से समझनेवालों का है। वे अपने को भ्रम से शुद्ध, अकर्ता, अभोक्ता, ध्रुव, ज्ञाता-दृष्टा, साक्षी, परमपुरुष, सिद्धसम, मुक्त मानने की बातें करते हैं। ऐसा करके वे लोग निश्चयाभासी बनकर अपनी इस ज़िन्दगी को बर्बाद करके अनन्तकाल तक अपने को संसार में रुलाने (भटकाने) के लिये स्वयं ज़िम्मेदार होते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

९

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग के द्वार समान है। पूर्ण भेदज्ञान स्वरूप स्वात्मानुभूतियुक्त सम्यग्दर्शन हुए बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश सम्भव ही नहीं है। ऐसे भेदज्ञानयुक्त-स्वात्मानुभूतियुक्त सम्यग्दर्शन को ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वही मोक्षमार्ग के प्रवेश के लिये वास्तविक अनुमतिपत्र (visa) है और यह अनुमतिपत्र मिलने के बाद वह जीव नियम से अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में सिद्ध हो ही जाता है, इस कारण से इस जीवन में सबसे पहले यदि कुछ प्राप्त करने योग्य है तो वह सम्यग्दर्शन ही है।

प्रथम हम सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझेंगे। सम्यग्दर्शन अर्थात् देव-गुरु-धर्म का स्वरूप जैसा है वैसा समझना, अन्यथा नहीं और जब तक कोई भी आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप नहीं समझती अर्थात् स्व की अनुभूति नहीं करती, तब तक देव-गुरु-धर्म का यथार्थ स्वरूप भी नहीं जानती परन्तु वह देव-गुरु-धर्म के मात्र बाह्य स्वरूप की ही श्रद्धा करती है। वह उसे ही सम्यग्दर्शन समझती है। मात्र देव-गुरु-धर्म के बाह्य स्वरूप की श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं है और इसलिये वह निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है क्योंकि जो एक को (आत्मा को) जानता है वह सबको (जीव-अजीव इत्यादि नौ तत्त्व और देव-गुरु-धर्म के यथार्थ स्वरूप को) जानता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि जो अन्यथा है वह व्यवहार (उपचार) कथन है और इसलिये वह सम्यग्दर्शन भव के अन्त के लिये कार्यकारी नहीं है। स्वात्मानुभूति से ही वह जीव सच्चे देव तत्त्व का आंशिक अनुभव करता है और इसीलिये वह सच्चे देव को अन्तर से पहचानता है और वैसे सच्चे देव को जानते ही अर्थात् (स्वात्मानुभूतिसहित) श्रद्धा होते ही वह जीव वैसे देव बनने के मार्ग में गमनशील सच्चे गुरु को भी अन्तर से पहचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसा देव बनने के मार्ग बतानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहचानता है।

इसलिये प्रथम तो शरीर को आत्मा न समझना और आत्मा को शरीर न समझना अर्थात् शरीर में आत्मबुद्धि होना मिथ्यात्व है। शरीर तो पुद्गल (जड़) द्रव्य का बना हुआ है और आत्मा अलग ही (चेतन) द्रव्य होने से पुद्गल को आत्मा समझना अथवा आत्मा को पुद्गल समझना विपरीत समझ है। वास्तव में पुद्गल से भेदज्ञान वाला, स्व के अनुभवरूप ही वास्तविक सम्यग्दर्शन होता है और वह कर्म से देखने में आये तो कर्मों की पाँच/सात प्रकृति के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय को सम्यग्दर्शन कहा जाता है। परन्तु छद्मस्थ को कर्मों का ज्ञान तो होता नहीं, इसलिये

हमें तो प्रथम कसौटी से अर्थात् पुद्गल से भेदज्ञान और स्वानुभव (आत्मानुभूति) को ही सम्यग्दर्शन समझना उचित है।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन के लिये क्या करना ज़रूरी है?

उत्तर :- भगवान ने कहा है कि सर्व जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं तो आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित यह बात समझना आवश्यक है। नियमसार में कहा है कि-

गाथा ४७ : अन्वयार्थ :- 'जैसे सिद्ध आत्मा हैं, वैसे ही भवलीन (संसारी) जीव हैं। संसारी जीव भी सिद्ध आत्माओं की भाँति जन्म-मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हो सकते हैं।' यह बात शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से है जो कि सम्यग्दर्शन का स्वरूप और स्वात्मानुभूति समझने के लिये उपयोगी है।

गाथा ४८ : अन्वयार्थ :- 'जैसे लोकाग्र में सिद्ध अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल, और विशुद्धात्मा (विशुद्ध स्वरूपी) हैं वैसे ही संसार में (सर्व) जीव को जानना।'

गाथा १५ : अन्वयार्थ :- 'मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप पर्यायें, ये विभावपर्यायें कही गयी हैं। कर्मोपाधिरहित पर्यायें स्वभाव पर्यायें कही जाती हैं।'

गाथा ४९ : अन्वयार्थ :- 'ये (पूर्वोक्त) सभी भाव वास्तव में व्यवहार नय के आश्रय से (संसारी जीवों में विद्यमान) कहे जाते हैं; शुद्ध नय से संसार में स्थित सर्व जीव सिद्ध स्वभावी हैं।'

श्लोक ७३ : श्लोकार्थ :- 'शुद्ध निश्चय नय से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है - ऐसा ही वास्तव में तत्त्व विचारने पर (परमार्थ वस्तुस्वरूप का विचार अथवा निरूपण करने पर) शुद्ध तत्त्व के ज्ञानी पुरुष कहते हैं।'

गाथा ५०: अन्वयार्थ :- 'पूर्वोक्त सभी भाव परस्वभाव हैं, पर द्रव्य हैं, इसलिये हेय हैं; अन्त:तत्त्व ऐसा स्वद्रव्य-आत्मा ही उपादेय है।'

गाथा १०६ : अन्वयार्थ :- 'इस प्रकार जो सदा जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है, वह संयत नियम से प्रत्याख्यान धारण करने में समर्थ है।'

गाथा १० : अन्वयार्थ :- 'जीव उपयोगमय है। उपयोग ज्ञान और दर्शन है। ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है; स्वभावज्ञान और विभावज्ञान।'

योगसार : दोहा २१ : अन्वयार्थ :- 'जो जिन है, वह आत्मा है - यह सिद्धान्त का सार है। ऐसा तुम समझो। ऐसा समझकर हे योगियो! अब मायाचार को छोड़ो।'

योगसार : दोहा २२ : अन्वयार्थ :- 'जो परमात्मा है, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही परमात्मा

हैं ऐसा जानकर हे योगी! अन्य विकल्प न करो।'

प्रश्न :- ऊपर बतायी गयी गाथाओं के सन्दर्भ में विचारेंगे तो लगेगा कि प्रकटरूप से तो संसारी जीव शरीरस्थ है और सिद्ध के जीव मुक्त हैं, तो संसारी को सिद्ध जैसा कहा वह किस अपेक्षा से?

उत्तर :- शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से, जैसे कि संसारी जीव शरीरस्थ होने पर भी, उनकी आत्मा एक जीवत्वरूपी पारिणामिकभावरूपी होती है। वह जीवत्वभाव छद्मस्थ को (अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय से) अशुद्ध होता है और वह अशुद्ध जीवत्वभाव अर्थात् अशुद्ध रूप से परिणमित आत्मा में से अशुद्धि (विभावभाव) गौण होते ही, जो जीवत्वभाव शेष रहता है, उसे ही 'परमपारिणामिकभाव', 'ध्रुवभाव', 'शुद्धात्मा', 'कारणपरमात्मा', 'कारणशुद्धपर्याय', 'सिद्धसदृशभाव', 'स्वभावभाव' - इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है और उस भाव की अपेक्षा से ही सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं - ऐसा कहा जाता है; अब हम इसी बात को दृष्टान्त से देखेंगे-

पहला दृष्टान्त :- जैसे गन्दे पानी में शुद्ध पानी छिपा हुआ है, वैसे निश्चय से जो कोई उसमें फिटकरी घुमाता है तो कुछ समय के बाद उसमें (पानी में) रही हुई गन्दगीरूप मिट्टी तल में बैठ जाने से पूर्व का गन्दा पानी स्वच्छ ज्ञात होता है। इसी प्रकार जो अशुद्धरूप (राग-द्वेषरूप) परिणमित आत्मा है उसमें विभावरूपी अशुद्धभाव को प्रज्ञा छैनी से = बुद्धिपूर्वक गौण करते ही जो शुद्धात्मा ध्यान में आता है अर्थात् ज्ञान में विकल्परूप से आता है, उसे भावभासन कहते हैं और शुद्धात्मा की अनुभूति होते ही जीव को सम्यग्दर्शन होता है। वह जीव जो पहले शरीर से एकत्व करता था अब आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित शुद्धात्मा में (स्वभाव में = स्वरूप में) एकत्व होते ही-'मैंपन' होते ही सम्यग्दर्शन का अधिकारी होता है; यह विधि है सम्यग्दर्शन की। अर्थात् **जो जीव राग-द्वेष रूप परिणमित होने पर भी केवल शुद्धात्मा में ही (द्रव्यात्मा में ही= स्वभाव में ही) 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन वैराग्यादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता।**

दूसरा दृष्टान्त :- जैसे दर्पण में अलग-अलग प्रकार के अनेक प्रतिबिम्ब होते हैं परन्तु उन प्रतिबिम्बों को गौण करते ही स्वच्छ दर्पण दृष्टि में आता है; इसी प्रकार आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित आत्मा में अर्थात् ज्ञान में जो ज्ञेय होते हैं वे गौण होते ही निर्विकल्प ज्ञान का अर्थात् 'शुद्धात्मा' का अनुभव होता है; आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है। इसी विधि से अशुद्ध आत्मा में भी सिद्ध समान शुद्धात्मा का निर्णय होना और उसी में एकत्व होने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है।

कोई ऐसा माने कि द्रव्य में शुद्ध भाग और अशुद्ध भाग ऐसे दो भाग होते हैं। जो शुद्ध भाग है वह द्रव्य है तथा अशुद्ध भाग है वह पर्याय है। ऐसा नहीं है। यह बात हमने प्रथम ही शास्त्र की गाथाओं से निःसन्देह सिद्ध की ही है कि द्रव्य को अपेक्षा से समझने से द्रव्य में दो भाग नहीं परन्तु दो भाव होते हैं। वे दो भाव इस प्रकार हैं कि जो विशेष है, वह पर्याय कहलाता है और वह विभावभाव सहित होने से अशुद्ध कहलाता है। जो उसका ही सामान्यभाव है यानी परमपारिणामिकभावरूपी द्रव्य है, जो त्रिकाल शुद्ध ही होता है। इस अपेक्षा से द्रव्य शुद्ध और पर्याय अशुद्ध ऐसा कहा जाता है। परन्तु ऐसे दो भाग नहीं होते।

छद्मस्थ जीवों की आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्तानन्त कर्मवर्गणायें हैं और वे कर्मवर्गणायें आत्मा के सभी प्रदेशों के साथ क्षीर-नीरवत् (दूध में पानी की भाँति) सम्बन्ध से बन्धी हुई होने की अपेक्षा से आत्मा का कोई भी प्रदेश शुद्ध नहीं है। अर्थात् यदि कोई ऐसा कहे कि आत्मा के मध्य के आठ रुचक प्रदेश तो निरावरण ही होते हैं तो उन्हें हम बताते हैं कि यदि आत्मा का मात्र एक भी प्रदेश निरावरण हो तो उस प्रदेश में इतनी शक्ति है कि वह सारे लोकालोक को जान ले क्योंकि यदि एक भी प्रदेश निरावरण हो तो उस प्रदेश में केवलज्ञान और केवलदर्शन मानने का प्रसंग आयेगा और इससे वह आत्मा सारे लोकालोक को सहज रीति से ही जाननेवाली हो जायेगी परन्तु प्रगट में देखने से यह ज्ञात होता है कि ऐसा तो किसी भी जीव में घटित नहीं होता। इस कारण जीव के मध्य के आठ रुचक प्रदेश निरावरण होते हैं इस बात का निराकरण होता है। यह बात सत्य नहीं है जिसका प्रमाण धवल पुस्तक १२ में-पृष्ठ क्रमांक ३६५ से ३६८ के अन्तर्गत गाथा २ से १० में दिया गया है।

कई लोग नयविवक्षा न समझने के कारण ऐसी भी प्ररूपणा करते हैं कि इन आठ निरावरण प्रदेशों की अपेक्षा से 'सभी जीव सिद्ध समान हैं' ऐसा शास्त्र का कथन है। परन्तु वास्तव में 'सभी जीव सिद्ध समान हैं' यह कथन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से है। यह बात नयों की यथार्थ समझ नहीं होने से फैली है। और ऐसे लोग उन निरावरण प्रदेशों (जो कि संसारी जीव को नहीं होते) के अनुभव (जो कि छद्मस्थ जीव को नहीं होता) को ही शुद्धात्मा का अनुभव मानते हैं। उनको द्रव्य की अभेदता का और नयों का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। यह अत्यन्त करुणाजनक बात है। आगे हम सम्यग्दर्शन की विधि और उसके विषय के बारे में बताने का प्रयास करते हैं।

१०

सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् दृष्टि का विषय

प्रश्न :- अगर छद्मस्थ आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त कर्मवर्गणाएँ होने से वह अशुद्ध आत्मारूप से ही परिणमित होती है, तो उसमें यह शुद्धात्मा कहाँ रहती है?

उत्तर :- जीव के लक्षण से जीव को ग्रहण करने से और पुद्गल के लक्षण से पुद्गल को ग्रहण करने से तथा फिर उनमें प्रज्ञाछैनी से (तीव्र बुद्धि से) भेदज्ञान करने से शुद्धात्मा प्राप्त होती है।

आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित प्रथम तो प्रगट में आत्मा के लक्षण से अर्थात् ज्ञान के देखने-जानने के लक्षण से आत्मा को ग्रहण करते ही, पुद्गल मात्र के साथ भेदज्ञान हो जाता है और फिर उससे आगे बढ़ने पर जीव के जो चार भाव उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव और क्षायिकभाव जो कर्म की अपेक्षा से कहे गए हैं। कर्म पुद्गलरूप ही होते हैं। इसलिये इन चार भावों को भी पुद्गल के खाते में डालकर प्रज्ञारूप बुद्धि से अर्थात् इन चार भाव जीव में से गौण होते ही, जो जीवभाव शेष रहता है, उसे ही परम पारिणामिकभाव, शुद्धात्मा, कारणशुद्धपर्याय, स्वभावभाव, सहज ज्ञानरूपी साम्राज्य, शुद्ध चैतन्यभाव, स्वभाव दर्शनोपयोग, कारण स्वभाव दर्शनोपयोग, कारण स्वभाव ज्ञानोपयोग, कारण समयसार, कारण परमात्मा, नित्य शुद्ध निरंजन ज्ञानस्वरूप, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी परिणमता ऐसा चैतन्यसामान्यरूप, चैतन्य-अनुविधायी परिणामरूपी, सहज गुणमणि की खान, सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय), इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है और उसके अनुभव से ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। उस भाव की अपेक्षा से ही सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं - ऐसा कहा जाता है। उसके अनुभव को ही निर्विकल्प अनुभूति कहा जाता है क्योंकि वह सामान्यभाव होने से उसमें किसी भी विकल्प को स्थान ही नहीं है। इसलिये उसकी अनुभूति होते ही अंशत: सिद्धत्व का भी अनुभव होता है।

आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित भेदज्ञान (सम्यग्दर्शन) की विधि ऐसी है कि जीव के जो चार भाव गौण होने पर जो शुद्ध जीवत्व प्राप्त हुआ, उस अपेक्षा से उसे कोई 'पर्याय रहित द्रव्य दृष्टि का विषय है' ऐसा भी कहते हैं। अर्थात् द्रव्य में से कुछ भी निकालना नहीं है, मात्र विभावभावों को ही गौण करना है और उस अपेक्षा से कोई कहते हैं कि 'वर्तमान पर्याय के अतिरिक्त

पूरा द्रव्य वह दृष्टि का विषय है' अर्थात् कथन कोई भी हो परन्तु व्यवस्था तो यहाँ बतायी है वैसी है अर्थात् गौण करने की और मुख्य करने की ही है जो पूर्व में हम विस्तार से समझ चुके हैं।

यदि कोई कहे कि – आत्मा बाहर से अशुद्ध और अन्दर से शुद्ध तो ऐसा कथन अपेक्षा से समझना। एकान्ततः अर्थात् वास्तविक नहीं क्योंकि जैसा आत्मा बाहर है वैसा ही अन्दर है, अर्थात् आत्मा के अन्दर के और बाहर के प्रत्येक प्रदेश में (क्षेत्र में) अनन्तानन्त कर्मवर्गणाएँ क्षीर-नीरवत् लगी होने से, जैसी अशुद्धि बाहर के क्षेत्र में है, वैसी ही अशुद्धि अन्दर के क्षेत्र में भी है परन्तु अपेक्षा से बाहर अर्थात् विशेषभावरूपी विभावभाव और अन्दर अर्थात् सामान्यभाव-रूपी परमपारिणामिकभाव जो कि तीनों काल शुद्ध ही हैं और इसलिये ही व्यक्त आत्मा अशुद्ध और अव्यक्त आत्मा शुद्ध है। इसी अपेक्षा से अन्दर से शुद्ध और बाहर से अशुद्ध ऐसा कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। कोई आत्मा में अन्दर एकान्त शुद्ध ध्रुवभाव खोजता हो तो, वैसा एकान्त शुद्ध ध्रुवभाव आत्मा में नहीं है। अर्थात् कोई भी कथन उसकी अपेक्षा सहित समझना अनिवार्य है नहीं तो ऐसा माननेवाले के नियम से भ्रमित करनेवाले परिणाम ही निकलेंगे।

यदि कोई कहता है कि आप तो दृष्टि के विषय में प्रमाण का द्रव्य लेते हो तो दोष आयेगा। उन्हें हम बताते हैं कि पूर्व में विस्तार से समझाये अनुसार द्रव्य के जितने प्रदेश (क्षेत्र) प्रमाण के हैं, उतने ही प्रदेश (क्षेत्र) परमपारिणामिकभावरूपी दृष्टि के विषय के हैं अर्थात् उतने ही प्रदेश शुद्धात्मा के हैं। दूसरे, उस प्रमाण के द्रव्य को ही हम शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के चक्षु से देखते हैं और इस कारण से हम उसे ही परमपारिणामिकभाव कहते हैं कि **जिसे आप प्रमाण चक्षु से देखने पर, प्रमाण का विषय कहते हैं और उस प्रमाण के विषय में आप शुद्ध और अशुद्धभाव नहीं परन्तु भाग मानते हैं, इसलिये आपकी दृष्टि में दोष है। उसमें हमारा कोई दोष नहीं है।** हम तो उसे ही अर्थात् प्रमाण के द्रव्य को ही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परम शुद्ध परमपारिणामिकभाव अनुभव करते हैं और परम सुख का अनुभव करते हैं। इसलिये आप भी दृष्टि बदलकर उसे ही शुद्ध देखें और आप भी उसका अर्थात् सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का आनन्द लें, ऐसा हमारा अनुरोध है। यही सम्यग्दर्शन का स्वरूप है और आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है। स्थूल से ही सूक्ष्म में, प्रकट से ही अप्रकट में और व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है। यही तो नियम है।

इस कारण हमारा आग्रह है कि 'जैसी है वैसी' वस्तुव्यवस्था समझकर प्रमाण के विषय

का 'जैसा है वैसा' ज्ञान करके फिर उसमें से ही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय ग्रहण करने योग्य है। परन्तु जो यहाँ बतायी हुई युक्ति अनुसार दृष्टि का विषय न मानकर, अन्यथा ग्रहण करते हैं, जो शुद्ध नयाभासरूपी एकान्त शुद्धात्मा को खोजते और मानते हैं, वे मात्र भ्रमरूप से ही परिणमते हैं। वैसी एकान्त शुद्धात्मा कार्यकारी नहीं, क्योंकि वैसी एकान्त शुद्धात्मा होती ही नहीं। इस कारण वह जीव भ्रम में ही रहकर अनन्त संसार बढ़ाकर अनन्त दु:खों को प्राप्त करता है; जिनशासन के नय के अज्ञान के कारण और हार्द समझे बिना मात्र शब्द को ही ग्रहण करके उसके ही आग्रह के कारण ऐसी दशा होती है जो अत्यन्त करुणाजनक बात है।

यहाँ समझाया गया शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय ही उपादेय शुद्धात्मा है और वही सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है। इसी लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित भेदज्ञान कराने और शुद्धात्मा का अनुभव कराने के लिये ही नियमसार और समयसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों में उसकी ही महिमा गायी है और उसी को महिमामण्डित किया है। उन शास्त्रों में स्वात्मानुभूति को जाँचकर प्रमाण करने के लिये ही प्रमाण के विषयभूत आत्मा में से जितने भाव पुद्गलाश्रित हैं अर्थात् जितने भाव कर्माश्रित (कर्म की अपेक्षा रखनेवाले) हैं, उन भावों को परभावरूप से वर्णन किया है अर्थात् उन्हें स्वाँगरूप भावों के रूप में वर्णन किया है क्योंकि वे भाव स्वात्मानुभूति में नहीं होते। इसी अपेक्षासहित अब हम पंचाध्यायी के श्लोक देखेंगे।

- कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण कहते हैं कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ', 'मैं परम अकर्ता हूँ' इत्यादि स्वरूप की जानकारी को बौद्धिकरूप से घोंटने (बार-बार पक्का करने) से यानी उसका बौद्धिकरूप से बार-बार मनन-चिन्तन करने से हमें उसकी प्राप्ति हो सकती है या तो उसकी प्राप्ति आसान बन जाती है। हम कहते हैं कि स्वरूप का मनन-चिन्तन करें या न करें लेकिन आप अगर सम्यग्दर्शन के लिये वैराग्यादि आवश्यक योग्यता प्राप्त कर लेंगे तो आपके लिये स्वरूप की अनुभूति सरल हो जाती है। बौद्धिकरूप से स्वरूप के अधिक मनन-चिन्तन से तो कभी-कभी भ्रम यानी निश्चयाभास होने का ख़तरा भी बना रहता है।

११

पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध के सम्यग्दर्शन का विषय दर्शाते श्लोक

श्लोक ५३२ : अन्वयार्थ :- 'इस असद्भूतव्यवहार नय को जानने का फल यह है कि यहाँ पराश्रित रूप से होनेवाले भावक्रोधादि सम्पूर्ण उपाधि मात्र छोड़कर बाक़ी के उसके (जीव के) शुद्ध गुण हैं ऐसा मानकर यहाँ कोई पुरुष सम्यग्दृष्टि हो सकता है।' इस गाथा में सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) बताया है और आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उसके अनुभव से जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है ऐसा बताया है।

भावार्थ :- 'इस असद्भूतव्यवहार नय का प्रयोजन यह है कि-जो जीव के हैं, वे असद्भूतव्यवहार नय से हैं परन्तु निश्चय से नहीं (निश्चय से जो भाव जिसके लक्ष्य से हों, वे भाव उसके समझना, इसीलिये जो द्रव्य रागादि भाव पुद्गलरूप हैं, वे कर्म के हैं और जीव के जो रागादि भाव हैं, वे जीव के होने पर भी, वे कर्म के उदय के कारण होने से उन्हें कर्म के खाते में डालकर, निश्चय से उन्हें परभाव कहा जाता है क्योंकि वे भाव सम्यग्दर्शन के लिये अनुभव में नहीं होता।) इस कारण कोई भव्यात्मा उपाधिमात्र अंश को छोड़कर (इस उपाधिरूप अंश छोड़ने की विधि प्रज्ञारूपी बुद्धि से उसे गौण करने की है, दूसरी कोई नहीं) निश्चय तत्त्व को ग्रहण करने का इच्छुक बनकर सम्यग्दृष्टि हो सकता है, क्योंकि सर्व नयों में निश्चय नय ही उपादेय है, बाक़ी के कोई नय नहीं। बाक़ी के नय तो मात्र परिस्थितिवश प्रतिपाद्य विषय का निरूपण मात्र करते हैं। इसलिये एक निश्चय नय ही कल्याणकारी है...'

श्लोक ५४५ : अन्वयार्थ :- 'ज्ञेय-ज्ञायकभाव में सम्भव होनेवाले संकर दोष के भ्रम का क्षय करना अथवा अविनाभाव से सामान्य का साध्य और विशेष का साधक होना, वही इस उपचरित असद्भूतव्यवहार नय का प्रयोजन है।' अर्थात् पर को जानने से संकर दोष होता है ऐसे भ्रम का नाश करना वह प्रयोजन है और साथ ही साथ ऐसा भी बताया है कि पर को जानना वह स्व को जानने की सीढ़ी है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रकट से ही अप्रकट में जाया जाता है, व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है। अर्थात् पर को जानना वह सम्यग्दर्शन होने में मददगार हो सकता है, नहीं कि अड़चनवाला और इसलिये किसी ने 'पर को जानने से आत्मा मिथ्यादृष्टि हो जायेगा'-ऐसा मानने का कोई कारण नहीं क्योंकि यही ज्ञान का स्वभाव है। जैसे **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** गाथा २४७ में बताया है कि 'यदि समस्त वस्तु एक ज्ञान ही है और

वही नानारूप से स्थित रहती है तो ऐसा मानने पर ज्ञेय कुछ भी नहीं सिद्ध हुआ और ज्ञेय के बिना ज्ञान ही किस प्रकार सिद्ध होगा?' भावार्थ :-'...क्योंकि ज्ञेय को जानना ही ज्ञान कहलाता है परन्तु ज्ञेय के बिना ज्ञान नहीं।'

भावार्थ :- 'उपचरित सद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा से अर्थ-विकल्प को प्रमाण (अर्थात् स्व-पर के जानने को प्रमाण) कहने का प्रयोजन यह है कि ऐसा कहने से ज्ञान और ज्ञेय में जो संकरपने का भ्रम होता था (अर्थात् जिन्हें लगता है कि आत्मा पर को जानता है ऐसा मानने पर सम्यग्दर्शन नहीं होता, वैसा संकरपने का भ्रम होता है) उस भ्रम का यह निवारण हो जाता है। क्योंकि ज्ञान को अर्थ-विकल्पात्मक (पर को जाननेवाला) कहना वह उपचरित सद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा से है। ज्ञान, ज्ञायक है तथा स्व-पर, ज्ञेय होते हैं। इसलिये ज्ञान और ज्ञेय में वास्तव में संकरता नहीं होती (पूर्व में जैसे दर्पण का दृष्टान्त समझाया है, तद्नुसार) दूसरा प्रयोजन इस प्रकार है कि अर्थ-विकल्पात्मक विशेषज्ञान (पर को जानना) साधक (स्व में जाने की सीढ़ी) है तथा सामान्यज्ञान साध्य है (अर्थात् पर को जानना वह ज्ञायक में जाने की सीढ़ी है यानी कि सम्यग्दर्शन करने के लिये यह विधि दर्पण के दृष्टान्त की तरह ही है) अर्थात् सामान्यज्ञान, अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नय का विषय साध्य (अर्थात् ज्ञायक अर्थात् परमपारिणामिकभाव, दृष्टि का विषय साध्य) तथा ज्ञान को अर्थ विकल्पात्मक (अर्थात् ज्ञान पर को जानता है ऐसा) कहना वह उपचरित सद्भूतव्यवहार नय का विषय साधक (सीढ़ी) है।'

यहाँ विशेष यह है कि भेदज्ञान के लिये, सम्यग्दर्शन के लिये कहा जा सकता है कि - जैसे किसी महल के झरोखे में से निहारता पुरुष, स्वयं ही ज्ञेयों को निहारता है, न कि झरोखा; उसी प्रकार इस झरोखारूपी आँख से जो ज्ञेयों को निहारता है, वह ज्ञायक स्वयं ही, नहीं कि आँखें। 'वह ही मैं हूँ' 'सोऽहं' वह 'ज्ञानमात्र स्वरूप ही मैं हूँ' अर्थात् मैं मात्र देखने-जाननेवाला ज्ञायक-ज्ञानमात्र-शुद्धात्मा हूँ, ऐसे आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित लक्ष्य में आने से ज्ञायकरूप सामान्यज्ञान साध्य होता है और पर को जानना वह साधन (सीढ़ी) होता है कि जो अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है। जीव को पर को जाननेवाला कहकर, उसमें से प्रयोजन सिद्ध करने के बाद अब जीव को क्रोधादिवाला कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है, वह बताते हैं। अर्थात् राग जीव में होता है, उससे क्या प्रयोजन है?

श्लोक ५६५ : अन्वयार्थ :- '(वर्णादिभाव जीव के हैं) इस प्रकार का कहना योग्य नहीं

है क्योंकि जिस प्रकार क्रोधादिभाव (रागादिभाव) जीव में सम्भव हैं उसी प्रकार पुद्गलात्मक शरीर के वर्णादि जीव के लिये सम्भव हो ही नहीं सकते।'

हम सम्यग्दर्शन के लिये भेदज्ञान की यही विधि समझे हैं कि – प्रथम आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित पुद्गल से भेदज्ञान और बाद में जीव के रागादिरूप भाव जो कर्म = पुद्गल आश्रित हैं, उनसे भेदज्ञान। इस भेदज्ञान के पश्चात् ही शुद्धात्मा प्राप्त होती है। इसी लिये यहाँ बताया है कि शरीर के वर्णादिभाव तो आत्मा के हैं ही नहीं परन्तु जो रागादिभाव हैं, वे (भावरागादि भाव) तो जीव में ही होते हैं अर्थात् जीव ही उन रूप परिणमता है। जीव कर्म के निमित्त से रागादिभावरूप में परिणमता है इसलिये यदि रागादिभावों को जीव का भाव कहें तो कहा जा सकता है। लेकिन उससे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है?

भावार्थ :- '(क्रोधादिभावों को जीव का कहना, वह नयाभास ही है ऐसी) ऊपर कही गयी शंका योग्य नहीं है क्योंकि वे क्रोधादिभाव तो जीव में होनेवाले औदयिकभावरूप हैं, इसलिये वे जीव के तद्गुण (जीव का ही परिणमन) हैं। वे जीव का नैमित्तिकभाव होने से उन्हें सर्वथा पुद्गल का नहीं कहा जा सकता। परन्तु जीव को वर्णादिवाला कहने में आये, वहाँ तो वर्णादि सर्वथा पुद्गल के ही होने से उन्हें जीव का कैसे कहा जा सकता है? तथा क्रोधादिभावों को जीव का कहने में तो यह प्रयोजन है कि – परलक्ष्य से होनेवाले क्रोधादिभाव क्षणिक होने से और आत्मा का स्वभाव नहीं होने से वे उपादेय नहीं हैं इसलिये उनका अभाव करना चाहिये, ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है (परन्तु जो लोग एकान्त से शुद्धता के भ्रम में होते हैं, वे क्रोधादि करने पर भी, उन्हें अपने नहीं मानकर स्वच्छन्दी होते हैं वह सम्यग्ज्ञान नहीं परन्तु मिथ्यात्व है) इसलिये क्रोध को जीव का कहने में तो उपर्युक्त सम्यक् नय लागू होता है (अर्थात् जो उन्हें एकान्त से पर का मानते हैं वे मिथ्यात्वी हैं) परन्तु जीव को वर्णादिवाला कहने में तो किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये जीव को क्रोधादिवाला कहनेवाले असद्भूतव्यवहार नय में तो नयाभासत्व का दोष नहीं आता परन्तु जीव को वर्णादिवाला कहने में तो वह दोष आता है, इसलिये वह नयाभास है।'

हमने पूर्व में सम्यग्दर्शन की विधि के सन्दर्भ में चर्चा करते समय जो निर्विकल्प अनुभूतिरूप सम्यग्दर्शन बताया है, वही भाव विशेष स्पष्ट करते हुए आगे बताते हैं कि – अनुभूति के समय कोई भी नय का अवलम्बन नहीं है।

श्लोक ६४८ : अन्वयार्थ :- 'उस स्वानुभूति की महिमा इस प्रकार है कि–व्यवहार नय

में भेद दर्शानेवाले विकल्प उठते हैं और वह निश्चय नय सर्व प्रकार के विकल्पों का निषेध करनेवाला होने से (नेति–नेति रूप होने से) एक प्रकार से उसमें निषेधात्मक विकल्प होता है तथा वास्तविक रूप से देखने में आवे तो स्वसमयस्थिति में (स्वानुभूति में) न (व्यवहार नय का विषयभूत) विकल्प है और न (निश्चय नय का विषयभूत) निषेध है परन्तु केवल चेतना का स्वात्मानुभव है।'

कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि निषेधरहित का दृष्टि का विषय किस प्रकार होगा? तो उन्हें हम बताते हैं कि दृष्टि के विषय में न भेद का विकल्प है (अर्थात् अभेद द्रव्य का ग्रहण है) और न तो निषेध का विकल्प है अर्थात् जिनका (अशुद्ध भावों का = विभावभावों का) निषेध करना होता है, उनपर दृष्टि ही नहीं, इसलिये ही वे अत्यन्त गौण हो जाते हैं और दृष्टि, मात्र दृष्टि के विषय रूप शुद्धात्मा पर ही होती है जो कि निर्विकल्प ही होता है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित वही सम्यग्दर्शन की विधि है। इसलिये कहा जा सकता है कि निषेध न करके, उनके ऊपर से दृष्टि ही हटा लेनी है। यह है विधि–सम्यग्दर्शन की। इसलिये जिसे निषेध का आग्रह हो, उसे वह आग्रह छोड़ देना चाहिये क्योंकि निषेध, वह भी निश्चय नय का पक्ष है, जबकि सम्यग्दर्शन का विषय पक्षातीत है, नयातीत है इसलिये प्रत्येक प्रकार का पक्ष और आग्रह छोड़े बिना सम्यग्दर्शन होना ही शक्य नहीं है।

दूसरे, वस्तु जैसी है वैसी समझनी पड़ेगी। अर्थात् आत्मा में रागादि होते हैं, तो वे किस अपेक्षा से और नियमसार तथा समयसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों में जो ऐसा लिखा है कि वे रागादिक जीव के नहीं हैं तो वह भी किसी अपेक्षा से ही बताया है, एकान्त से नहीं। वह मात्र स्वात्मानुभूति जाँचने को और सम्यग्दर्शन के विषय (दृष्टि के विषय) पर दृष्टि कराने को अर्थात् आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन कराने को ही बताया है। कोई उसे एकान्त से लेकर स्वच्छन्दतारूप परिणमे तो वह उनकी महान भूल है। उसका फल अनन्त संसार है। यही बात आगे बताते हैं।

श्लोक ६६३ : अन्वयार्थ :– 'यहाँ केवल सामान्यरूपी वस्तु (परमपारिणामिकभाव) निश्चय से निश्चय नय का कारण है तथा कर्मरूप कलंक से रहित ज्ञानस्वरूप आत्मा की (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा की) सिद्धि फल है।'

इसलिये समझना यह है कि ऐसे आध्यात्मिक शास्त्रों का किसी भी वस्तु को एकान्त से प्ररूपित करने का आशय जरा भी नहीं होता। इसलिये उसे एकान्त से वैसा नहीं लेना, परन्तु उसका आशय मात्र सम्यग्दर्शन का जो विषय है, उस आत्म भावरूप (परमपारिणामिकभावरूप

शुद्धात्मा में–कारण शुद्ध पर्याय में–कारण परमात्मा में) स्वात्मानुभूति जाँचने को और आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शनी बनाने को, मोक्षमार्ग में प्रवेश दिलाने को। – मात्र इसी अपेक्षा से इन शास्त्रों में रागादिभाव जीव के नहीं हैं ऐसा बताया है, उसे ऐसा एकान्त से नहीं समझना। यदि कोई उसे एकान्त से ऐसा समझे और प्ररूपित करे तो उसे जिनसिद्धान्त के बाहर ही समझना चाहिये। अर्थात् मिथ्यात्वी ही समझना चाहिये। सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान कैसा होता है, वह बताते हैं –

श्लोक ६७३ : अन्वयार्थ :– 'एक साथ सामान्य–विशेष को विषय करनेवाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है क्योंकि ज्ञान दर्पण के समान है तथा ज्ञेय प्रतिबिम्ब समान है।'

भावार्थ :– 'जैसे दर्पण और दर्पण में रहे हुए प्रतिबिम्ब का युगपत प्रतिभास होता है, इसी प्रकार सामान्य–विशेष को युगपत् विषय करनेवाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है, अन्य नहीं; (कोई कहे कि आत्मा पर को नहीं जानता ऐसी व्यवस्था होने से आत्मा पर को जानता है ऐसा कहना मिथ्यात्व समान है, तो यहाँ बताते हैं कि वह ऐसा नहीं है) क्योंकि ज्ञान को दर्पण समान (अर्थात् यदि कोई कहे कि ज्ञान पर को जानता है, ऐसा नहीं लेना तो उन्हें यहाँ बताते हैं कि यदि ऐसा लिया जाये तो, ज्ञान की ही सिद्धि नहीं होगी) तथा उसमें रहे हुए विषय को (अर्थात् ज्ञेय को) प्रतिबिम्ब समान मानने में आया है।...'

कोई कहे कि ज्ञान पर को नहीं जानता तो ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता, यह बात कभी भी भूलने जैसी नहीं है। अन्यथा हम विभ्रम में रहकर अपना ही परम अहित करेंगे।

❑ प्रश्न: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु आत्मस्वरूप की जानकारी कितनी आवश्यक है?

उत्तर: साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझ में आ जाये उतनी आत्मस्वरूप की जानकारी होनी आवश्यक है। दरअसल अगर आत्मा में सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक वैराग्यादि योग्यता होती है तभी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति होकर निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। तब उसे स्वभाव का आंशिक अनुभव भी होता है, यह समझना अति आवश्यक है।

१२

आत्मज्ञान रूप स्वात्मानुभूति परोक्ष या प्रत्यक्ष

किसी का प्रश्न होता हो कि जिस स्वात्मानुभूति का वर्णन किया गया है और जो निश्चय सम्यग्दर्शन है, वह प्रत्यक्ष है या परोक्ष है और वह किस प्रकार के क्षायोपशमिक ज्ञान से होता है? उसके उत्तर में पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध का श्लोक–

श्लोक ७०६ : अन्वयार्थ :– 'स्वात्मानुभूति के समय में जितने प्रथम के वे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, वे दो रहते हैं उतना, वे सब साक्षात् प्रत्यक्ष की भाँति प्रत्यक्ष हैं, परोक्ष नहीं।'

भावार्थ–'तथा इन मति और श्रुतज्ञानों में भी इतनी विशेषता है कि (पहले इन दोनों ज्ञान को परोक्षरूप से प्रतिपादित किया है। अब इनकी विशेषता बताते हैं अर्थात् अपवाद बताते हैं) जिस समय इन दोनों में से कोई एक ज्ञान द्वारा स्वात्मानुभूति होती है, उस समय ये दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा को प्रत्यक्ष करते हैं। इसलिये ये दोनों ज्ञान भी स्वात्मानुभूति के समय में प्रत्यक्षरूप हैं, परोक्ष नहीं।'

अर्थात् सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धी कषायचौकड़ी और दर्शन मोह के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होता है परन्तु उसके साथ ही नियम से सम्यग्ज्ञानरूपी शुद्धोपयोग उत्पन्न होता है, उस शुद्धोपयोग को ही स्वात्मानुभूति कहा जाता है कि जो ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के रूप में होती है और वह शुद्धोपयोग अर्थात् स्वात्मानुभूति विभावरहित आत्मा की अर्थात् शुद्धात्मा की होने से उसे निर्विकल्प स्वात्मानुभूति कहा जाता है। स्वात्मानुभूति के काल में मनोयोग होने पर भी, तब मन भी अतीन्द्रियरूप परिणमने से उसे निर्विकल्प स्वात्मानुभूति कहा जाता है।

- कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण निश्चयनय का ही प्रचार–प्रसार करते देखे जाते हैं क्योंकि उन्हें उसके नुक़सान नहीं मालूम। वे स्वयं भी अज्ञानवश इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं इसलिये जाने–अनजाने में वे अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

१३

स्वात्मानुभूति आत्मा के किस प्रदेश में?

प्रश्न :- स्वात्मानुभूतिरूपी अनुभव अर्थात् शुद्धात्मा के साथ 'एकत्व भाव' यानी अतीन्द्रिय ज्ञान शरीर के किस भाग में होता है?

उत्तर :- उत्तर रूप से पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध के छह श्लोकों में बताया है कि हृदयकमल में रहे हुए भावमन और द्रव्यमन में। वे श्लोक :-

श्लोक ७११-७१२ : अन्वयार्थ :- 'इस शुद्धात्मानुभूति के समय में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ उपयोगी नहीं मानी हैं परन्तु वहाँ केवल मन ही उपयोगी मानने में आया है तथा यहाँ निश्चय से अपने अर्थ की अपेक्षा से नो इन्द्रिय है जिसका दूसरा नाम ऐसा वह मन, द्रव्यमन तथा भावमन इस प्रकार दो प्रकार का है।'

श्लोक ७१३ : अन्वयार्थ :- 'हृदयकमल में घनांगुल के असंख्यातवेँ भाग मात्र है प्रमाण जिसका, ऐसा वह द्रव्य मन होता है। वह अचेतन होने पर भी ज्ञान के विषय को ग्रहण करते समय भावमन को सहायता करने में समर्थ होता है। अर्थात् द्रव्यमन, भावमन को सहायता करता है।'

किसी को लगे कि मुझे अनुभव हृदय के भाग में ही होता है, परन्तु ऐसा एकान्त से नहीं है क्योंकि द्रव्यमन हृदयकमल में भले हो, परन्तु जो भावमनरूपी आत्मा का क्षयोपशम है वह आत्मा के सभी प्रदेशों में होने से अनुभूति सम्पूर्ण आत्मा की होती है और वह सभी प्रदेशों में होती है।

श्लोक ७१४ : अन्वयार्थ :- 'स्व आवरण के क्रमपूर्वक उदीयाभावीक्षय से ही लब्धि और उपयोग सहित जो केवल आत्मोपयोगरूप ही आत्मा का परिणाम है, वह भावमन है।' अर्थात् भावमन आत्मा के सभी प्रदेशों में है।

श्लोक ७१५-७१६ : अन्वयार्थ :- 'स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ मूर्तिक पदार्थ को जाननेवाली हैं तथा मन, मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों पदार्थों को जाननेवाला है। इसलिये यहाँ यह कथन निर्दोष है कि स्वात्माग्रहण में निश्चय से मन ही उपयोगी है। परन्तु इतना विशेष है कि विशिष्ट दशा में (अतीन्द्रियज्ञान में = स्वात्मानुभूति में) वह मन स्वयं ही ज्ञानरूप हो जाता है।'

यहाँ समझना यह है कि जो भावमन कहा है, वह आत्मा के ज्ञान का ही क्षयोपशमरूपी एक उपयोग विशेष है, अन्य कुछ नहीं, अजीव द्रव्य नहीं है। वह भावमन आत्मा का विशिष्ट क्षयोपशम होने से आत्मा के सभी प्रदेशों में होता है, परन्तु द्रव्यमन हृदयकमल में होने से उस अपेक्षा से स्वात्मानुभूति रूप अनुभव हृदयकमल में होता है - ऐसा कहा जाता है।

१४

क्या इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं?

इन्द्रियज्ञान यानी इन्द्रियजनितज्ञान। बहुत लोग ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान ही नहीं है तो उसमें समझना यह है कि जो द्रव्य इन्द्रिय और नोइन्द्रिय मन है, वह पुद्‌गल का बना हुआ होने से, उस अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान ही नहीं अथवा इन्द्रियज्ञान खण्ड-खण्ड ज्ञान होने से उस अपेक्षा से भी ऐसा कहा जा सकता है कि इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान (अखण्डज्ञान) ही नहीं है। वास्तव में देखने पर वह पुद्‌गलरूपी अजीव इन्द्रियाँ ज्ञान की निमित्त मात्र हैं परन्तु ज्ञान तो आत्मा का लक्षण होने से अन्य किसी भी द्रव्य में होता ही नहीं तो फिर प्रश्न होगा कि इन्द्रियज्ञान होता कैसे है?

इसका उत्तर यह है कि वास्तव में जो भावेन्द्रिय और भावनोइन्द्रियरूपी आत्मा के ज्ञान का (अर्थात् आत्मा का) क्षयोपशमरूप विशिष्ट परिणमन है, वही ज्ञान करता है और उस ज्ञान को इन्द्रिय की अपेक्षा से आत्मा के किये हुए ज्ञान को इन्द्रियज्ञान और नोइन्द्रियज्ञान ऐसी संज्ञा प्राप्त होती है। वास्तव में ज्ञान तो आत्मा का लक्षण है, अन्य कोई द्रव्य ज्ञान करता ही नहीं; इसलिये समझना यह है कि मात्र शरीरस्थ आत्मा ही ज्ञान करती है कि जो बात **परमात्मप्रकाश** - त्रिविध आत्माधिकार गाथा ४५ में भी बतायी है कि-'जो आत्माराम शुद्ध निश्चय से अद्वितीय ज्ञानमय है तो भी अनादि बन्ध के कारण व्यवहार नय से इन्द्रियमय शरीर को ग्रहण करके अपनी पाँच इन्द्रियों द्वारा रूपादि पाँचों ही विषयों को जानता है, अर्थात् इन्द्रियज्ञान के रूप में परिणमकर इन्द्रियों से रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श को जानता है...' और इसी अपेक्षा से इन्द्रियज्ञान कहलाता है। इसलिये वास्तव में इन्द्रियज्ञान ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा ही है, अन्य कुछ नहीं। इसलिए इन्द्रियज्ञान ज्ञान ही है; यही बात **पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध** के श्लोकों में आगे दृढ़ करते हैं-

श्लोक ७१७-१८ : अन्वयार्थ :- 'निश्चय कर के सूत्र से जो मतिज्ञान है वह इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है तथा मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, वह कथन असिद्ध नहीं। सारांश यह है कि निश्चय से भावमन, ज्ञान विशिष्ट होता हुआ स्वयं ही अमूर्त है इसलिये उस भावमन द्वारा होनेवाला यहाँ आत्मदर्शन अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा?'

यहाँ समझना यह है कि इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान, ज्ञान नियम से आत्मा का ही होता है अन्य किसी द्रव्य का नहीं, क्योंकि ज्ञान तो आत्मा का लक्षण है इसलिये ऐसा भी कहा जा

सकता है कि इन्द्रियज्ञान स्व में जाने की सीढ़ी है क्योंकि इन्द्रिय भले पुद्गलरूप अजीव हो परन्तु उसके निमित्त से जो ज्ञान होता है, उस विशेषज्ञान को अर्थात् उस ज्ञानाकार को गौण करते ही वहाँ सामान्यज्ञान अर्थात् ज्ञायक उपस्थित ही रहता है कि जो दृष्टि का विषय है कि जिसमें आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित मैंपन होने से ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है, प्रकट से ही अप्रकट में जाया जाता है, व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है।

भावार्थ :- '....सारांश यह है कि स्वात्मरस में निमग्न होनेवाला भावमन स्वयं ही अमूर्त होने से स्वानुभूति के समय में आत्मप्रत्यक्ष करनेवाला कहने में आया है। जैसे श्रेणी चढ़ते समय ज्ञान की जो निर्विकल्प अवस्था है, उस निर्विकल्प अवस्था में ध्यान की अवस्था सम्पन्न श्रुतज्ञान अथवा उस श्रुतज्ञान के पहले का मतिज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थानवर्ती हैं, उनका मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमन भी स्वानुभूति के समय में विशेष दशा सम्पन्न होने से श्रेणी के जैसा तो नहीं, परन्तु उनकी भूमिका के योग्य निर्विकल्प तो होता है। इसलिये उस मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमन को स्वानुभूति के समय में प्रत्यक्ष मानने में आता है, वहाँ यही कारण है कि मति-श्रुतज्ञान के बिना केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती परन्तु अवधि-मन:पर्ययज्ञान के बिना हो सकती है।'

स्वात्मरस में निमग्न होनेवाला भावमन अर्थात् विकल्पयुक्त आत्मा में से (=पर्याय में से) विकल्प (=विशेष) गौण होते ही अर्थात् विकल्प को, निर्विकल्प में निमग्न होने पर (=डुबाने पर) ही आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सामान्यरूपी आत्मा अर्थात् परमपारिणामिक भाव की अनुभूति होती है कि जिसे निर्विकल्प अनुभूति कहा जाता है जो कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होती है कि जो अनुभव की विधि है अर्थात् वही सम्यग्दर्शन की पद्धति है। अब हम **पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध** के (पण्डित देवकीनन्दनजी कृत हिन्दी टीका के) श्लोकों में से यही सब भाव दृढ़ करेंगे।

श्लोक ४६१-६२ : अन्वयार्थ :- 'अथवा इन्द्रियजन्यज्ञान देश प्रत्यक्ष होता है, इसलिये वास्तव में वह अस्तिक्य, आत्मा के सुखादि की भाँति स्वसंवेदन प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है? ठीक है, परन्तु प्रथम के मति और श्रुत ये दो ज्ञान, परपदार्थों को जानते समय परोक्ष हैं और दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम होने के कारण स्वानुभवकाल में प्रत्यक्ष हैं।'

शंकाकार, शंका करता है कि - इन्द्रिय और मन का निरोध तथा त्रस-स्थावर की रक्षा क्या है? उत्तर :-

श्लोक ११११८ : अन्वयार्थ :- 'शंकाकार का उपरोक्त कथन ठीक है, क्योंकि जो इन्द्रियों के सम्बन्ध से पदार्थ का ज्ञान होता है वह ज्ञान असंयमजनक नहीं होता परन्तु उन विषयों में जो रागादि बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे न होने देना, वही इन्द्रियसंयम है।'

अर्थात् किसी को भी इन्द्रियज्ञान से डरने की आवश्यकता नहीं, इन्द्रियज्ञान को नकारने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह आत्मा का ही एक उपयोग विशेष है और इसी लिये वह ज्ञान असंयमजनक नहीं होता। परन्तु उस ज्ञान के विषयों में जो रागादि बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे न होने देना वही संयम है और वही कर्तव्य है।

- असल में अनेक शास्त्रों में जो भी निश्चयनय का विस्तार है, वह ज्ञानी के कल्लोल (आनन्द) के लिये है। वह विस्तार ज्ञानी को अपनी अनुभूति जाँचने के लिये और सिद्धसम आत्मा में ठहर जाने की प्रेरणा देने के लिये है। अज्ञानी भी उसे पढ़कर ज्ञानी की दशा समझ सकते हैं मगर कई अज्ञानी भ्रम वश स्वयं को वैसा मानने की भूल कर बैठते हैं। वे ऐसा ही प्रचार करके बहुतों की ज़िन्दगियाँ बर्बाद कर उन्हें अनन्तकाल तक संसार में रुलाने (भटकाने) के लिये ज़िम्मेदार होते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।
- शुद्ध निश्चयनय से जीव भगवान जैसा है। अगर हम अभी वर्तमान दशा (पर्याय) में ही भ्रम वश स्वयं को भगवान मानने लग जायें तो वह पहली कक्षा के छात्र द्वारा अपने को डॉक्टर मानने जैसा ही होगा। यह बात नहीं समझने से ही यह ग़लतफ़हमी फैल रही है। ऐसी ग़लत प्ररूपणा की वजह से लोग अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।
- शुद्ध निश्चयनय भगवान का स्वरूप बताने और हम भी वैसे बन सकते हैं यह बताने के लिये है। हम स्वरूप से अभी वैसे ही हैं कहने का अर्थ है कि हम भी वैसे बन सकते हैं, हममें वह सम्भावना विद्यमान है। शुद्ध निश्चयनय का मक़सद अज्ञानी को प्रोत्साहित करना, उसका लक्ष्य तय कराना तथा ज्ञानी को उसका बार-बार अनुभव कराना है।

१५

पर्याय परम पारिणामिकभाव की ही बनी हुई है

पंचाध्यायी उत्तरार्ध के श्लोक

श्लोक ११ : अन्वयार्थ :- 'स्वयं अनादिसिद्ध सत् में (आत्मा में) भी पारिणामिक शक्ति से (पारिणामिकभाव से) स्वाभाविकी क्रिया तथा वैभाविकी क्रिया होती है।'

भावार्थ :- 'आगम में जीव के पाँच भाव कहे हैं, उनमें एक पारिणामिकभाव है, उसे पारिणामिकशक्ति भी कहा जाता है। उसकी दो प्रकार की पर्याय होती हैं; एक स्वाभाविक तथा दूसरी वैभाविक (यहाँ जो एक द्रव्य की दो पर्यायें कही हैं, वह अपेक्षा से दो हैं। वास्तव में उन्हे दो नहीं समझना चाहिये क्योंकि एक द्रव्य की एक ही पर्याय होती है परन्तु उसे सामान्य और विशेष ऐसी दो अपेक्षा से दो पर्याय कहा है, उनमें सामान्य को स्वाभाविकपर्याय कहते हैं और विशेष को वैभाविकपर्याय कहते हैं। वह विशेषपर्याय सामान्यभाव की ही बनी हुई होने से अर्थात् वह परमपारिणामिकभाव की ही बनी हुई होने से, वास्तव में पर्याय एक ही होती है) यह दोनों जीव की अपनी अपेक्षा से पारिणामिकभाव है। यह निश्चय कथन है (देखें जयधवला, भाग-१, पृष्ठ-३१९ तथा धवला टीका, भाग-५, पृष्ठ-१९७-२४२-२४३) और कर्म के उदय की अपेक्षा बताने के लिये जीव के विकारीभाव को (अर्थात् विभावभावरूपी विशेषभाव को) औदयिकभाव कहा जाता है। यह व्यवहार कथन है।'

यहाँ समझना यह है कि निश्चय नय से (अभेद नय से) जीव को एकमात्र पारिणामिकभाव ही होता है परन्तु व्यवहार नय से (भेद नय से) उसी भाव को सामान्य अपेक्षा से परमपारिणामिकभाव और विशेष अपेक्षा से औदयिक आदि चार भावरूप कहा जाता है। विशेषरूप औदयिक आदि चार भावरूप पर्याय सामान्यभाव की ही बनी हुई होती है। वह परमपारिणामिकभाव की ही बनी हुई होती है अर्थात् औदयिक आदि सभी विशेषभावरूप मैं = परमपारिणामिकभाव ही परिणमता हूँ और इसलिए मुझे = परमपारिणामिकभाव को ही मुझ में = परमपारिणामिकभाव में जागृति रखनी है और स्वयं को सम्यग्दर्शनसहित क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, परिग्रह, वासना इत्यादि से बचाना है। इसे ही संवरभाव कहा जाता है, इसी से निर्जरा होती है।

That means, I am pure awareness = परमपारिणामिकभाव = ज्ञायकभाव। I am geting manifested as all the feelings like pain, happiness, etc. and as knowledge,

memory, etc. = औदयिकादि सभी विशेषभाव। But I shall be aware of myself and restrain myself with Samyagdarshan from being getting involved in sins, lust, anger, ego, deceit, cruelty, fear, possessiveness, etc. to save myself from bondage, unlimited pain and sufferings.

श्लोक ६३–६४ : अन्वयार्थ :– 'शंकाकार कहता है कि – जो अनादि सत् में वैभाविकी क्रिया (विभावरूपी औदयिकादिभाव) भी परिणमनशीलता से होती है। (अर्थात् वे भाव भी पारिणामिकभाव ही होते हैं) तो नियम से उसमें स्वाभाविकी क्रिया से (अर्थात् परमपारिणामिकभाव से) विशेषता रखनेवाले कौनसा विशेष भेद रहेगा? तथा पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान आत्मा का स्वलक्षण है, इसलिये उस ज्ञान की इस ज्ञेय के आकार होने की क्रिया वैभाविकी क्रिया कैसे हो सकती है?'

यही बात समयसार गाथा ६ में भी कर्ता–कर्म का अनन्यत्व बताकर समझायी है, वहाँ ऐसा समझना कि कर्म (ज्ञेयाकार = चार भाव = पर्याय = विशेषभाव), कर्ता (सामान्यभाव = परमपारिणामिकभाव = ज्ञायकभाव) के ही बने होने से कर्ता–कर्म का अनन्यत्व बताया है और दूसरा समयसार गाथा ६ में जाननेवाला वह मैं अर्थात् आत्मा जब पर को जानता है, तब जो ज्ञेयाकार है, वह वास्तव में ज्ञानाकार ही है और उस ज्ञानाकार में भी जब आकाररूपी विकल्प को गौण किया जाये तो वह ज्ञायक ही है अर्थात् वही 'परमपारिणामिकभाव' है, 'कारणशुद्धपर्याय' है, यही बात यहाँ दृढ़ होती है।

यही बात समयसार गाथा १३ में भी बतायी है–उसमें दृष्टि का विषय 'नौ तत्त्व में (पर्याय में) छिपी हुई आत्म ज्योति रूप कहा है'। अर्थात् अव्यक्त व्यक्त में ही छिपा हुआ है अर्थात् व्यक्त अव्यक्त का ही बना हुआ है तथापि कहा ऐसा ही जाता है कि व्यक्त को अव्यक्त स्पर्शता ही नहीं। यही विशिष्टता है जिनशासन के नयचक्र की और इसी अपेक्षा से अव्यक्त के बोल समझना आवश्यक है, अन्यथा नहीं। एकान्त से नहीं। क्योंकि एकान्त तो अनन्त परावर्तन का कारण होने में सक्षम है। इसलिये हम जब प्रश्न करते हैं कि यह पर्याय किसकी बनी हुई है? और उत्तर में हम बताते हैं कि 'परमपारिणामिकभाव की' अर्थात् जो पर्याय है वह द्रव्य की ही (ध्रुव की ही, परमपारिणामिकभाव की ही) बनी हुई है कि जिसके विषय में हमने पूर्व में अनेक आधारों सहित समझाया ही है, यही बात यहाँ दृढ़ होती है।

यही बात आचार्य अमृतचन्द्र कृत **समयसार टीका** के श्लोक २७१ में भी बतायी है

– 'जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ, उसे ज्ञेयों का ज्ञानमात्र न जानना; (परन्तु) ज्ञेयों के आकार का होते ज्ञान के कल्लोलरूप से परिणमता उसे ज्ञान–ज्ञेय–ज्ञातामय वस्तु मात्र जानना।' अर्थात् ज्ञेय है वह ज्ञानमय है, ज्ञान है वह ज्ञातामय है और वह ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय की एकरूपता से सिद्ध होता है कि पर्याय (ज्ञेय) ज्ञाता (परमपारिणामिकभाव) की बनी हुई है अर्थात् चार भाव (पर्याय = विभावभाव) वह एक परमपारिणामिकभाव के ही बने हैं अर्थात् चारों भावों का (पर्याय का) सामान्य वह परमपारिणामिकभाव है। जैसे ज्ञेय में ज्ञाता हाज़िर है, वैसे प्रत्येक पर्याय में ज्ञाता = परमपारिणामिकभाव हाज़िर ही है। वह पर्याय उसकी ही (ज्ञान–ज्ञेय–ज्ञाता) बनी हुई है। चार भाव (पर्याय = विभावभाव) गौण होने पर ज्ञायक = परमपारिणामिकभाव प्राप्त होता है, जो कि दृष्टि का विषय है। इस प्रकार प्रत्येक पर्याय में पूर्ण द्रव्य विद्यमान है ही, मात्र वैराग्यादि योग्यताओं सहित उसकी दृष्टि कैसे करनी वह ज्ञान चाहिये। इसलिये ही दृष्टि अनुसार ऐसा कहा जा सकता है कि जो द्रव्य है वही पर्याय है (वह पर्यायदृष्टि) अथवा जो पर्याय है, वही द्रव्य है (वह द्रव्यदृष्टि)।

ज्ञान (आत्मा) सामान्य–विशेषात्मक होता है। ज्ञान सामान्यभाव (परमपारिणामिकभाव) निर्विकल्प होता है। जबकि ज्ञान विशेषभाव (चार भावरूप) सविकल्प होता है, जिससे ज्ञान सामान्यभाव (परमपारिणामिकभाव) में एकत्वभाव होते ही निर्विकल्प अनुभूति होती है। यही आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन की विधि (पद्धति) है।

श्लोक ६६–६७ : अन्वयार्थ :– '(वैभाविकी तथा स्वाभाविकी ये दोनों क्रियायें = पर्यायें जब पारिणामिक ही हैं तो उनमें कुछ अन्तर ही नहीं) इस प्रकार कहना ठीक नहीं है क्योंकि बद्ध और अबद्ध ज्ञान में अन्तर है, उसमें से मोहनीय कर्म से आवृतज्ञान को (अर्थात् औदयिकरूपी विशेषभाव को) बद्ध कहते हैं तथा मोहनीय कर्म से अनावृत ज्ञान को (अर्थात् सामान्यज्ञान को, ज्ञायकरूपी ज्ञान को, परमपारिणामिकभावरूपी ज्ञान को तथा कारणशुद्धपर्यायरूपी ज्ञान को) अबद्ध कहते हैं। जो ज्ञान मोहकर्म से आवृत्त अर्थात् जुड़ा हुआ है, वह जैसे इष्ट और अनिष्ट अर्थ के संयोग से अपने आप ही राग–द्वेषमय होता है, वैसे ही वह प्रत्येक पदार्थ को क्रम क्रम से विषय करनेवाला होता है अर्थात् उन सभी पदार्थों को एक साथ विषय करनेवाला नहीं होता।' इसी विषय को श्लोक १३० में विशेष स्पष्ट किया है, इसलिये वह अब देखेंगे।

श्लोक १३० : अन्वयार्थ :– 'परगुण आकाररूपी पारिणामिकी क्रिया बन्ध कहलाता है तथा उस क्रिया के होने से ही उन दोनों जीव और कर्मों का अपने–अपने गुणों से च्युत होना

होता है, वह अशुद्धता कहलाती है।' अर्थात् पारिणामिकी क्रिया यानी पारिणामिकीभावरूप (पर्यायरूप) से जीव ही परिणमता है।

भावार्थ :- 'प्रत्येक द्रव्य में पारिणामिकभाव होता है। जीव और पुद्गल में उसमें दो प्रकार की क्रियाएँ होती है - एक शुद्ध तथा दूसरी अशुद्ध। प्रत्येक द्रव्य, वह क्रिया का कर्ता स्वयं होने से वह क्रिया पारिणामिकभावरूप है। जैसे जीव में क्रोध होता है, वह स्व अपेक्षा से पारिणामिकभाव (क्रिया) है। (औदयिक भाव वास्तव में तो पारिणामिकभाव का ही बना हुआ है)। (देखें, जयधवला भाग-१, पृष्ठ ३१९ तथा श्री षट्खण्डागम पुस्तक-५, पृष्ठ १९७-२४२-२४३) और विकारी भावों में कर्म के उदय की अपेक्षा बतानी हो तब उस पर्याय को औदयिकी भी कहा जाता है (यही बात पूर्व में हमने बतायी है कि औदयिकीभावरूप पर्याय वास्तव में पारिणामिकभाव की ही बनी हुई है कि जो उसका सामान्यभाव कहलाता है।) परन्तु इस कारण से कहीं ऐसा नहीं समझना कि जीव में पर का कोई भी गुण आ जाता है।

दूसरा जो भाव (विभावभाव) जीव में से निकल जाने योग्य हो, वह अपना स्वरूप नहीं होने से निश्चय नय से वह अपना नहीं है। उसे परभाव, परगुणाकार इत्यादि नाम से पहचाना जाता है। इस अपेक्षा से जीव के विकारभाव को निश्चय नय से पुद्गल परिणाम कहने में आया है क्योंकि वह जीव का स्वभाव नहीं और पुद्गल के सम्बन्ध से होता है, इसलिये वह विकारभाव निश्चय बन्ध है। वह विकारी पारिणामिकीक्रिया होने पर अपने गुण से च्युत होना वह अशुद्धता है।'

अर्थात् जो जीव का परमपारिणामिकभाव है अर्थात् जो जीव का सहज परिणमन है, वही पर लक्ष्य से अशुद्धतारूप परिणमकर निश्चय बन्धरूप में होता है। इसीलिये उस अशुद्धता गौण होते ही परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा जो कि सम्यग्दर्शन की विषय (दृष्टि का विषय) है, वह प्रकट/उपस्थित होती ही है और इसी अपेक्षा से समयसार गाथा १३ में भी बताया है कि 'नौ तत्त्व में छिपी हुई आत्म ज्योति' अर्थात् उन नौ तत्त्वरूप जो जीव का परिणमन है (पर्याय है) उसमें अशुद्धियाँ गौण होते ही जो शेष रहता है, वही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है, वही कारणशुद्धपर्याय है, वही सम्यग्दर्शन (दृष्टि) का विषय है।

१६

स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय

हमने जो पूर्व में बताया कि स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय, ऐसी दो पर्याय अपेक्षा से कही जाती हैं अर्थात् दोनों एक ही पर्याय (वस्तु, द्रव्य) का अनुक्रम से सामान्यरूप और विशेषरूप है, परन्तु स्वभाविक शक्ति और वैभाविक शक्ति एक ही काल में नहीं होतीं, क्योंकि ऐसा मानने पर दोनों पर्यायें विशेषरूप हो जाने से, एक द्रव्य की एक काल में दो पर्याय का प्रसंग आयेगा और कार्य-कारणभाव के नाश का प्रसंग आयेगा, जिससे बन्ध-मोक्ष के अभाव का प्रसंग आयेगा, वही अब आगे बताते हैं। **पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक :-**

श्लोक ९२ : अन्वयार्थ :- 'यह स्वाभाविकी और वैभाविकी शक्ति का एक काल में सद्भाव मानने पर न्याय से भी बहुत बड़ा दोष आयेगा, क्योंकि युगपत् स्वाभाविक और वैभाविकभाव को मानने से कार्य-कारणभाव का नाश तथा बन्ध-मोक्ष के नाश होने का प्रसंग आता है।'

भावार्थ :- 'वैभाविकी शक्ति की विभाव और स्वभावरूप दो अवस्थायें मानने से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध हो जाती है तथा वह विभाव और स्वभाव अवस्थायें क्रमवर्ती हैं, इसलिये बन्ध और मोक्ष के कार्यकारणभाव अलग अलग हैं - ऐसा भी सिद्ध होता है। परन्तु दोनों शक्तियों को युगपत् मानने से न तो कार्य-कारणभाव बन सकेगा तथा न ही बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था ही बन सकेगी।'

हम जो पूर्व में देख चुके हैं, वही यहाँ बताया है कि यदि छद्मस्थ जीव में स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय ऐसी दो पर्याय मानने में आयें तो जो कार्य-कारणरूप व्यवस्था है वह सिद्ध ही नहीं होगी। अर्थात् जिस आत्मा में प्रत्येक प्रदेश में कर्म हैं और उनके निमित्त से वह अशुद्धरूप परिणमता है, ऐसा कार्य-कारणभाव और उन कर्मों का अभाव होते ही वह जीव शुद्धरूप परिणमता है, वैसा बन्ध और मोक्ष भी सिद्ध नहीं होगा। इसलिये छद्मस्थ जीव में विशेषरूप विभाव परिणमन और सामान्यरूप स्वभाव परिणमन ही मानने योग्य है जो कि सामान्यरूप स्वभाव परिणमन के बल से वह जीव कर्मों के निमित्त से होते भाव में 'मैंपन' से छूटकर अर्थात् उनमें 'मैंपन' नहीं करके मात्र परमपारिणामिकभाव में ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उन विभावरूप भावों को क्षणिक और हेय मानकर कर्मों के नाश के लिये शक्ति प्राप्त करता है। आगे वैसा ही पुरुषार्थ बारम्बार करके सभी कर्मों का नाश करके, वैसे भावों से सर्वथा, सर्व काल के लिये छूटता है, मुक्त होता है। यही मोक्ष है।

१७

नौ तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा का स्वरूप

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक

श्लोक १३३-१३४-१३५ : अन्वयार्थ :-'वास्तव में यहाँ शुद्ध नय की अपेक्षा से जीव शुद्ध भी है (अर्थात् एकान्त शुद्ध नहीं अथवा तो उसका एक भाग शुद्ध और एक अशुद्ध ऐसा भी नहीं परन्तु अपेक्षा से जीव शुद्ध भी है) तथा कथंचित् बद्धाबद्ध नय अर्थात् व्यवहार नय से जीव अशुद्ध है, यह भी असिद्ध नहीं (अर्थात् व्यवहार नय से जीव अशुद्ध है)। सम्पूर्ण शुद्ध नय, एक, अभेद और निर्विकल्प है। व्यवहार नय अनेक, भेदरूप और सविकल्प है। शुद्ध नय का विषय चेतनात्मक शुद्ध जीव वाच्य है और व्यवहार नय के विषयरूप वह जीवादि नौ पदार्थ कहने में आये हैं।' हम प्रारम्भ में ही जो समझे हैं कि वस्तु एक अभेद है और उसे देखने की दृष्टि अनुसार वही वस्तु शुद्ध अथवा अशुद्ध, अभेद अथवा भेदरूप ज्ञात होती है, वही बात यहाँ सिद्ध की गयी है। अब समयसार गाथा १३ के जो भाव हैं कि 'नौ तत्त्व में छिपी हुई आत्म(-चैतन्य) ज्योति' वही भाव अगले श्लोक में व्यक्त कीया गया हैं।

श्लोक १५५ : अन्वयार्थ :- 'अर्थात् एक जीव ही जीव-अजीवादि नौ पदार्थरूप होकर विराजमान है। इन नौ पदार्थों की अवस्थाओं में भी यदि विशेष अवस्थाओं की विवक्षा न की जाये तो (अर्थात् विशेषरूपी विभावभावों को यदि गौण किया जाये तो) केवल शुद्ध जीव ही है (केवल परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा ही है अर्थात् वह केवल कारणशुद्धपर्यायरूपी दृष्टि का विषय ही है। इससे विशेष अवस्थायें - पर्यायें परमपारिणामिकभाव की ही बनी हैं, यही बात सिद्ध होती है)।'

श्लोक १६०-१६३ : अन्वयार्थ :- 'सौपरक्ती से उपाधिसहित स्वर्ण त्याज्य नहीं क्योंकि उसका त्याग करने पर सर्व शून्यतादि दोषों का प्रसंग आता है (उसी प्रकार यदि अशुद्धरूपी परिणमित जीव अर्थात् अशुद्ध पर्याय का त्याग किया जाये तो वहाँ पूर्ण द्रव्य का ही त्याग हो जाने से, सर्वथा शून्यतादि का दोष आयेगा अर्थात् उस अशुद्ध पर्याय में ही परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा छिपी हुई होने से यदि उस अशुद्ध पर्याय का त्याग करेंगे तो पूर्ण द्रव्य का ही लोप हो जायेगा। इसलिये उस अशुद्ध पर्याय का त्याग न करके, मात्र अशुद्धि को ही गौण करना और ऐसा करते ही परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा जो कि दृष्टि का विषय है वह प्रकट होगा।) (दूसरा) ऐसा कथन भी परीक्षा करने से सिद्ध नहीं हो सकता कि जिस समय सुवर्ण, पर्याय से शुद्ध है उस समय

ही वह शुद्ध है (अर्थात् जो अशुद्धतारूपी परिणमित संसारी जीवों को एकान्त से अशुद्ध ही मानते हैं और शुद्धोपयोग मात्र तेरहवें गुणस्थान से ही मानते हैं, उन्हें शुद्ध नय की प्राप्ति होनेवाली ही नहीं है अर्थात् ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति ही नहीं होती और दूसरा जो पर्याय को अशुद्ध मानकर दृष्टि के विषय में शामिल नहीं करते और एकान्त से शुद्ध-ध्रुव खोजते हैं, उन्हें भी उसकी प्राप्ति होनेवाली नहीं है।) क्योंकि (एकान्त) शुद्ध द्रव्य की प्राप्ति न होने से उसकी प्राप्ति के हेतु का भी अदर्शन सिद्ध होता है (अर्थात् जो खान में से निकले हुए अशुद्ध स्वर्ण का अस्वीकार करे तो उसमें छिपे हुए शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति भी हो सकनेवाली नहीं है। इसी प्रकार अशुद्ध जीव में = पर्याय में ही शुद्धात्मा छिपी हुई है, ऐसा जानना।)

(अब आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित शुद्धात्मा की प्राप्ति की विधि बताते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन की रीति बताते हैं) जिस समय उस अशुद्ध स्वर्ण के रूपों में केवल शुद्ध स्वर्ण दृष्टिगोचर किया जाता है (अर्थात् अशुद्ध पर्याय में द्रव्यदृष्टि से केवल शुद्धात्मा = परमपारिणामिकभाव दृष्टिगोचर होता है) उस समय पर द्रव्य की उपाधि दृष्टिगोचर नहीं होती (अर्थात् पर्यायरूप परिणमित द्रव्य की अशुद्धि गौण होते ही पूर्ण साक्षात् शुद्धात्मा ही ज्ञात होती है) परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से अपना अभीष्ट वह केवल शुद्ध स्वर्ण ही दृष्टिगोचर होता है (इसीलिये दूसरे को जो द्रव्य प्रमाण का भासित होता है, उसी द्रव्य में हमें परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा के दर्शन होते हैं; इसलिये कहा जा सकता है कि - उसमें दूसरे का दोष मात्र यह है कि जब उसे = द्रव्य को द्रव्यार्थिक नय से ग्रहण करना है तभी वे उसे प्रमाणदृष्टि से ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि उनकी धारणा में द्रव्य दो भागवाला है कि जिसमें का एक भाग शुद्ध और दूसरा अशुद्ध है। दूसरे की ऐसी गलत मान्यता होने से हम जब पूर्ण द्रव्य की बात करते हैं तब उन्हें उसमें प्रमाण के द्रव्य के ही दर्शन होते हैं और जब हम उसी प्रमाण के द्रव्य को शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से ग्रहण करके उसे शुद्धात्मा = परमपारिणामिकभाव कहते हैं, तब वे उसमें पर्याय से भिन्न, अपरिणामी = कूटस्थ खोजते हैं, कि जिसका अस्तित्व ही नहीं है, जो कभी शुद्ध भागरूप अर्थात् एकान्त शुद्धरूप मिलनेवाला ही नहीं है) इसलिये सिद्ध होता है कि जैसे उस अशुद्ध स्वर्णमाला में अन्य धातुओं का संयोग होने पर भी वास्तव में पर संयोग रहित भिन्न रूप से शुद्ध स्वर्ण का अस्तित्व सिद्ध होता है, इसी प्रकार जीवादिक नौ पदार्थों में शुद्ध जीव का अस्तित्व सिद्ध है।' अन्यथा नहीं, अर्थात् उन अशुद्ध पर्यायों के अतिरिक्त उस काल में जीवत्व अन्य कुछ भी नहीं, वह पूर्ण जीव ही उस रूप परिणमित है, इसलिये उसमें ही शुद्धात्मा छिपी हुई है। इस भाव को समझाते हुए दृष्टान्त अब बाद की गाथाओं में दिये हैं, वे संक्षेप में बताते हैं।

श्लोक १६६ :- में कीचड़सहित जल का उदाहरण है। उस कीचड़सहित जल में ही शुद्ध जल छिपा हुआ है।

श्लोक १६७ :- में अग्नि का दृष्टान्त है। उपचार से अग्नि का आकार उसकी दाह्यता के अनुसार होने पर भी वह मात्र अग्नि ही है अन्य कुछ भी रूप नहीं है अर्थात् दाह्य रूप नहीं है। यही बात समयसार गाथा ६ में भी बतायी है कि ज्ञान ज्ञेयरूप परिणमने पर भी वह ज्ञायक ही है।

श्लोक १६८ :- में दर्पण का दृष्टान्त है। दर्पण में अलग-अलग प्रतिबिम्ब होने पर भी, उन्हें गौण करते ही मात्र स्वच्छ दर्पण ही है, वास्तव में वहाँ अन्य कोई नहीं।

श्लोक १६९ :- में स्फटिक का दृष्टान्त है। उस स्फटिक में कुछ भी झांईं पड़े, इस कारण से कहीं वह उस रंग का दिखने पर भी, स्वरूप से वह उस रंग का हो नहीं जाता; स्वरूप से वह स्वच्छ ही रहता है।

श्लोक १७० :- में ज्ञान का दृष्टान्त है। ज्ञान, ज्ञेय को जानते हुए ज्ञेयरूप नहीं होता परन्तु जैसे उसमें ज्ञेय गौण होते ही वहाँ ज्ञायक उपस्थित ही है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही रीति है सम्यग्दर्शन की। यही बात समयसार श्लोक २७१ में भी कही गयी है।

श्लोक १७१ :- में समुद्र का दृष्टान्त है। समुद्र की वायु से प्रेरित लहरें उठती होने पर भी वे मात्र समुद्ररूप ही रहती हैं, वायुरूप नहीं होती।

श्लोक १७२ :- में नमक का दृष्टान्त है। नमक रसोई में अन्यरूप नहीं हो जाता, तथापि अज्ञानी जीव उस नमक का स्वाद नहीं ले सकते, जबकि ज्ञानी जीव भेदज्ञान से नमक का स्वाद (शुद्धात्मा का स्वाद) ले लेते हैं। इसी बात को आगे के श्लोकों में दृढ़ कराते हैं। वह अब देखते हैं।

श्लोक १७८ : अन्वयार्थ :- 'इन नौ पदार्थों से भिन्न सर्वथा शुद्ध द्रव्य की सिद्धि नहीं हो सकती, (इसलिये किसी को वैसे भ्रम में रहने की आवश्यकता नहीं है कि पर्याय से भिन्न सर्वथा शुद्ध द्रव्य उपलब्ध होगा) क्योंकि साधन का अभाव होने से उस शुद्ध द्रव्य की उपलब्धि नहीं हो सकती।' यही बात हमने पूर्व में बतायी है कि उन अशुद्ध पर्यायों के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य ही नहीं। अभी तो वह पूर्ण द्रव्य ही उन पर्यायरूप में व्यक्त हो रहा है, उन पर्यायों से भिन्न कोई शुद्ध भाव की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? यदि हो भी तो वह मात्र भ्रम में ही, अन्यथा नहीं।

श्लोक १८६ : अन्वयार्थ :- 'इसलिये शुद्ध तत्त्व (अर्थात् परमपारिणामिकभाव) कहीं इन नौ तत्त्वों से अलग नहीं है किन्तु केवल नौ तत्त्व सम्बन्धी विकल्पों को कम करते ही (अर्थात् गौण करते ही) वे नौ तत्त्व ही शुद्ध हैं।' अर्थात् वे नौ तत्त्व ही परमपारिणामिकभाव के बने हुए

होने से अर्थात् ध्रुवरूप शुद्धात्मा ही उन नौ तत्त्वरूप से परिणमित हुई होने से वह उन नौ तत्त्वों में छिपी हुई है अर्थात् उन नौ तत्त्वों में से अशुद्धि गौण होते ही दृष्टि के विषयरूपी शुद्धात्मा हाज़िर ही है।

श्लोक १८९ : अन्वयार्थ :- 'पुण्य और पाप जोड़कर इन सात तत्त्वों को ही नौ पदार्थ कहा गया है, तथा भूतार्थ नय से आश्रय किये हुए सम्यग्दर्शन के वास्तविक विषय हैं।' अर्थात् दृष्टि के विषयरूपी हैं। स्वात्मानुभूति के विषयरूपी हैं।

भावार्थ :- ''पूर्व में श्लोक १८६ में कहा गया था कि नौ तत्त्वों से शुद्धात्मा कोई अलग पदार्थ नहीं है, परन्तु उन नौ तत्त्व सम्बन्धी विकारों को छोड़ने पर (गौण होने पर) वे नौ तत्त्व ही शुद्ध हैं (परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा है)। नौ तत्त्व सम्बन्धी विकारों को किस प्रकार छोड़ा जाये, उसका उपाय इस गाथा में दर्शाया है कि भूतार्थ नय द्वारा उन नौ तत्त्वों का आश्रय करना सम्यग्दर्शन का विषय है। श्री समयसार की गाथा ११ में भी कहा है कि 'व्यवहार नय अभूतार्थ है तथा शुद्ध नय भूतार्थ है ऐसा ऋषीश्वरों ने (भगवान ने) दर्शाया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।' तत्पश्चात् इसी शास्त्र की गाथा १३ में कहा है कि 'भूतार्थ नय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध और मोक्ष ये नौ तत्त्व सम्यक्त्व हैं।' तथा इस गाथा की टीका में कहा है कि इन नौ तत्त्वों में भूतार्थ नय से एक जीव ही प्रकाशमान है, ऐसे उस एकपने को प्रकाशित करते शुद्ध नय द्वारा अनुभव में आता है और जो यह अनुभूति, वह आत्मख्याति ही है तथा आत्मख्याति वह सम्यग्दर्शन है। इस गाथा में 'भूतार्थ नय से आश्रय किये हुए नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन का वास्तविक विषय है।' ऐसा कहा है परन्तु वह मात्र कथनपद्धति का भेद है-आशय भेद नहीं। यहाँ भूतार्थ नय से आश्रय किये हुए नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है' ऐसा कहने का कारण यह है कि शंकाकार ने प्रथम श्लोक १४२ से १४९ में नौ पदार्थ बन नहीं सकते ऐसा कहा था और तत्पश्चात् श्लोक १७९-१८० में इन नौ पदार्थों को आत्मा से सर्वथा भिन्न होना कहा था, ये दोनों कथन दोषयुक्त हैं ऐसा दृढ़ करने के लिये ऐसी पद्धति यहाँ ग्रहण की है।

आगे श्लोक २१८-२१९ में शंकाकार फिर कहता है कि जब नौ तत्त्वों में सम्यग्दृष्टि को निश्चय से मात्र आत्मा की उपलब्धि होती है और वही शुद्ध उपलब्धि है तो फिर सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) नौ पदार्थ किस प्रकार बन सकेंगे? उसका समाधान श्लोक २२० से २२३ में ऐसा किया है कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों को नौ पदार्थों का अनुभव तो है **परन्तु मिथ्यादृष्टि को वह (अनुभव) विशेष रूप (अर्थात् विभावभावरूप-पर्यायरूप)**

तथा सम्यग्दृष्टि को वह (अनुभव) सामान्यरूप (परमपारिणामिकभावरूप-शुद्धात्मारूप) होता है। इसलिये उन दोनों के उस अनुभव के स्वाद का अन्तर है और यह बात श्लोक २२४ से २२५ में दृष्टान्त देकर सिद्ध की है। नौ तत्त्वों में सामान्य रूप से आत्मा को सम्यग्दृष्टि कैसा जानता है, यह श्लोक १९४ से १९६ में बताया है और तत्पश्चात् शुद्ध नय के विषयरूप आत्मा का स्वरूप श्री समयसार के श्लोक १४ को अनुसरण करके श्लोक २३४ से २३७ में दिया है। समयसार की ही गाथा ४०३ तथा पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध श्लोक ५३२ के भावार्थ में भी शुद्ध नय के आश्रय से ही धर्म होता है ऐसा कहा है। धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन।

इस प्रकार भूतार्थ नय के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है, ऐसा इस गाथा में बताया है। यह कथन अध्यात्म भाषा से है, आगमिक भाषा में उपादान तथा निमित्त दोनों को बताया जाता है। इसलिए वहाँ 'जीव और कर्म' इत्यादि की व्यवस्था कैसी हो कि सम्यग्दर्शन प्रगट हो? यह बताया जाता है।'' अर्थात् दृष्टि के विषयरूप शुद्धात्मा की उपलब्धि नौ तत्त्व को जानने से किस प्रकार होती है वह यहाँ स्पष्ट समझाया है।

श्लोक १९२ : अन्वयार्थ :- 'जीव के स्वरूप को चेतना कहते हैं। वह चेतना यहाँ सामान्य रूप से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से निरन्तर एक प्रकार की होती है (उसे ही परमपारिणामिकभाव, शुद्धात्मा, कारणशुद्धपर्याय इत्यादि नामों से पहचाना जाता है। वह वस्तु का सामान्यभाव है अर्थात् वस्तु को पर्याय से देखने पर उस पर्याय का सामान्यभाव है।) तथा विशेषरूप से अर्थात् पर्यायदृष्टि से वह चेतना क्रमपूर्वक दो प्रकार की है (अर्थात् औदयिक, उपशम, क्षयोपशमभावरूप अशुद्ध अथवा क्षायिकभावरूप शुद्ध ऐसी दो प्रकार की होती है) परन्तु वह युगपत् अर्थात् एक साथ नहीं (अर्थात् जब क्षायिकभाव विशेषभावरूप होता है तब वह औदयिक इत्यादि रूप नहीं होता अर्थात् दोनों साथ नहीं होते।)'

शुद्ध तत्त्व अर्थात् परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा वह कहीं नौ तत्त्वों से अलग नहीं। केवल नौ तत्त्व सम्बन्धी विकारों को कम करते ही अर्थात् गौण करते ही वही नौ तत्त्व ही शुद्ध हैं, अर्थात् वह परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा ही है। वही दृष्टि का विषय है, अर्थात् इस अपेक्षा से नौ तत्त्व को जानने पर सम्यग्दर्शन कहा जाता है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रकट से ही अप्रकट में जाया जाता है। व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है।

१८

सम्यग्दर्शन का लक्षण

अब सम्यग्दर्शन का लक्षण बताते हैं; पंचाध्यायी उत्तरार्ध के श्लोक -

श्लोक २१५ : अन्वयार्थ :- ''केवल आत्मा की उपलब्धि (अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ' ऐसी समझ) भी सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं बन सकती परन्तु यदि वह उपलब्धि 'शुद्ध' विशेषण सहित हो अर्थात् शुद्ध आत्मोपलब्धि हो (अर्थात् मात्र 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपन' हो) तभी सम्यग्दर्शन का लक्षण हो सकता है। यदि वह आत्मोपलब्धि अशुद्ध हो तो वह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं बन सकती।''

हमने जो भेदज्ञान की बात पूर्व में की है, वही यहाँ बतायी है। भेदज्ञानरूप स्व-पर दो अपेक्षा से होता है। एक परद्रव्यरूप-कर्म, शरीर, घर, मकान, दुकान, पत्नी, पुत्र इत्यादि से मैं भिन्न हूँ। ऐसा अन्य द्रव्य के साथ का भेदज्ञानरूप स्व-पर होता है और उसके बाद का जो दूसरा स्व-पर है, वही सम्यग्दर्शन का कारण और लक्षण है और वह दूसरे भेदज्ञानरूपी स्व-पर में, स्व-रूप मात्र शुद्धात्मा वह स्व और पररूप समस्त अशुद्धभाव जो कि कर्म (पुद्गल) के निमित्त से होते हैं। वे अशुद्धभाव होते तो हैं मुझमें ही अर्थात् मेरी आत्मा अशुद्धभावरूपी परिणमती है परन्तु उन भावों में 'मैंपन'करने योग्य नहीं है क्योंकि वे पर के निमित्त से होते हैं। दूसरे वे क्षणिक हैं क्योंकि वे सिद्धों की आत्मा में उपस्थित नहीं इसलिये वे भाव त्रैकालिक नहीं हैं। इसलिये मात्र त्रिकाली ध्रुवरूप शुद्धात्मा जो तीनों काल में प्रत्येक जीव में उपस्थित है और उसी अपेक्षा से 'सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं' - ऐसा कहा जाता है। उस भाव में ही अर्थात् आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उस 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपन' (एकत्व, तादात्म्य) होने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। इसी लिये शुद्ध आत्मा की उपलब्धि को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है।

श्लोक २२१ : अन्वयार्थ :- 'वस्तु (अर्थात् पूर्ण वस्तु, उसका कोई एक भाग नहीं) सम्यग्ज्ञानियों को सामान्यरूप से (परमपारिणामिकभावरूप से, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषयरूप से, शुद्धात्मरूप से अर्थात् कारणशुद्धपर्यायरूप से) अनुभव में आती है, इसलिये वह वस्तु (अर्थात् पूर्ण वस्तु) केवल सामान्यरूप से शुद्ध कही जाती है तथा विशेष भेदों की अपेक्षा से अशुद्ध कहलाती है।'

भावार्थ :- 'मिथ्यादृष्टि जीव की राग तथा पर के साथ एकत्व बुद्धि रहने से पर वस्तु में इष्ट-अनिष्टपन की कल्पना रहा करती है तथा वह ऐसे अज्ञानमय राग-द्वेष के कारण वस्तु के वस्तुत्व

का प्रतिभास न करके मात्र इष्ट-अनिष्टपन से ही (अर्थात् मात्र विशेषभावों का ही अनुभव करता है, क्योंकि वह पर्यायदृष्टि ही होता है) वस्तु का अनुभव करता है, तब सम्यग्दृष्टि जीव को अज्ञानमय राग-द्वेष का अभाव (अर्थात् उसे मात्र शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि होने से, राग-द्वेष गौण करके, शुद्ध का ही अनुभव करता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को अज्ञानमय राग-द्वेष का अभाव) होने से वह पर वस्तु में इष्ट-अनिष्ट कल्पना से रहित होकर वस्तुत्व का ही अनुभव करता है (मात्र शुद्धात्मा का - सामान्यभाव का ही अनुभव करता है)।'

श्लोक २३४-२३७ : अन्वयार्थ :- 'एक ज्ञान का ही पात्र होने से तथा बद्धस्पृष्टादि भावों का अपात्र होने से (अर्थात् उनमें 'मैंपन' नहीं होने से) सम्यग्दृष्टि अपने को प्रत्यक्षपूर्वक स्पष्ट प्रकार से विशेष (विभावभाव) रहित, अन्य के संयोगरहित, चलाचलतारहित तथा अन्यपने से रहित (अर्थात् औदयिक आदि भावों से रहित) स्वाद का आस्वादन करता है। तथा बन्ध रहित तथा अस्पृष्ट, शुद्ध, सिद्ध समान (क्योंकि उसे देश सिद्धत्व का अनुभव होता है), शुद्ध स्फटिक समान, सदा आकाश समान परिग्रहरहित, इन्द्रियों से उपेक्षित अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्यमय अतीन्द्रिय सुखादिक अनन्त स्वाभाविक गुणों सहित अपनी आत्मा का श्रद्धान करनेवाला होता है। इसलिये यद्यपि वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान मूर्तिवाला है तो भी प्रसंग से अर्थात् पुरुषार्थ की निर्बलता से उसे अन्य पदार्थों की भी इच्छा हो जाती है। तथापि उसे कृतार्थ जीवो जैसा परम उपेक्षा भाव रहता है।' सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था ऐसे सम्यग्दर्शन के लक्षणों से हम सब अच्छी तरह परिचित हैं। परन्तु शुद्ध आत्मोपलब्धि यानी शुद्धात्मा की अनुभूति यह सम्यग्दर्शन का लक्षण है ऐसा बहुत कम लोग जानते और मानते हैं। इस वजह से यह बात बहुत महत्व की है। शुद्धात्मा की अनुभूति ऐसा लक्षण है जो स्वयं को ज्ञात होता ही है। उपशम सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा की जो अनुभूति होती है वह इतनी स्पष्ट होती है कि उसे न किसी से कुछ पूछना पड़ता है और न ही किसी के प्रमाणपत्र की आवश्यकता पड़ती है। इसी लिये शुद्धात्मा की अनुभूति सम्यग्दर्शन का परम लक्षण है।

वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान मूर्तिवाला है तो भी प्रसंग से अर्थात् पुरुषार्थ की निर्बलता से उसे अन्य पदार्थों की भी इच्छा हो जाती है। इसलिये आगे हम श्वेताम्बर ग्रन्थों में स्वात्मानुभूति दर्शाती गाथाएँ बताकर, सम्यग्दृष्टि के भोग के बारे में कुछ बताने का प्रयास करेंगे।

१८-अ

श्वेताम्बर ग्रन्थों में स्वात्मानुभूति दर्शाती गाथाएँ

देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं। *(आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत ध्यानशतक गाथा ९२)*

अर्थ – कायोत्सर्ग में रहा साधक देहभिन्न आत्मद्रव्य का अतीन्द्रिय साक्षात्कार करता है।

विशेष टिप्पणी – इससे कह सकते हैं कि छद्मस्थ जीव भी स्वात्मानुभूति कर सकता है।

अप्पणा चेव अप्पंमि, सक्खं पिक्खंति अप्पयं। *(सिरिसिरिवालकहा गाथा ११००)*

अर्थ – साधक को अपनी आत्मा में अपनी आत्मा से अपनी आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है।

विशेष टिप्पणी – सम्यग्दृष्टि को स्वानुभूति होती है।

आया अणुभवसिद्धो ....जीवो अत्थि अवस्सं पच्चक्खो नाणदिट्ठीणं।

(आचार्य हरिभद्र सूरि कृत सम्यक्त्वसप्ततिका श्लोक ६० की वृत्ति)

अर्थ – आत्मा स्वसंवेदनज्ञान में अनुभव में आती है।.... ज्ञानदृष्टिवाले साधकों को आत्मा अवश्य प्रत्यक्ष है।

विशेष टिप्पणी – सम्यग्दृष्टि व्यक्ति को स्वानुभूति होती है।

आत्मा आत्मना आत्मानं सुविशुद्धध्यानसंवलितः पश्यति।

(आचार्य संघतिलक सूरि कृत सम्यक्त्वसप्ततिका श्लोक ६० की वृत्ति)

अर्थ – सुविशुद्ध ध्यान से युक्त आत्मा निज आत्मद्रव्य का साक्षात्कार करती है।

विशेष टिप्पणी – सुविशुद्ध ध्यान का मतलब ही शुद्धात्मा की अनुभूति, शुद्धात्मा का साक्षात्कार है।

यद्रूपं कल्पनाऽतीतं, तत्तु पश्यत्यकल्पकः।

(उपाध्याय यशोविजय कृत अध्यात्मसार श्लोक १८/१२१)

अर्थ – आत्मा का जो निरंजन-निराकार कल्पनातीत चैतन्यस्वरूप है उसे तो कल्पनाओं से मुक्त हुई आत्मा ही अतीन्द्रिय साक्षात्कार के रूप में अनुभव करती है।

विशेष टिप्पणी – कल्पना = संकल्प, विकल्प। कल्पनाओं से मुक्त = निर्विकल्प।

श्रुत्वा मत्वा मुहुः स्मृत्वा साक्षादनुभवन्ति ये।
तत्त्वं न बन्धधीस्तेषामात्माऽबन्धः प्रकाशते।।

(उपाध्याय यशोविजय कृत अध्यात्मसार श्लोक १८/१७७)

अर्थ – जो साधक अध्यात्मशास्त्र को बारबार सुनते हैं, बारबार मनन करते हैं, बारबार स्मरण करके आत्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव करते हैं, उन्हें अनुभवज्ञान हो जाने से आत्मा बन्धती है' ऐसा विचार नहीं आता। बल्कि उन्हें तो आत्मा बन्धमुक्त है' ऐसा अनुभवज्ञान प्रकाशित होता है।

विशेष टिप्पणी – आत्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव = बिना इन्द्रियों की सहायता के अतीन्द्रिय अनुभव।

यः पश्येन्नित्यमात्मानमनित्यं परसङ्गमम्।
छलं लब्धुं न शक्नोति तस्य मोहमलिम्लुचः।।

(उपाध्याय यशोविजय कृत ज्ञानसार श्लोक १४/२)

अर्थ – जो साधक सदैव अविचलित स्वरूपवाली आत्मा का अनुभव करता है और देहादि परसंयोग से अनित्यरूप देखता है, उसे मोहरूपी चोर ठग नहीं सकता।

अविद्यातिमिरध्वंसे, दृशा विद्याञ्जनस्पृशा।
पश्यन्ति परमात्मानमात्मन्येव हि योगिनः।।

(उपाध्याय यशोविजय कृत ज्ञानसार श्लोक १४/८)

अर्थ – मिथ्याज्ञानरूप अन्धकार का नाश होते ही तत्त्वबुद्धिरूप अंजन का स्पर्श करनेवाली दृष्टि से योगी अपनी आत्मा में ही परमात्मा को देखता है, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप से उसका अनुभव करता है।

विशेष टिप्पणी – सम्यग्दृष्टि को स्वानुभूति होती है। परमात्मा = उत्कृष्ट ज्ञानवन्त केवलज्ञानी आत्मा।

पश्यतु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं निर्द्वंद्वानुभवं विना।
कथं लिपिमयी दृष्टिवाङ्मयी वा मनोमयी।।

(उपाध्याय यशोविजय कृत ज्ञानसार श्लोक २६/६ और अध्यात्मोपनिषद श्लोक २/२३)

अर्थ – संकल्प-विकल्पादि द्वन्द्वरहित ब्रह्म के द्वन्द्वरहित प्रत्यक्ष साक्षात्कार के बिना कैसे लिपिमय दृष्टि, वाङ्मयी दृष्टि या मनोमय दृष्टि अतीन्द्रिय अनुभव कर सकती है? नहीं कर सकती।

विशेष टिप्पणी – इससे समझ में आता है कि सम्यग्दर्शन होते ही आत्मा का साक्षात् निर्विकल्प अनुभव होता है। ब्रह्म = शुद्धात्मद्रव्य।

मिथ्यातिमिरध्वंसे जाते सम्यग्दृष्टयः आत्मानम् आत्मनि पश्यन्ति।

(उपाध्याय यशोविजय कृत ज्ञानसार की उपाध्याय देवचन्द्र कृत ज्ञानमञ्जरी टीका श्लोक १४/८)

अर्थ – मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश होते ही सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप से निज आत्मद्रव्य का अनुभव करते हैं।

अनुभवज्ञानी एव शुद्धात्मस्वरूपं पश्यति।

(उपाध्याय यशोविजय कृत ज्ञानसार की उपाध्याय देवचन्द्र कृत ज्ञानमञ्जरी टीका श्लोक २६/६)

अर्थ – अनुभवज्ञानी ही शुद्धात्मस्वरूप का अतीन्द्रिय साक्षात्कार करता है।

स्वात्मन्येवाभिरतिमुपयन्स्वात्मशीली स्वदर्शी।

(उपाध्याय हर्षवर्धन कृत अध्यात्मबिन्दु श्लोक १/२६)

अर्थ – अपने आत्मतत्त्व के सन्मुख रहकर आनन्द का अनुभव करता साधक अपने आत्मतत्त्व का परिशीलन करता है और निजात्मतत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

विशेष टिप्पणी – सम्यग्दृष्टि को स्वानुभूति होती है।

ज्ञानमात्रं स्वरूपं स्वं पश्यन्नात्मरतिर्मुनिः।

(उपाध्याय हर्षवर्धन कृत अध्यात्मबिन्दु श्लोक ३/३१)

अर्थ – ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को साक्षात् अनुभव करता साधक आत्मा में आनन्द पाता है।

विशेष टिप्पणी – ज्ञानमात्र =चैतन्यमात्र।

पौद्गलिकेषु भावेषु, रागद्वेषौ परित्यज्यन्।
अन्तरात्मनि यो मग्नः परमात्मानं स पश्यति।।

(आचार्य बुद्धिसागर सूरि कृत आत्मदर्शनगीता श्लोक ३१)

अर्थ – पौद्गलिकभाव में राग-द्वेष को त्यागता हुआ जो साधक अपनी अन्तरात्मा में मग्न होता है वह परमात्मा को साक्षात् देखता है।

विशेष टिप्पणी – परमात्मा = निज शुद्धात्मद्रव्य।

आत्मनि परमात्मानं पश्यन्ति ज्ञानयोगिनः।

(आचार्य बुद्धिसागर सूरि कृत कृष्णगीता श्लोक १३)

अर्थ – ज्ञानयोगी अपनी आत्मा में परमात्मा का अतीन्द्रिय साक्षात्कार करता है।

विशेष टिप्पणी – परमात्मा = निज शुद्धात्मद्रव्य।

उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि जीव को स्वात्मानुभूति होती है, शुद्धात्मा का साक्षात्कार होता है। यही इस बात को प्रमाणित करता है कि शुद्धात्मा की अनुभूति ही निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

- समयसार ग्रन्थ में पर को दो भागों में बाँटा गया है – एक वर्णादि पुद्गल के भाव और दूसरे कर्मों के कारण होनेवाले जीव के रागादि भाव इन दोनों से जब जीव वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मसन्मुखता पाकर भेदज्ञान करता है तब उसे आत्मानुभूति हो सकती है। बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा कई बार भी करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

१९

सम्यग्दृष्टि को भोग बन्ध का कारण नहीं

चौथे और पाँचवें गुणस्थान में रहनेवाला जीव भोग भोगता है तो क्यों भोगता है? उसमें उसे बन्ध नहीं, यह किस अपेक्षा से कहा जाता है ? इन प्रश्नों का स्पष्टीकरण करते हैं।

इन्द्रियजन्य सुख वास्तव में तो दु:ख ही है।

पंचाध्यायी उत्तरार्ध श्लोक २३९ : अन्वयार्थ :- 'क्योंकि सुख जैसे ज्ञात होनेवाले ये इन्द्रियजन्य सुख, दु:खरूप फल को देनेवाले होने से दु:खरूप ही है। इस कारण से वे सुखाभास हैं और त्यागने योग्य हैं। सर्वथा अनिष्ट उन दु:खों के जो कर्म हेतु (निमित्त) हैं, वे भी त्यागने योग्य हैं (अर्थात् दु:खों के निमित्त जो कर्म हैं वे भी त्यागने योग्य हैं)'

जो जीव अज्ञानी हैं, उन्हें तो इन्द्रियजन्य सुखरूप सुखाभास प्रिय होने से नियम से दु:खरूप ही है क्योंकि दु:ख के जो कारण हैं, वैसे कर्म ऐसे सुखों के प्रति आकर्षण से और ऐसे सुखों को रच-पचकर भोगने से बन्धते हैं। कालान्तर में ये दु:ख देनेवाले ही बनते हैं। आत्मज्ञानी ऐसे सुखों को उपेक्षा भाव से, अपनी निर्बलता समझकर भोगता है। इस कारण उसे अल्पबन्ध होता है। परन्तु उस अल्प को अपेक्षा से नहींवत् कहा जाता है अर्थात् बन्ध नहीं होता ऐसा ही कहा जाता है क्योंकि उसे पर में सुखबुद्धि नहीं होती। जैसे रोगी को दवा के प्रति आदर रोग के मिटने तक ही होता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी को भी इन्द्रियजन्य सुख का आदर अपने पुरुषार्थ की निर्बलता है, तब तक ही होता है और आत्मज्ञानी ऐसे सुख को सेवन करता हुआ भी उसे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता समझकर पुरुषार्थ में शक्ति स्फुरित करने का उद्यम अन्तर से करता है। इसलिये इसी अपेक्षा से उन सुखों को भोगने के बावजूद वे उसे बन्धनकारक नहीं हैं ऐसा कहा जाता है।

श्लोक २५६ : अन्वयार्थ :- 'जैसे जोंक को दूषित रक्त चूसने से तृष्णा की बीजभूत रति देखने में आती है, इसी प्रकार (अज्ञानी) संसारी जीवों में भी उन विषयों में सुहित (अच्छा मानने से, आदर होने से, आकर्षण होने से) मानने से तृष्णा की बीजभूत रति (आसक्ति) देखने में आती है।' विषयों की ऐसी आसक्ति छोड़ने योग्य है, यह बात अवश्य ध्यान में रखने जैसी है क्योंकि-

श्लोक २५८ : अन्वयार्थ :- 'सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि यहाँ जगत जिसे सुख कहता है, वह सब दु:ख ही है तथा वह दु:ख आत्मा का धर्म नहीं होने से सम्यग्दृष्टियों को उस दु:खरूप सांसारिक सुखों की अभिलाषा नहीं होती।' अर्थात् सम्यग्दृष्टियों को सुख के आकर्षण

का अभिप्राय नहीं होता। अभिप्राय में पर से सुखबुद्धि नहीं होती।

श्लोक २७१ से २७६ : अन्वयार्थ :- 'जैसे रोग की प्रतिक्रिया करता हुआ कोई रोगी पुरुष उस रोग अवस्था में रोग के पद को नहीं चाहता अर्थात् सरोग अवस्था को नहीं चाहता (अर्थात् ज्ञानी स्वयं जानता है कि यह जो मैं राग-द्वेष करता हूँ, वह मेरी रोगग्रस्त अवस्था है। क्योंकि उसने शुद्धात्मा का स्वाद अनुभव किया है तो फिर बारम्बार वह वैसी रागग्रस्त यानी रोगग्रस्त अवस्था क्यों चाहेगा?) तो फिर दूसरे समय रोग उत्पन्न होने की इच्छा के विषय में (अर्थात् जिनसे नवीन कर्मबन्ध हो ऐसे कारणों में तो वह किसलिये प्रवर्तेगा? पुरुषार्थ की कमज़ोरी न हो तो प्रवर्तेगा ही नहीं) तो कहना ही क्या? अर्थात् फिर से रोग की उत्पत्ति तो वह चाहनेवाला नहीं है। इसी प्रकार जब भावकर्मों द्वारा पीड़ित होता कर्मजन्य क्रियाओं को करनेवाला ज्ञानी किसी भी कर्मपद की इच्छा नहीं करता तो फिर वह इन्द्रियों के विषयों का अभिलाषी है-ऐसा किस न्याय से कहा जा सकता है?-कर्म मात्र को नहीं चाहनेवाले उस सम्यग्दृष्टि को वेदना का प्रतिकार भी असिद्ध नहीं है (अर्थात् प्रतिकार होता है) क्योंकि कषायरूप रोग सहित उस सम्यग्दृष्टि को वेदना का प्रतिकार नवीन रोगादि को उत्पन्न करने में कारणरूप नहीं कहा जा सकता। (अर्थात् उसे उस वेदना का प्रतिकार अर्थात् रोग की दवा के रूप से सेवित भोग नवीन कर्मों के बन्धरूप नहीं कहे जा सकते), वह सम्यग्दृष्टि भोगों का सेवन करते रहने पर भी वास्तव में भोगों का सेवन करनेवाला नहीं कहा जाता क्योंकि रागरहित (अर्थात् शुद्धात्मामें ही 'मैंपन' है, ऐसा सम्यग्दृष्टि) जीव को कर्ता-बुद्धि के बिना किये हुए कर्म राग के कारण नहीं हैं। यद्यपि कोई-कोई सम्यग्दृष्टि जीव अर्थात् जघन्यवर्ती (अर्थात् चौथे गुणस्थानवाले) सम्यग्दृष्टि को कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना होती है (अर्थात् कर्ता-भोक्ता भाव देखने को मिलता है) तो भी वास्तव में वह ज्ञान चेतना ही है (क्योंकि उस दिखायी देते कर्ता-भोक्ता भाव में 'मैंपन' न होने से उसे ज्ञान चेतना ही है) कर्म में तथा कर्म फल में रहनेवाली चेतना का फल बन्ध होता है, परन्तु उस सम्यग्दृष्टि को अज्ञानमय राग का अभाव होने से (अर्थात् राग में 'मैंपन' का अभाव होने से) बन्ध नहीं होता इसलिये वह ज्ञान चेतना ही है।' सम्यग्दर्शन की पूर्वभूमिका में और सम्यग्दर्शन प्राप्त करने पर हर जीव के अभिप्राय में प्रथम क्षण से ही संसार विरक्ति होती है। ऐसे जीव अगर अपने पुरुषार्थ की कमज़ोरी के कारण भोग भोगते हुए दिखते हैं, फिर भी उनके अभिप्राय में भोग के प्रति कोई आसक्ति (सुखबुद्धि) न होने से बन्ध ना के बराबर ही होता है। यह रहस्य है सम्यग्दृष्टि को भोग बन्ध का कारण नहीं होने का।

२०

निमित्त–उपादान की स्पष्टता

अब आगम भाषा से समझाते हैं कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कब होती है? **पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध** के श्लोक–

श्लोक ३७८ : अन्वयार्थ :– 'दैव (कर्म) योग से, कालादिक लब्धियों की प्राप्ति होने पर संसारसागर (का किनारा) निकट आने पर अथवा भव्यभाव का विपाक होने पर जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।'

यहाँ सम्यग्दर्शन के यथार्थनिमित्त का ज्ञान कराया है, अर्थात् कार्यरूप से तो उपादान स्वयं ही परिणमता है परन्तु तब यथार्थनिमित्त की उपस्थिति नियम से होती ही है। इसलिये कहा जा सकता है कि 'कार्य निमित्त से तो होता ही नहीं परन्तु निमित्त के बिना भी होता ही नहीं' और इसी लिये जिनागम में जीव को पतन के कारणभूत निमित्तों से दूर रहने का उपदेश स्थान–स्थान पर दिया गया है और वह योग्य भी है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत **समयसार टीका** श्लोक (सभी जगह पर समयसार श्लोक का उल्लेख आने पर यही समझाना है) २७८–२७९ : गाथार्थ :– 'जैसे स्फटिक मणि शुद्ध होने से (अर्थात् ज्ञानी जिसमें 'मैंपन' करता है वह शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से) रागादिरूप से (लालिमा आदि रूप से) अपने आप नहीं परिणमता (ज्ञानी स्वेच्छा से रागरूप नहीं परिणमता इच्छापूर्वक राग नहीं करता) परन्तु अन्य रक्त आदि द्रव्यों द्वारा वह रक्त (–लाल) आदि किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी (शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करते हुए) अर्थात् आत्मा शुद्ध होने से (अर्थात् शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से) रागादिरूप अपने आप नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषों द्वारा (अर्थात् उसके योग्य ऐसे कर्म के उदय के निमित्त कारण) वह रागी आदि किया जाता है (अर्थात् वह अपनी कमज़ोरी के कारण रागी–द्वेषी होता है)।'

समयसार : श्लोक १७५ :– 'सूर्यकान्त मणि की भाँति (अर्थात् जैसे सूर्यकान्त मणि स्वयं से ही अग्निरूप नहीं परिणमती, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्त है, उसी प्रकार) आत्मा स्वयं को रागादि का निमित्त कभी नहीं होता (अर्थात् शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से, रागादिरूप अपने आप कभी नहीं परिणमता), उसमें निमित्त परसंग ही (परद्रव्य का संग ही) है–ऐसा

वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है (सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसी ने किया नहीं है)।'

वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि ख़राब निमित्त से उसका पतन हो सकता है। ऐसा है जिनसिद्धान्त का अनेकान्तवाद। कोई निमित्त को एकान्त से अकर्ता माने और ऐसा ही प्ररूपण करे तो वह जिनमत बाह्य ही है। अर्थात् वह अपने और अन्य अनेकों के पतन का कारण है, यही बात इस श्लोक में भी बतायी गई है कि शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से, रागादिरूप अपने आप कभी नहीं परिणमता, परन्तु उसमें निमित्त पर संग ही है – ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है अर्थात् सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसी ने किया नहीं है। निमित्त स्वयं उपादानरूप से परिणमता न होने पर भी वह कुछ संयोगों में उपादान पर असर करता है। उसे ही वस्तुस्वभाव कहा है, इसी लिये जिनसिद्धान्त को विवेक से ग्रहण किया जाता है और अपेक्षा से समझा जाता है; न कि एकान्त से जो कि महा अनर्थ का कारण है।

कोई एकान्त से ऐसा माने कि निमित्त तो परम अकर्ता ही है, और स्वच्छन्दता से चाहे जैसे निमित्तों का सेवन करे, तो उसे नियम से मिथ्यात्वी और अनन्त संसारी ही समझना क्योंकि उसे निमित्त का यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। इसी लिये कहा है कि निश्चय से कार्य निमित्त से तो होता ही नहीं क्योंकि उपादान स्वयं ही कार्यरूप से परिणमता है। लेकिन कार्य निमित्त के बिना भी नहीं होता। जब कोई भी कार्य होता है तब उसके योग्य निमित्त की उपस्थिति अवश्य होती ही है – अविनाभाव रूप से होती ही है और इसी लिये मुमुक्षु जीव विवेक से हमेशा निर्बल निमित्तों से बचने का ही प्रयास करता है, क्योंकि वे उसके पतन का कारण बन सकते हैं और यही निमित्त-उपादान की यथार्थ समझ है; निमित्त-उपादान पर विशेष प्रकाश आगे समयसार के निमित्त-उपादान के अधिकार में भी डालेंगे।

- समयसार ग्रन्थ में प्रमुखत: परम शुद्ध निश्चयनय के विषय यानी शुद्धात्मा का वर्णन है, उस शुद्धात्मा को ही आत्मा कहा गया है। बाक़ी सभी वर्णादि पुद्गल के भाव और दूसरे रागादि जीव के कर्मों के कारण होनेवाले भावों से भेदज्ञान कराया है। परन्तु बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा शब्दों से कई बार भेदज्ञान करने की कोशिश करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

२१

उपयोग और लब्धि रूप सम्यग्दर्शन

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ४०४ : अन्वयार्थ :– ''इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनों में विषम व्याप्ति है। क्योंकि 'सम्यग्दर्शन के साथ में उपयोगरूप स्वानुभूति होती ही है' ऐसी समव्याप्ति नहीं है (अर्थात् सम्यग्दर्शन की उपस्थिति के समय स्वात्मानुभूतिरूप अनुभव होता भी है और नहीं भी होता है। इसलिये समव्याप्ति अर्थात् अविनाभावी उपस्थिति नहीं होती) परन्तु लब्धि में अर्थात् लब्धिरूप (ज्ञान की लब्ध और उपयोगरूप ऐसी दो अवस्थायें होती हैं, उनमें लब्धिरूप अवस्था में) स्वानुभूति के साथ सम्यग्दर्शन की समव्याप्ति है (अर्थात् सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में ज्ञान में लब्धिरूप से स्वानुभूति की उपस्थिति अविनाभावी अर्थात् नियम से होती ही है।)''

पूर्व में पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक २१५ में बताये अनुसार आत्मा की उपलब्धि 'शुद्ध' विशेषण सहित होती है अर्थात् शुद्धोपयोगरूपी–स्वात्मानुभूतिरूपी अनुभव सहित हो तभी वह सम्यग्दर्शन का लक्षण हो सकती है। यदि वह आत्मोपलब्धि अशुद्ध हो तो वह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं बन सकती। परन्तु वह शुद्धोपयोगरूपी–स्वात्मानुभूतिरूपी अनुभव का सातत्य क्षणिक ही होने पर भी उसका सातत्य लब्धरूप से तो सम्यग्दर्शन की उपस्थिति के समय नियम से होता ही है।

पूर्व में हमने शुद्धात्मानुभूति को सम्यग्दर्शन के लक्षण के रूप में स्थापित किया, वह लक्षण उपयोगरूप बहुत ही कम समय के लिये रहता है। परन्तु वह लक्षण, जब तक सम्यग्दर्शन होता है तब तक लब्धरूप से उसके साथ अवश्यंभावी रहता है। यह बात जो लोग चतुर्थ गुणस्थानक में शुद्धात्मानुभूति नहीं मानते, उन्हें समझना अति आवश्यक है।

- समयसार ग्रन्थ में मुख्यत: ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है। इस अपेक्षा से आत्मा में रागादि विशेषभाव नहीं है ऐसा भी बताया है परन्तु यदि कोई जीव स्वयं को एकान्त से ऐसा रागादिरहित मानता है तो वो मिथ्यात्व में परिणमता है। इसलिये सभी को उसे जैसा यथातथ्य बताया है वैसा ही अनेकान्त से समझना है और मानना है।

२२
स्वानुभूतिरहित श्रद्धा

अब, स्वानुभूतिरहित श्रद्धा के विषय में बताते हैं – पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ४२३ : अन्वयार्थ :– 'स्वानुभूतिरहित श्रद्धा (अर्थात् कोई ऐसा माने कि नौ तत्त्व की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है अथवा सच्चे देव–गुरु–धर्म की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन मानते हों तो वैसी स्वानुभूतिरहित श्रद्धा) समीचीन (सच्ची – कार्यकारी) श्रद्धा नहीं होती इसलिये जो सम्यग्दर्शन के लक्षणभूत श्रद्धा यौगिक रूढ़ि–निरुक्ति से (अर्थात् स्वानुभूतिरूपी योग सहित की) सिद्ध अर्थवाली है (अर्थात् सच्ची है, कार्यकारी है) वह भी वास्तव में स्वानुभूति की भाँति अविरुद्ध कथन है (इसलिये श्रद्धारूपी सम्यग्दर्शन स्वानुभूतिरूपी सम्यग्दर्शन ही है)।'

स्वानुभूतिरहित श्रद्धा कार्यकारी नहीं है। इसलिये पूर्व में बताये अनुसार मात्र व्यवहार नय को ही मान्य करनेवाले ज़्यादातर लोग ऐसा मानते हैं कि–सम्यग्दर्शन अर्थात् सात/नौ तत्त्वों की (स्वात्मानुभूतिरहित) श्रद्धा अथवा सच्चे देव–गुरु–शास्त्र की (स्वात्मानुभूतिरहित) श्रद्धा। सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या व्यवहार नय के पक्ष की है। वैसी स्वानुभूतिरहित श्रद्धा समीचीन (सच्ची) नहीं होती। इसलिये जो सम्यग्दर्शन के लक्षणभूत श्रद्धा यौगिक रूढ़ि – निरुक्ति से यानी स्वात्मानुभूतिरूपी योगसहित सिद्ध अर्थवाली है यही सच्ची (कार्यकारी) है और यह समीचीन (सच्ची=कार्यकारी) श्रद्धा भी वास्तव में स्वानुभूति की भाँति अविरुद्ध कथन है। वैसी श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन स्वानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन ही है अर्थात् जो एक को अर्थात् आत्मा को जानता है, वही सबको अर्थात् सात/नौ तत्त्वों को और सच्चे देव–गुरु–शास्त्र को जानता है। क्योंकि एक आत्मा को जानते ही वह जीव सच्चे देव तत्त्व का आंशिक अनुभव करता है और इसी लिये वह सच्चे देव को अन्तर से पहचानता है और ऐसे सच्चे देव को जानते ही अर्थात् स्वात्मानुभूतिसहित श्रद्धा होते ही वह जीव वैसा देव बनने के मार्ग में चलनेवाले सच्चे गुरु को भी अन्तर से पहचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसे देव बनने का मार्ग बतलानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहचानता है।

निश्चय सम्यग्दर्शन की सच्ची व्याख्या ऐसी होने पर भी व्यवहार नय के पक्षवाले को सम्यग्दर्शन की ऐसी सच्ची व्याख्या मान्य नहीं होती। वे ऐसी व्याख्या का ही विरोध करते हैं और इसलिये वे सम्यग्दर्शन यानी सात/नौ तत्त्वों की कही जानेवाली स्वात्मानुभूतिरहित श्रद्धा अथवा सच्चे देव–गुरु–शास्त्र की कही जाती स्वात्मानुभूतिरहित श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन मानते हैं। उन्हें

स्वात्मानुभूतिरहित की श्रद्धा और स्वात्मानुभूतिसहित की श्रद्धा, इन दोनों में अन्तर ज्ञात नहीं होता। शायद वे जानना ही नहीं चाहते। इसलिये वे सम्यग्दर्शन, जो कि धर्म का मूल है, उसके विषय में ही अनजान रहकर पूरी ज़िन्दगी धर्मक्रिया उत्तम रीति से करने पर भी संसार के अन्त करनेवाले धर्म को प्राप्त नहीं करते। यह करुणा उत्पन्न करानेवाली बात है।

- ❐ प्रश्न: आत्मसन्मुखताप्राप्ति हेतु 'मैं शुद्धात्मा हूँ', 'मैं परम अकर्ता हूँ' इस प्रकार की आत्मस्वरूप की बौद्धिक जानकारी की आवश्यकता क्यों नहीं है?
  उत्तर: क्योंकि आत्मसन्मुखता परविमुखता से आती है और परविमुखता तो आत्महित सर्वोपरि के सिद्धान्त को आत्मसात करने पर ही आती है! आत्महित सर्वोपरि का सिद्धान्त बिना अपने बाँट और तराज़ू (सफलता के पैमाने/मूल्यांन के मानक) बदले समझ में नहीं आता। उसे समझने के लिये बारह भावनाओं का प्रयोगात्मक चिन्तन आवश्यक है न कि आत्मस्वरूप की बौद्धिक जानकारी क्योंकि हमने अनेकों बार नौ पूर्वों तक का अध्ययन किया है जिनमें आत्मस्वरूप की बौद्धिक जानकारी का भण्डार भरा हुआ है मगर उससे भी हमारा कल्याण नहीं हुआ। बल्कि उससे तो स्वयं शुद्धात्मा होने का भ्रम (निश्चयाभास) भी हो सकता है। इसलिये हम अभी तक संसार में भटक रहे हैं।
- ❐ कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण हमें पूछते हैं कि मैं वर्तमान में भी स्वरूप से तो में शुद्ध ही हूँ न? तब हम उन्हें बताते हैं कि स्वरूप से तो आप त्रिकाल शुद्ध ही हैं। उनको लगता है कि हम उनकी मान्यता का ही समर्थन कर रहे है क्योंकि उन्हें हमारे कथन का गूढ़ार्थ समझ में नहीं आता। जब हम कहते हैं कि स्वरूप से तो सभी जीव त्रिकाल शुद्ध ही हैं तब हम त्रिकाली ध्रुव (शुद्ध निश्चयनय) की बात कर रहे हैं यानी शुद्ध द्रव्य की बात कर रहे हैं। जिसे वे भ्रम (कल्पना) से वर्तमान में अपनी स्थिति मान लेते हैं, उसे पर्याय में घटाते हैं। उन्हें त्रिकाली ध्रुव का अनुभव तो है नहीं इसलिये वे इस बात को वर्तमान में घटाकर वैसा, अपनी पर्याय में ही भ्रम (कल्पना) से मानने लग जाते हैं। अपने आप को वर्तमान में ही भ्रम वश शुद्ध मानने लगते हैं, जो बहुत ही बड़ी भूल है। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

२३

सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सा गुण

सम्यग्दृष्टि जीव, मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' (एकत्व) करने पर भी स्वयं को दूसरे संसारी जीव जैसा ही अर्थात् कर्मों से मलिन भी अनुभव करता है। इसी लिये वह अपने को अन्य संसारी जीवों से ऊँचा मानकर उनके प्रति घृणा इत्यादि के भाव नहीं करता। यही उसका निर्विचिकित्सा गुण है। वह अन्य सभी संसारी जीवों को भी अपने जैसा ही अर्थात् स्वरूप से सिद्ध समान ही समझता है।

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध का श्लोक-

श्लोक ५८४ : अन्वयार्थ :- 'जिस प्रकार जल में कुछ गन्दगी-मलिनता रहती है। ठीक उसी प्रकार जब तक जीव में अशुचिरूपी ऐसे कर्म हैं, तब तक मैं (अर्थात् सम्यग्दृष्टि = ज्ञानी) और वह सभी संसारी जीव सामान्यरूप से (अर्थात् समान रीति से) निश्चयपूर्वक कर्मों से मलिन है (ऐसा है सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा गुण)।' अर्थात् सम्यग्दृष्टि = ज्ञानी जीव को किसी भी जीव के प्रति तुच्छता का भाव नहीं होता अपितु सभी जीवों के प्रति उसे समभाव = साम्यभाव होता है। वही सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सा गुण है।

इसलिये किसी भी कहे जानेवाले धार्मीक व्यक्तिने स्वयं को अन्य जीवों से ऊँचा मानकर अन्य जीवों के साथ तुच्छतापूर्ण व्यवहार करना ठीक नहीं है।

- राग-द्वेष की कथा, भक्तकथा, देशकथा, शौर्यकथा, विकथा आदि तो बन्धकथा हैं ही परन्तु यदि बिना मोक्ष के लक्ष्य से ज्ञानावरणादि कर्मों की कथा कर रहे हों तो उसे भी बन्धकथा में ही शामिल किया जा सकता है क्योंकि अगर हम यह जानकारी आत्मप्राप्ति यानी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये उपयोग में नहीं लाते तो हम अनादि के दु:खों के विषचक्र से मुक्त नहीं हो सकते यानी अनादि के कर्मों के विषचक्र से मुक्त नहीं हो सकते। इसलिये सभी मुमुक्षु जीवों को अपना पूरा पुरुषार्थ आत्मप्राप्ति में ही लगाना चाहिये।

२४

सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता

सम्यग्दर्शन के लिये जीव की योग्यता के सन्दर्भ में पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ७२४ : अन्वयार्थ :– 'आठों मूलगुण स्वभाव से अथवा कुलपरम्परा से गृहस्थों को प्राप्त होते हैं। इन मूलगुणों के बिना जीवों को सभी प्रकार के व्रत तथा सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकते।' अर्थात् मूलगुणों को जीव की सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता रूप कहा है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक ६६ के अनुसार 'गणधरों का कहना है कि मद्य त्याग, मांस त्याग और मधु त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों का पालन गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं।'

श्लोक ७४० : अन्वयार्थ :– 'गृहस्थों को अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिमा लेकर अथवा बिना प्रतिमा लिये व्रत धारण करके दोनों प्रकार के संयम का भी पालन करना चाहिये।' अर्थात् सभी को मात्र आत्मलक्ष्य से अर्थात् आत्मप्राप्ति के लिये संयम पालन करना चाहिये।

यही बात **परमात्मप्रकाश–मोक्षाधिकार** गाथा ६४ में इस प्रकार बतायी है कि 'पंचपरमेष्ठी को वन्दन, अपने अशुभ कर्मों की निन्दा और अपराधों का प्रायश्चित्तादि (प्रतिक्रमण) विधि से निवृत्ति ये सभी पुण्य का कारण हैं, मोक्ष का कारण नहीं। इसलिये पहली अवस्था में पाप को दूर करने के लिये ज्ञानी पुरुष यह सब करते हैं, कराते हैं और करनेवाले को अच्छा मानते हैं। फिर भी निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्था में ज्ञानी जीव इन तीनों में से एक भी न करे, न कराये और न करनेवाले को अच्छा माने। (क्योंकि निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्था में ज्ञानी जीव को कोई विकल्प होते ही नहीं)।' अर्थात् भूमिकानुसार उपदेश होता है, एकान्त से नहीं।

पहली अवस्था में अर्थात् सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव को पाप से मुक्त होने का और समत्वभाव प्राप्त करने का निम्न प्रकार से प्रयोगात्मक अभ्यास करना चाहिये। मात्र वाचाज्ञान से स्व–कल्याण होना बहुत कठिन है। इस कारण से हम आगे प्रयोगात्मक साधना बताते हैं, जो सभी के लिये योग्यता बनाने को और योग्यता बनाये रखने को कार्यकारी है। तदुपरान्त कुछ प्रयोगात्मक साधनाएँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद भी अपनी भूमिका अनुसार स्वयंभू होती हैं।

सबसे पहले विश्व के सभी जीवों के प्रति हमको निम्नलिखित चार भाव ही करने हैं अर्थात् उनको इन चार भावों में ही वर्गीकृत करना है। अन्यथा किये हुए भाव हमारे लिये बन्धन बन सकते हैं।

१. मैत्री :- नि:स्वार्थ परमकल्याणमय मैत्री। लोक के सर्व जीवों के प्रति परमकल्याणमय मैत्री का भाव सँजोना है। अर्थात् सभी जीवों का परमकल्याण चाहना है। इससे हमारे मन में किसी के भी प्रति दुश्मनी नहीं रहेगी और न ही किसी के प्रति ड़ाह या ईर्ष्या रहेगी। जब हमारे दिल में किसी के प्रति दुश्मनी या ईर्ष्या होती है तब जिनके प्रति ऐसा भाव किया है उनको, उस भाव से फ़ायदा या नुक़सान नहीं होता परन्तु हमारा बहुत बड़ा नुक़सान होता है। (१) हमारे दिल में उनको याद करने से चुभन होती है। (२) हमारे शरीर के ऊपर उसका बुरा असर होता है। (३) हमारी प्रसन्नता भंग होती है (४) अनन्त कर्मों का बन्ध होता है।

इसके विपरीत, जब हम सभी जीवों के प्रति परम मैत्री का भाव भाते हैं, तब हमारा मन प्रसन्न रहता है और दुश्मनी या ईर्ष्या न होने के कारण पापबन्ध से भी बच जाते हैं। जिस जीव को मत-पन्थ-सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह होगा उस जीव के लिये सब के साथ मैत्री करना असम्भव ही होगा क्योंकि उस जीव को अपना-परायापन और पसन्द-नापसन्दगी के तीव्र भाव होने से वह जीव सभी जीवों को अपना मित्र मान ही नहीं पायेगा। वह जीव अपने सम्प्रदायवालों से तो बहुत प्रेम करेगा मगर अन्यों से उतना ही घृणा या तिरस्कार का भाव रखेगा। ऐसा भाव अध्यात्म का घातक होने से ही ज्ञानियों ने मत-पन्थ-सम्प्रदाय के पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह का सेवन करने के लिये मना किया है। फिर भी अगर कोई जीव एक सम्प्रदाय विशेष का आग्रह रखकर, उसी सम्प्रदाय विशेष में सम्यग्दर्शन है ऐसा मानकर अध्यात्ममार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो यह उस जीव की बहुत बड़ी ग़लती होगी और उसे अध्यात्ममार्ग तो दूर संसार में भी शान्ति और प्रसन्नता मिलना-टिकना कठिन हो जायेगा।

२. प्रमोद :- गुण/गुणी के प्रति अहोभाव। पंच परमेष्ठी के प्रति, सभी उपकारी तथा गुणी जीवों के प्रति, गुणों के प्रति प्रमोदभाव सँजोना। गुणों के प्रति और गुणी के प्रति प्रमोदभाव भाने से अपने में उन गुणों का खिलना आसान हो जाता है। प्रकृति की व्यवस्था ऐसी है कि हमें गुणों के प्रति आदरभाव होने से हमारे भीतर वे गुण प्रगट होते हैं और हमको उन जीवों के प्रति कभी भी ईर्ष्या का भाव नहीं आता। सभी जीवों में कोई न कोई गुण अवश्य होते हैं, हमारी दृष्टि हमें उन गुणों के प्रति रखनी है। न कि उनके दुर्गुणों के प्रति। जब हम किसी को याद करें, तब हमें उनके गुण याद आने चाहिये न कि दुर्गुण। इससे हमारे मन में किसी भी जीव के प्रति तुच्छपने का भाव नहीं होगा और हम पापबन्धन से भी बच जायेंगे। हमारा मन प्रसन्न रहेगा। परन्तु जिस जीव को मत-पन्थ-सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह होगा, उस जीव के लिये सबके

गुणों का प्रमोद करना असम्भव ही होगा क्योंकि उस जीव को अपना-परायापन और पसन्द-नापसन्दगी के तीव्र भाव होने से वह जीव सभी जीवों के गुणों से प्रमुदित नहीं हो पायेगा। वह जीव अपने सम्प्रदायवालों के गुणों से तो शायद प्रमोद कर भी लेगा मगर अन्यों के तो अवगुण ही देखता रहेगा और उन अवगुणों को भी बढ़ा-चढ़ाकर प्रकाशित करता रहेगा। ऐसे भाव अध्यात्म के लिये घातक होने से ही ज्ञानियों ने मत-पन्थ-सम्प्रदाय के पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह का सेवन करने से रोका है। फिर भी अगर कोई जीव एक सम्प्रदाय विशेष का आग्रह रखकर, उसी सम्प्रदाय विशेष में सम्यग्दर्शन है ऐसा मानकर अध्यात्ममार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो यह, उस जीव की बहुत बड़ी ग़लती होगी और उसे अध्यात्ममार्ग तो दूर संसार में भी शान्ति और प्रसन्नता मिलना-टिकना कठिन हो जायेगा।

३. करुणा :- आध्यात्मिक दया। अधर्मी जीवों के प्रति, विपरीत धर्मी जीवों के प्रति, अनार्य जीवों के प्रति, दीन-दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव सँजोना। इस हुण्डा अवसर्पिणी पंचमकाल में जैनसमाज में भी कई विकृतियाँ पैठ गई हैं फिर अन्य धर्म की तो बात ही क्या। उन विकृति फैलानेवालों के प्रति और उनके अनुयायियों के प्रति हमें गुस्सा या द्वेष करना योग्य नहीं परन्तु करुणाभाव रखना योग्य है। इससे हमारी प्रसन्नता अखण्ड बनी रहेगी और हम पापबन्धन से भी बच जायेंगे। परन्तु जिस जीव को मत-पन्थ-सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह होगा, उस जीव के लिये सभी जीवों के प्रति करुणा रखना असम्भव ही होगा क्योंकि उस जीव को अपना-परायापन और पसन्द-नापसन्दगी के तीव्र भाव होने से वह जीव सभी जीवों के प्रति करुणाबुद्धि नहीं रख पायेगा। वह जीव अपने सम्प्रदायवालों के ऊपर शायद करुणा कर भी लेगा, मगर अन्यों के लिये तो वह तिरस्कार, रोष और तुच्छपने का ही भाव करेगा। ऐसे भाव अध्यात्म के घातक होने से ही ज्ञानियों ने मत-पन्थ-सम्प्रदाय के पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह सेवन करने से रोका है। फिर भी अगर कोई जीव एक सम्प्रदाय विशेष का आग्रह रखकर, उसी सम्प्रदाय विशेष में सम्यग्दर्शन है ऐसा मानकर अध्यात्ममार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो यह, उस जीव की बहुत बड़ी ग़लती होगी और उसे अध्यात्ममार्ग तो दूर संसार में भी शान्ति और प्रसन्नता मिलना-टिकना कठिन हो जायेगा।

४. माध्यस्थ्य भाव :- आध्यात्मिक अभिप्रायपूर्वक उदासीनता। हमने सब जीवों के प्रति परमकल्याणमय मैत्री का भाव सँजोया है लेकिन जो हमें अपना दुश्मन मानते हैं, वे लोग हमारे साथ कुछ भी ग़लत व्यवहार कर सकते हैं। तब हमें उनके प्रति गुस्सा या द्वेष न करके, उनके

प्रति उपेक्षाभाव अर्थात् कि मध्यस्थभाव भाना है और साथ ही आगे जो हम बतानेवाले हैं, वह ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव भी सँजोना है, जिससे हम उस अपमान आदि का हमारे हक़ में उपयोग कर सकें और हम कर्मों के दुष्चक्र से भी बच सकें। परन्तु जिस जीव को मत-पन्थ-सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह होगा, उस जीव के लिये मध्यस्थभाव रखना असम्भव ही होगा क्योंकि उस जीव को अपना-परायापन और पसन्द-नापसन्दगी के तीव्र भाव होने से वह जीव दुश्मन जीवों के प्रति मध्यस्थबुद्धि नहीं रख पायेगा। वह जीव अपने सम्प्रदायवालों के ऊपर शायद माध्यस्थ भाव कर भी लेगा, मगर अन्यों के लिये तो वह तिरस्कार, रोष और तुच्छपने का ही भाव करेगा। ऐसे भाव अध्यात्म के घातक होने से ही ज्ञानियों ने मत-पन्थ-सम्प्रदाय के पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह सेवन करने से रोका है। फिर भी अगर कोई जीव एक सम्प्रदाय विशेष का आग्रह रखकर, उसी सम्प्रदाय विशेष में सम्यग्दर्शन है ऐसा मानकर अध्यात्ममार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो यह, उस जीव की बहुत बड़ी ग़लती होगी और उसे अध्यात्ममार्ग तो दूर संसार में भी शान्ति और प्रसन्नता मिलना-टिकना कठिन हो जाएगा।

अनादि से हम दु:खों का प्रतिकार करना ही सीखे हैं, उनका स्वीकार करना कभी नहीं सीखे। तब उन दु:खों का स्वागत करना तो बहुत दूर की बात है अपितु निम्नलिखित स्वागत करने के तरीक़े से हम उन दु:खों का सर्वोत्कृष्ट सकारात्मक ढंग (highest level of positive thinking) से सामना करके उन दु:खों के दुष्चक्र से मुक्ति पा सकते हैं। इस तरीक़े को हस्तगत/अभ्यस्त करने के लिये निम्नलिखित ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' दिन में कम से कम दस बार पढ़कर, मन में बिठाना आवश्यक है। क्योंकि जीवों की प्रतिक्रिया तात्कालिक होती है, प्रतिक्रिया के लिये सोचने का ज़्यादा समय नहीं होता; आत्मा में रहे हुए पूर्व निर्धारित संस्कार के अनुसार ही तात्कालिक प्रतिक्रिया होती है, उसे बदलने के लिये निम्नलिखित ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' दिन में कम से कम दस बार पढ़कर, मन में बिठाना आवश्यक है। तब फिर धीरे-धीरे जो रोष पहले सालों/महीनों तक रहता था, वह दिनों के भीतर ही समाप्त होने लगेगा। आगे-आगे ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का अभ्यास जितना गहन हो जायेगा, उतना-उतना मन का रोषयुक्त रहने का काल कम होता जायेगा और एक दिन ऐसा भी आयेगा कि फिर मन में रोष या द्वेष का जन्म ही नहीं होगा; यही अपना लक्ष्य होना चाहिये। इस तरीक़े से हम दु:ख के दुष्चक्र से बच सकते हैं और

अपनी प्रसन्नता भी अक्षत रख सकते हैं। परन्तु जिस जीव को मत-पन्थ-सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह होगा, उस जीव के लिये ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव रखना असम्भव ही होगा क्योंकि उस जीव को अपना-परायापन और पसन्द-नापसन्दगी के तीव्र भाव होने से, अपने मत-पन्थ-सम्प्रदाय का घमण्ड होने से और अपने आप को अन्यों से ऊँचा मानने से, दूसरों के लिये तो वह तिरस्कार, रोष और तुच्छपने का ही भाव रखेगा; ऐसे भाव अध्यात्म के घातक होने से ही ज्ञानियों ने मत-पन्थ-सम्प्रदाय के पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह सेवन करने से रोका है। फिर भी अगर कोई जीव एक सम्प्रदाय विशेष का आग्रह रखकर, उसी सम्प्रदाय विशेष में सम्यग्दर्शन है ऐसा मानकर अध्यात्ममार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो यह, उस जीव की बहुत बड़ी ग़लती होगी और उसे अध्यात्ममार्ग तो दूर संसार में भी शान्ति और प्रसन्नता मिलना-टिकना कठिन हो जाएगा।

''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)''

एक बात तो निश्चित ही है कि हमें जो भी दु:ख आता है, उसमें दोष हमारे पूर्व पापों का ही होता है, अन्य किसी का भी नहीं। जो अन्य कोई दु:ख देते ज्ञात होते हैं, वे तो मात्र निमित्त ही हैं। उसमें उनका कुछ भी दोष नहीं है। वे तो आपको, आपके पाप से छुड़ानेवाले हैं। तथापि ऐसी समझ न होने से आपको निमित्त के प्रति ज़रा सा भी रोष (क्रोध) आये तो फिर से आपको पाप का बन्धन होता है, जो कि भविष्य के दु:खों का जनक (कारण) बनता है। इसी प्रकार अनादि से हम दु:ख भोगते हुए, नये दु:खों का सृजन करते आ रहे हैं और अभी भी कर रहे हैं। इसलिये ऐसे अनन्त दु:खों से छूटने का मात्र एक ही मार्ग है कि दु:ख के निमित्त को मैं उपकारी मानूँ क्योंकि वह मुझे पाप से छुड़ाने में निमित्त हुआ है। उस निमित्त का किंचित् भी दोष गुनाह चिन्तवन न करूँ परन्तु अपने पूर्व के पाप ही अर्थात् अपने पूर्व के दुष्कृत्य ही वर्तमान दु:ख के कारण हैं; इसलिये दु:ख के समय ऐसा चिन्तवन करना कि :-

१. ओहो! मैंने ऐसा दुष्कृत्य किया था! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! उस दुष्कृत्य के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! **(यह हुआ प्रतिक्रमण)** (**Sorry! Sorry!**)

२. और अब मैं निर्णय करता हूँ कि ऐसे किसी भी दुष्कृत्य का आचरण फिर से कभी नहीं करूँगा! नहीं ही करूँगा! **(यह हुआ प्रत्याख्यान)** (**Never again**) और

३. अपने दु:ख के कारणरूप से दूसरों को दोषी देखना छोड़कर अपने ही पूर्वकृत भावों अर्थात् पूर्व के अपने ही पाप कर्मों का ही दोष देखकर, अन्यों को उन पापों से छुड़ानेवाला

समझकर, उपकारी मानकर, मन में धन्यवाद दो! स्वागतम् कहो! (Thank you! Welcome!) और नये पापों से बचो। **(यह हुआ समभाव - संवर - सामायिक)**

इस तरह ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का उपयोग हर जगह करना चाहिये। क्योंकि आत्मप्राप्ति के लिये मन का शान्त और प्रसन्न होना अति आवश्यक है। दूसरे, जिसे हम अपना नुक़सान समझते हैं, वह वास्तव में हमारा (आत्मा का) फ़ायदा है; ऐसा समझते ही ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव अपने मन में स्थायीरूप ले लेगा अर्थात् सर्वदा उपस्थित रहेगा, जिससे हम नये कर्मों से बच जायेंगे और पुराने कर्मों की समतापूर्वक निर्जरा हो जायेगी। ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' हर जगह उपयोगी होने के कुछ और दृष्टान्त हम आगे प्रस्तुत कर रहे हैं।

जैसे, कोई आलोचक आपकी आलोचना कर रहा है, तब यह सोचना है :-

१. ओहो! मैंने ऐसा दुष्कृत्य किया था! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! उस दुष्कृत्य के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (यह हुआ प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद ऐसा दुष्कृत्य मैं कभी नहीं करूँगा! नहीं ही करूँगा! (यह हुआ प्रत्याख्यान)

३. आलोचक को अपने पापकर्मों की सफ़ाई में मदद करनेवाला उपकारी मानकर उनके लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इससे उनके प्रति रोष या द्वेष का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इससे हम नये कर्म बन्धन से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जाएगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम नये पापकर्मों से और दु:खी होने से बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिससे हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (यह हुआ समभाव - संवर - सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर कोई आलोचक दूसरे किसी की आलोचना कर रहा है तब यह सोचना है :-

१. ओहो! मैंने भी ऐसे (आलोचना का और जिसकी आलोचना हो रही है वैसा) दुष्कृत्य अनेक बार किये हैं! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे दुष्कृत्यों के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (यह हुआ प्रतिक्रमण)

२. अबके बाद ऐसे दुष्कृत्य मैं कभी नहीं करूँगा! नहीं ही करूँगा! (यह हुआ प्रत्याख्यान)

३. आलोचक को और जिसकी आलोचना हो रही है, उन दोनों को अपने पाप कर्मों

की सफ़ाई में मदद करनेवाले उपकारी मानकर, उनके लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इससे उनके प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इससे हम नये कर्मबन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं अर्थात् स्वागतम! स्वागतम! इस कारण हम नये पापकर्मों से और दु:खी होने से बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं जिससे हम दु:खी हैं और उन कर्मों के दुष्चक्र से भी बच जायेंगे। (यह हुआ समभाव - संवर - सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर हम किसी को कोई ग़लत काम करते हुए देखें, किसी को ग़लत काम करते हुए वृत्तपत्र या अन्य समाचार माध्यमों के द्वारा जानें अथवा अन्यों के द्वारा सुनें, तब यह सोचना है :-
१. ओहो! मैंने भी ऐसा ग़लत काम अनेक बार किया होगा! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे दुष्कृत्य के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (यह हुआ प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद ऐसा ग़लत काम, मैं कभी नहीं करूँगा! नहीं ही करूँगा! (यह हुआ प्रत्याख्यान)

३. ग़लत काम करनेवाले को अपने पापकर्मों की याद दिलानेवाला और वैसे कर्मों की सत्ता में रहते हुए ही सफ़ाई करने में मदद करनेवाले उपकारी मानकर उनके लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इससे उनके प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दकभाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इससे हम नये कर्मबन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम! स्वागतम! इस कारण हम नये पापकर्मों से और दु:खी होने से बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिससे हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (यह हुआ समभाव - संवर - सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर हम किसी को धर्म की निन्दा करते हुए सुनें, साधु की निन्दा करते हुए सुनें, श्रावक की निन्दा करते हुए सुनें, विकृत धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए जानें, एकान्त धर्म के प्रचार-प्रसार करते हुए जानें या मात्र व्यवहार-क्रिया में धर्म मानते और प्रचार करते जानें, तब यह सोचना है :- १. ओहो! मैंने भी ऐसा अनेक बार किया है, इसी कारण से तो मैं अब तक इस

संसार में हूँ! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे कर्मों और मान्यता के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (यह हुआ प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद मैं ऐसे ग़लत काम या विरुद्ध धर्म की मान्यता कभी नहीं करूँगा! नहीं ही करूँगा! (यह हुआ प्रत्याख्यान)

३. ऐसे ग़लत काम करनेवाले को और ऐसी ग़लत मान्यतावालों को अपने पापकर्मों की याद दिलानेवाला और वैसे कर्मों की सत्ता में रहते हुए ही सफ़ाई करने में मदद करनेवाला उपकारी मानकर, उनके लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इससे उनके प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इससे हम नये कर्मबन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी। इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम ऐसे नये पापकर्मों से और दु:खी होने से बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिससे हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (यह हुआ समभाव – संवर – सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर हम किसी मनुष्य को अथवा किसी पंछी या प्राणी को हिंसा करते हुए देखें या सुनें, तब यह सोचना है :-

१. ओहो! मैंने भी ऐसा अनेक बार किया होगा और अगर मैं इस भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करके जल्द ही संसार से मुक्त नहीं होता तो ऐसा अनेक बार कर सकता हूँ! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसी हिंसा के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (यह हुआ प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद मैं ऐसी हिंसा कभी नहीं करूँगा! नहीं ही करूँगा! (यह हुआ प्रत्याख्यान)

३. ऐसी हिंसा करनेवाले को अपने पापकर्मों की याद दिलानेवाला और वैसे कर्मों की सत्ता में रहते हुए ही सफ़ाई करने में मदद करनेवाला उपकारी मानकर, उनके लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इससे उनके प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। जिससे हम नये कर्मबन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम नये पापकर्मों से और दु:खी होने से भी बच जायेंगे जिन्हें हम अनादि से करते आये हैं, जिससे हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में

फँसे हुए हैं। (यह हुआ समभाव – संवर – सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर हम किसी पापी को देखें, तब यह सोचना है :-

१. ओहो! मैंने भी ऐसे पाप अनेक बार किये होंगे और अगर मैं इस भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करके जल्द ही संसार से मुक्त नहीं होता तो ऐसे पाप अनेक बार कर सकता हूँ! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे पापों के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (यह हुआ प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद मैं ऐसे पाप कभी नहीं करूँगा! नहीं ही करूँगा! (यह हुआ प्रत्याख्यान)

३. ऐसे पापी को अपने पापकर्मों की याद दिलानेवाला और वैसे कर्मों की सत्ता में रहते हुए ही सफ़ाई करने में मदद करनेवाला उपकारी मानकर, उनके लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इससे उनके प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इससे हम नये कर्मबन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम नये पापकर्मों से और दु:खी होने से भी बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिससे हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (यह हुआ समभाव – संवर – सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर हम किसी गन्दगी या गन्दले को देखें, तब यह सोचना है :-

१. ओहो! मैंने भी ऐसी गन्दगी में अनेक बार जन्म लिया होगा और अगर मैं इस भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करके जल्द ही संसार से मुक्त नहीं होता तो ऐसी गन्दगी में मुझे अनेक बार जन्म लेना पड़ सकता है! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे पापों के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (यह हुआ प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद मैं ऐसा पाप कभी नहीं करूँगा, जिससे मुझे गन्दगी में जन्म लेना पड़े! नहीं ही करूँगा! (यह हुआ प्रत्याख्यान)

३. ऐसी गन्दगी को या गन्दले को अपने पापकर्मों की याद दिलानेवाला और वैसे कर्मों की सत्ता में रहते हुए ही सफ़ाई करने में मदद करनेवाला उपकारी मानकर, उनके लिये मन में धन्यवाद चिन्तवन करना। इससे उनके प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का

जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। जिससे हम नये कर्मबन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम नये पापकर्मों से और दु:खी होने से भी बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिससे हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (यह हुआ समभाव – संवर – सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर हमें किसी के कारण आर्थिक या अन्य कोई भी नुक़सान हो, तब यह सोचना है :-

१. ओहो! मैंने भी ऐसा किसी का नुक़सान करवाया होगा! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे कार्य के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (यह हुआ प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद मैं ऐसा कार्य कभी नहीं करूँगा, जिससे किसी का नुक़सान हो! नहीं ही करूँगा! (यह हुआ प्रत्याख्यान)

३. ऐसा नुक़सान करानेवाले को अपने पापकर्मों की सफ़ाई करने में मदद करनेवाला उपकारी मानकर, उनके लिये मन में धन्यवाद चिन्तवन करना। इससे उनके प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इससे हम नये कर्मबन्ध से भी बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम नये पापकर्मों से और दु:खी होने से भी बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं और जिनसे हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (यह हुआ समभाव – संवर – सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर अपना आर्थिक या अन्य कोई भी नुक़सान ख़ुद के कारण होता है, तब यह सोचना है:- १. मेरे इस जन्म में कमाया हुआ धन या अन्य कोई भी वस्तु मेरे पिछले कर्मों का हिसाब चुकाने में काम आया। जैसे कि हम अगर किसी से ऋण (loan) लेते हैं और जब वह वापिस जमा करा देते हैं, तब हमें आनन्द होता है, सन्तोष होता है कि हम ऋणमुक्त हो गये। इसी तरह यह भी हमारा अगले कई जन्मों में लिया गया ऋण ही है लेकिन वह बात हम भूल गये होने से हमें दु:ख होता है।

२. भगवान ने आश्वासन दिया है कि हमें कभी दूसरे के कर्मों की सज़ा मिलनेवाली नहीं है। इसलिये यह बात तय है कि वह हमारा ही लिया हुआ ऋण था, जिसका हमने अभी नुक़सान

के रूप में भुगतान किया है।

३. इस कारण से यह सोचना चाहिए कि मैं ऋणमुक्त हो गया। उसका आनन्द और सन्तोष लेना चाहिये। इससे हम नये कर्मबन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभाव पूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी। हम नये पापकर्मों से और दु:खी होने से बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिससे हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

इस तरह ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का उपयोग हम अनेक परिस्थितियों में करके अपना फ़ायदा ले सकते हैं और अपने को कर्मों के दुष्चक्र से मुक्त करा सकते हैं।

कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए रहकर, हम अनादि से अपना भविष्य तय करते आ रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। अनादि से हम अपना भविष्य दो प्रकार से तय करते आ रहे हैं, एक वर्तमान में अपने को मिले हुये संयोग में रति-अरति (पसन्द-नापसन्द) करके अर्थात् वर्तमान परिस्थिति के ऊपर प्रतिक्रिया के रूप में और दूसरा नयी क्रिया के रूप में अर्थात् निदान और पुण्य-पाप करके। इसलिये ही जीव जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करता, तब तक उसके कर्मों का दुष्चक्र समाप्त होनेवाला नहीं है। आगे हम निदान के बारे में कुछ समझाने का प्रयास करते हैं।

हम जाने-अनजाने में कई तरह से हर दिन निदान करते रहते हैं। इसे अंग्रेज़ी में law of attraction (आकर्षण का नियम) या secret (रहस्य) के नाम से कई लोग अनुसरते हैं और जाने-अनजाने में वे निदान शल्य बाँधते हैं। जैसे कि हम जब टीवी, सिनेमा, नाटक इत्यादि देखते हुए कुछ बातें तय कर लेते हैं। उदाहरण - हमको टीवी, सिनेमा, नाटक इत्यादि का कोई पात्र पसन्द आ गया, कोई बंगला या फ़्लेट या फ़र्नीचर पसन्द आ गया, कोई प्रसंग पसन्द आ गया, कोई वक्ता/वक्तव्य पसन्द आ गया, कोई ज़ेवर या कपड़े पसन्द आ गये या अन्य कुछ भी पसन्द आ गया और हमने सोच लिया कि ऐसा मुझे भी मिले या मेरा भी ऐसा हो तब उसे निदान कहा जाता है, उसमें अगर जिसके पुण्य हो तो वैसा बंगला आदि मिलता है और अगर पुण्य कम हो तो हम उस बंगले आदि को नौकर बनकर पाते हैं, अगर उतना भी पुण्य नहीं है तो हम पालतू प्राणी बनकर या मकड़ी-चींटी इत्यादि बनकर भी उसे अवश्य पाते हैं। ऐसा प्रभाव है निदान का, इसलिये उसे निदानशल्य भी कहा जाता है क्योंकि उस निदान की वजह से हमको जो अपने कर्मों के अनुसार मिलनेवाला ही है, उससे कम मिलता है और उसके भोग के समय बहुत पाप बन्ध होता

है क्योंकि हमने उसे माँग के लिया होने से उसमें आसक्ति अधिक ही होती है। वास्तव में माँगने की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि माँगने से जो भी मीला है उससे भी अच्छा नहीं माँगने से हमें अपने कर्म अनुसार मिलनेवाला ही है।

जैसे, हम कहीं घूमने के लिये गये हों या कोई प्राकृतिक जगह पर गये हों और हमको वह जगह या प्राकृतिक दृश्य पसन्द आ गया, तब हमारा वहाँ जन्म लेना तय हो जाता है। क्योंकि जो हमें पसन्द है, प्राय: वहीं हमारा जन्म होता है। उस प्राकृतिक जगह पर हम वनस्पति-पानी-पृथ्वी आदि में असंख्यात काल तक का आरक्षण (booking) करा लेते हैं।

जैसे, हमें विजातीय व्यक्ति का कोई अंग पसन्द आ गया, तब हमने उस अंग में अपना आरक्षण (booking) करा लिया। उस अंग में हम सूक्ष्म जीवाणु बनकर लम्बे काल तक वहीं पर जन्म-मरण करते हुए रह सकते हैं।

जैसे, कोई धर्मी जीव को महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेने का भाव हुआ क्योंकि वहाँ भगवान सदैव विराजमान होते हैं और वह जीव सोचता है कि महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मैं धर्म प्राप्त करूँगा। तब वह भी एक प्रकार का निदान ही है। परन्तु जिसे धर्म करना हो, उसे आज ही और इधर ही करना चाहिये क्योंकि यहाँ भी अभी भगवान महावीरस्वामी का शासन प्रवर्तमान है और यहाँ भी हम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके एकावतारी बन सकते हैं। जिसने धर्म को कल के ऊपर छोड़ा उसका कल कभी नहीं आता, तब इस अमूल्य जन्म को छोड़कर अगले भव का इन्तज़ार करना कौन सी समझदारी है?

वैसे ही बहुत लोग धर्म करके, देवों के दिव्य सुख प्राप्ति की कामना करते हैं और उसी उद्देश्यपूर्ति के लिये वे धर्म करते हैं। ऐसे लोग सम्यग्दर्शन के अभाव के कारण, देवगति प्राप्त करके भी आगे प्राय: एकेन्द्रिय में चले जाते हैं, जिसमें उनका अनन्त काल बीत सकता है और भगवान ने एकेन्द्रिय से बाहर निकलना चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया है, यह नहीं भूलना चाहिये।

भगवान ने बताया है कि हर प्रकार का संयोग आपको अपने कर्मों के अनुसार ही मिलता है तब फिर माँगकर अर्थात् निदान करके, अपना नुक़सान क्यों करना? यह बात हर मुमुक्षु को सोचना और समझना अति आवश्यक है, जिससे वह निदान शल्य से बच पाये।

इस प्रकार हम अनादि से कई प्रकार के निदान करके ख़ुद को ठगते आये हैं और अब यह कब तक करते रहना है? यह तय करके शीघ्र ही उपरोक्त रीति से सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की

योग्यता बनानी चाहिये। सम्यग्दर्शन प्राप्ति हेतु सत्यधर्म मिलना अति आवश्यक है, अब आगे हम सत्यधर्म का स्वरूप समझाते हैं।

जीव सोचता है कि कौन से सम्प्रदाय में जुड़ने से हमको सम्यग्दर्शन मिल सकता है? अथवा कौन सा सम्प्रदाय सच्चा है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर वह खोजता रहता है। परन्तु जब उसे सभी सम्प्रदायवाले कहते हैं कि – एकमात्र हमारा सम्प्रदाय ही सच्चा है और एकमात्र हमारे सम्प्रदाय में ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है, अन्य सब पाखण्ड हैं अर्थात् अन्य सभी सम्प्रदाय झूठे हैं; तब वह असमंजस में पड़ जाता है और सोचता है कि इसमें से कौन सत्य कह रहा है? प्राय: सभी सम्प्रदायों में अपनी-अपनी रूढ़ि अनुसार धर्म-क्रियाएँ और अपना-अपना क्रम चलता रहता है; उसमें बदलाव की या फिर कुछ नया करने की गुंजाइश बहुत ही कम रहती है। लोग प्राय: अपने पैतृक सम्प्रदाय को ही सच्चा और अच्छा मानते हैं, उसका ही अनुसरण करते हैं। अथवा अपने आस-पास या सगे-सम्बन्धी में आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों के प्रभुत्व में आकर उनके कहे हुए मत-पन्थ-सम्प्रदाय-पक्ष या व्यक्ति आधारित पन्थ (personality cult) को ही मान्य करके उनका अँधा अनुकरण करते रहते हैं; उसका ही कट्टरता से प्रचार-प्रसार भी करते रहते हैं। ऐसा करके वे जीव अपने लिये अनन्त काल के अँधकारमय भविष्य का निर्माण करते हैं।

धर्म सदैव परीक्षा करके ही अंगीकार करना चाहिये। जैसे, कोई रोगी बहुत काल तक दवाई खाकर भी अच्छा नहीं होता, तब वह अवश्य सोचता है कि या तो दवाई बदलनी पड़ेगी या डॉक्टर बदलने पड़ेंगे; लेकिन जब किसी सम्प्रदाय में कई सालों से धर्मक्रियायें, प्रवचन, व्याख्यान, स्वाध्याय, नित्य-क्रम आदि करते रहने के बावजूद भी जब परिणाम नहीं सुधरते या अपने भाव, धर्म के अनुकूल नहीं होते तब भी लोग कुछ नहीं सोचते। बल्की लोग वही सब यन्त्रवत् करते रहते हैं और उनका फ़ायदा हुआ हो या नहीं, लेकिन वे उसी का प्रचार-प्रसार भी करते फिरते हैं। परन्तु अपने भाव या परिणाम को नज़रअन्दाज़ ही करते हैं, इसलिये सत्य/शुद्धधर्म के बारे में जानना आवश्यक है।

सत्य/शुद्धधर्म कोई सम्प्रदाय या व्यक्ति आधारित पन्थ (personality cult) के साथ बन्धा हुआ नहीं है और न ही वह किसी सम्प्रदाय या व्यक्ति आधारित पन्थ (personality cult) की जागीर है परन्तु सत्य/शुद्धधर्म ज्ञानी के पास अवश्य है। वह आत्मआश्रित है अर्थात् वह शुद्धात्मा के अनुभवरूपी सम्यग्दर्शन से जुड़ा हुआ है। किसी सम्प्रदाय या व्यक्ति आधारित पन्थ से नहीं।

परम सत् तत्त्व ही सत्यधर्म है, अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है; अर्थात् धर्म किसी क्रिया-काण्ड, जप-तप, पूजा पद्धति अथवा किसी मन्दिर, गिरजाघर या धर्मस्थान का आश्रित नहीं है। फिर भी अनेक साम्प्रदायिक लोग भरपूर धन ख़र्च करके धार्मिक उत्सव मनाते हैं और उसे धर्म की प्रभावना बताते हैं परन्तु वास्तव में वह केवल सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार ही होता है। तद् व्यतिरिक्त वे धन का ऐसा लापरवाह प्रदर्शन करके धर्म के अनेक टीकाकारों को जन्म देते हैं, जिससे अनेक भोले लोग धर्म से दूर होते हैं; और अन्य सम्प्रदाय के लोग भी, धन का ऐसा लापरवाह प्रदर्शन देखकर विरोधी बनते हैं। ऐसे अत्यधिक धन खर्च करनेवाले स्वयंको महान मानने लगते हैं और मन्दिर, स्थानक या धर्मस्थान में अपनी मनमानी चलाने लगते हैं; इस तरह से वे अपने अहम् को ही पाल-पोसकर बड़ा करते रहते हैं, जिससे उनकी समाज में अपकीर्ति होती है। यही अहम् अध्यात्म साधना मार्ग का बड़ा घातक शत्रु है।

दूसरा, मत-पन्थ-सम्प्रदाय-व्यक्ति विशेष का आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह, पूर्वाग्रह अथवा पक्ष आत्मप्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा है। दु:ख यह है कि प्रत्येक सम्प्रदाय केवल ख़ुद को ही सम्पूर्ण और परमसत्य मानता है और अन्यों को झूठा और अधूरा मानता है; ऐसी भावना या कथन से द्वेष का जन्म होता है। ऐसी भावना या कथन से सत्यधर्म की ही पराजय होती है। सत्यधर्म की प्राप्ति प्राय: ज्ञानी के पास से ही सम्भव है। सत्यधर्म प्राप्त ज्ञानी को किसी सम्प्रदाय का आग्रह नहीं होता, परन्तु परमसत्य का ही आग्रह होता है; इसलिये ज्ञानी के पास से केवल सत्यधर्म की प्राप्ति की कामना करना, परम उपादेय है। न कि सम्प्रदाय की। क्योंकि ज्ञानी की अशातना का फल अनन्त संसार है। अर्थात् ज्ञानी को किसी भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से न देखना और न ही साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करना क्योंकि ज्ञानी सामनेवाले व्यक्ति की योग्यता के अनुरूप ही धर्मप्राप्ति का उपदेश देते हैं, जैसे कि कोई भी वैद्य या डाक्टर दर्द के अनुरूप ही दवाई देते हैं, सभी मरीज़ों को एक ही दवाई नहीं दी जाती। अर्थात् सभी के लिये एक ही धर्म क्रिया, प्रवचन, व्याख्यान, स्वाध्याय, नित्य-क्रम आदि नहीं होते परन्तु उनकी योग्यता और स्तर के अनुसार जो उचित हो, वही बताया जाता है।

प्रश्न :- ''सत्यधर्म की प्राप्ति प्राय: ज्ञानी के पास से ही सम्भव है'' ऐसा क्यों कह रहे हो? क्या भगवान की परम्परा से प्राप्त आगमों और शास्त्रों से सत्यधर्म का निर्णय नहीं हो सकता?

उत्तर :- भगवान की परम्परा से प्राप्त आगमों और शास्त्रों से भी सत्यधर्म का निर्णय हो सकता है परन्तु इस काल में प्रधानरूप से तीन समस्यायें हैं।

१. लोग आगमों और शास्त्रों का यथार्थ अर्थघटन नहीं कर पा रहे हैं अर्थात् जो भी अर्थघटन किया है, वह प्राय: एकान्तरूप ही किया है यानी प्राय: एकान्त धर्म का ही प्रवर्तन चल रहा है।

२. लोग कई आगमों और शास्त्रों को ही नहीं मानते और जिन्हें मानते भी हैं, उन्हें समग्ररूप से नहीं मानते। वे उन आगमों और शास्त्रों की भी वही बातें मानते हैं और प्रचार करते हैं, जो बातें उनके मत के उपयुक्त हैं और अन्य को गौण कर देते हैं।

३. प्राय: लोग साम्प्रदायिक क्रियाओं को ही धर्म मान लेते हैं, जबकि ऐसी क्रियायें गणवेश मात्र ही हैं। जैसे, छात्र स्कूल में गणवेश पहनकर जाने से ही उत्तीर्ण नहीं हो जाता, उसको गणवेश के साथ-साथ पढ़ाई भी करनी पड़ती है, तब जाकर वह उत्तीर्ण होता है। वैसे ही मुमुक्षु को साम्प्रदायिक क्रियाओं के साथ-साथ अपने भाव भी सँवारना पड़ता है अर्थात् भावशुद्धि भी आवश्यक है, तभी उसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति सम्भव हो सकती है, यह समझना आवश्यक है। धर्म आन्तरिक प्रक्रिया ज़्यादा है, इसी लिये अनन्तकाल से कई लोगों की बाहर की सभी क्रियाएँ शुद्ध होने के बावजूद भी सत्यधर्म की प्राप्ति नहीं हो पायी है। हम उसी का विशेष स्पष्टीकरण भी दे रहे हैं।

लोग आगमों और शास्त्रों का यथार्थ अर्थघटन नहीं कर पा रहे हैं अर्थात् जो भी अर्थघटन किया जा रहा है, वह प्राय: एकान्तरूप ही किया गया है यानी प्राय: एकान्त धर्म का ही प्रवर्तन चल रहा है। उसके कुछ ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :-

उदाहरण 1 :- कई लोग ऐसा कहते हैं कि - ''दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय यानी पर्यायरहित द्रव्य'' और हार्द समझे बिना उसका अक्षरश: अर्थ करते हुए पर्याय को द्रव्य से भिन्न करने का प्रयास भी करते हैं। एक बार द्रव्य को कैंची से काटना ही पड़ेगा और फिर उसे जोड़ देंगे ऐसी बातें कपड़े सिलने का उदाहरण देकर भी करते रहते हैं और द्रव्य और पर्याय के ध्रुव भी अलग-अलग मानते हैं अर्थात् दो ध्रुव मानते हैं। लेकिन द्रव्य अभेद होने के कारण उसमें से कुछ निकाल नहीं सकते या काट भी नहीं सकते और इसी कारण से ऐसे लोग प्राय: भ्रम में ही रहते हैं। ऐसे लोग प्राय: एकान्तवादी होते हैं और अपने धर्म-कर्तव्य और योग्यताप्राप्ति को भी क्रमबद्धपर्याय के नाम से नियति के ऊपर छोड़कर अपना पूरा पुरुषार्थ अर्थ और काम के पीछे ही लगाते हैं। उन्हें पता नहीं कि क्रमबद्धपर्याय में पाँचों समवाय शामिल होते हैं, केवल नियति को क्रमबद्धपर्याय मानना ग़लत है; यह अर्थघटन भी एकान्तवाद का ही नमूना है। वैसे लोग अर्थ और प्रलोभनों

को ही अपना शस्त्र बनाकर, अपने माने हुए धर्म की प्रभावना करना चाहते हैं। मगर ऐसे लोगों को यह भी पता नहीं होता कि धर्म की प्रभावना करने हेतु पहले स्वयं धर्मप्राप्ति करना आवश्यक होता है। अन्यथा धर्म की प्रभावना सम्भव ही नहीं है। अर्थ से या अन्य प्रलोभनों से हम जिसकी प्रभावना करते हैं, वह केवल अर्थ की ही प्रभावना होती है, जिस से अर्थ के कामी लोग, अर्थ या प्रलोभनों के लिये आपके सम्प्रदाय में शामिल ज़रूर हो जाते हैं मगर उस सम्प्रदाय में प्राण नहीं होता, मात्र संख्या होती है। उससे किसी का भी कल्याण होना सम्भव नहीं होता।

उपरोक्त ''दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय यानी पर्यायरहित द्रव्य'' यह बात सही है, परन्तु एक विशेष अपेक्षा से। पर्याय रहित द्रव्य यानी पर्याय को गौण करके अर्थात् विभाव को गौण करके जो शुद्धात्मा प्राप्त होता है, वह दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय है। यह बात नहीं समझने के कारण, हार्द समझे बिना मात्र शब्दार्थ पकड़कर ऐसी प्ररूपणा की जाती है जो अनेक जीवों के लिये घातक है। अनेक जीवों को अनन्तकाल तक संसार में रुलाने के लिये सक्षम है।

उदाहरण 2 :- कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि ''आत्मा में राग है ही नहीं, ऐसा समयसार इत्यादि ग्रन्थों में अनेक बार बताया है'' और हार्द समझे बिना उसका अक्षरश: अर्थ करते हुए ऐसे लोग आत्मा राग करता है, इस बात को ही नहीं मानते और स्वच्छन्दरूप परिणमते हैं। इसी कारण से ऐसे लोग प्राय: भ्रम में ही रहते हैं। ऐसे लोग प्राय: एकान्तवादी होते हैं और अपने धर्म-कर्तव्य और योग्यताप्राप्ति को भी क्रमबद्धपर्याय के नाम से नियति के ऊपर छोड़कर अपना पूरा पुरुषार्थ अर्थ और काम के पीछे ही लगाते रहते हैं। आत्मा में राग है ही नहीं ऐसा समयसार इत्यादि ग्रन्थों में अनेक बार बताया है। यह बात सच होने के बावजूद भी उस कथन की अपेक्षा न समझने के कारण उसका अक्षरश: अर्थ करते हुए ऐसे लोग एकान्तवाद के शिकार हो जाते हैं। समयसार जैसे ग्रन्थों में शुद्धात्मा की ही बात की गयी है जो दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय है अर्थात् समयसार जैसे ग्रन्थों में आत्मा में से विभाव को गौण करने के बाद जो परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा शेष रहता है, उसी की बात की गयी होने से आत्मा में राग नहीं है ऐसा बताया है। अर्थात् आत्मा रागरूप परिणमता होने के बावजूद भी दृष्टि (सम्यग्दर्शन) के विषय में राग गौण होने के कारण समयसार जैसे ग्रन्थों में, सम्यग्दर्शन कराने के लिये शुद्धात्मा की ही बात की गयी है जो कि दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय है, यह समझना अति आवश्यक है।

इसी लिए समयसार श्लोक ६९ में कहा है कि :- ''जो नय पक्षपात को छोड़कर (अर्थात्

हमने पूर्व में अनेक बार बताये अनुसार जिसे किसी भी एक नय का आग्रह हो अथवा तो कोई मत-पन्थ-व्यक्तिविशेष के पक्ष का आग्रह हो और जो वैसे पूर्वाग्रह-हठाग्रह छोड़ सकते हैं वे) स्वरूप में गुप्त होकर (अर्थात् स्व में अर्थात् शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करके सम्यग्दर्शनरूप परिणमकर) सदा रहते हैं, वे ही (अर्थात् नय और पक्ष को छोड़ते हैं, वैसे मुमुक्षु जीव ही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं और वे ही), जिनका चित्त विकल्प मल से रहित शान्त हुआ है ऐसे होते हुए (अर्थात् निर्विकल्प 'शुद्धात्मा' का अनुभव करते हुए) साक्षात् अमृत को (अर्थात् अनुभूतिरूपी अतीन्द्रिय आनन्द को) पीते हैं (अनुभव करते हैं)।'' वास्तव में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये सभी जनों को नय और पक्ष का आग्रह छोड़ने योग्य है।

ऐसी समस्याओं के बीच अगर कोई मुमुक्षु जीव ऐसे ग़लत अर्थघटन करनेवालों में फँस गया तो उसका सम्पूर्ण जीवन नष्ट हो जाता है और इससे उसका अनन्तकाल अन्धकारमय हो सकता है। ऐसी विडम्बना है इस हुण्डावसर्पिणी पंचमकाल की, इसलिये हमने कहा है कि - ''सत्यधर्म की प्राप्ति प्राय: ज्ञानी के पास से ही सम्भव है।'' क्योंकि ज्ञानी को मत, पन्थ, सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह, दुराग्रह नहीं होता और इसी कारण से ज्ञानी आगमों तथा शास्त्रों का यथार्थ अर्थघटन भी कर सकता है। ज्ञानी ही सत्यधर्म का वैद्य या डॉक्टर है कि जो आपके आध्यात्मिक स्तर के अनुसार आपके लिये उपयुक्त साधना बता सकता है। अपने आप की हुई साधना स्वच्छन्द कहलाती है। इसलिये हमने कहा है कि ''सत्यधर्म की प्राप्ति प्राय: ज्ञानी के पास से ही सम्भव है।''

वैराग्य :- सम्यग्दर्शन प्राप्ति हेतु सत्यधर्म के साथ वैराग्य भी आवश्यक है, अब आगे हम उसका स्वरूप समझाते हैं।

वैराग्य यानी संसार की ओर से दृष्टि का हट जाना, संसार असार लगना। वैराग्य दो प्रकार का होता है, एक दु:खगर्भित और दूसरा ज्ञानगर्भित। मोहगर्भितादि वैराग्य यहां अप्रस्तुत है।

दु:ख गर्भित वैराग्य सांसारिक दु:खों से त्रस्त होकर, बीमारी के कारण, कोई आधि-व्याधि या उपाधि के कारण, किसी के साथ मोहभंग या प्रेमभंग के कारण अथवा अपनों की मृत्यु के समय आता है। यह वैराग्य नकारात्मक होता है क्योंकि इसके पीछे संसार में से माना हुआ सुख न मिलना यह कारण होता है। ऐसे दु:खगर्भित वैराग्य से प्रेरित होकर जो धर्म करते हैं, उनको ज़्यादा करके धर्म के कारण सांसारिक सुखों की प्राप्ति का ही आशय बना रहता है और इस से वे धर्म का उत्तम फल ऐसे सम्यग्दर्शन और मोक्ष से वंचित ही रहकर एकेन्द्रिय में चले जाते हैं,

जिस में वे अनन्तकाल रह सकते हैं और भगवान ने एकेन्द्रिय से निकलना चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया है। परन्तु जब दु:खगर्भित वैराग्य कालान्तर में अगर ज्ञानगर्भित वैराग्य में तब्दील हो जाता है, तब उस दु:खगर्भित वैराग्य को भी अच्छा कहा जा सकता है।

ज्ञानगर्भित वैराग्य संसार और सांसारिक सुखों के सच्चे स्वरूप को समझने के कारण आता है, उसे निर्वेद भी कहते हैं। ज्ञानगर्भित वैराग्य का एकमात्र लक्ष्य आत्मप्राप्ति का होता है, उसे संवेग भी कहते हैं। इसी लिये ज्ञानगर्भित वैराग्य ही मोक्षमार्ग के लिये कार्यकारी है, उचित और सराहनीय है। तात्पर्य यह है कि सभी मुमुक्षु जीवों को यह ज्ञानगर्भित वैराग्य की प्राप्ति हेतु ही पुरुषार्थ करना उचित है।

राग के भी दो प्रकार हैं, एक अप्रशस्त राग और दूसरा प्रशस्त राग। परन्तु ज्ञानगर्भित वैराग्यवाले जीवों के अभिप्राय में प्राय: दोनों का अभाव रहता है क्योंकि उनका एकमात्र लक्ष्य आत्मप्राप्ति ही होता है। लेकिन व्यवहार में वे बहुतांश धर्म क्रियाएँ करते रहते हैं क्योंकि वे नहीं चाहते कि उनको देखकर अन्य बाल जीव भी क्रियारहित हो जाएँ।

अप्रशस्त राग में पाँच इन्द्रिय विषयों के प्रति आकर्षण होता है। जैसे कि मनपसन्द स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रवण इन्द्रियों के विषय में ही मन लगा रहना और उनमें से जो भी विषय प्राप्त हो, उसमें डूबे रहना, यही अभिप्राय बना रहता है। हम इस संसार में कई जीवों को विजातीय के (स्पर्श के) पीछे बर्बाद होते देखते हैं। कई जीवों को खाने के (रस के) पीछे बर्बाद होते देखते हैं। जैसे कि अभक्ष्य खाकर मरते अथवा बीमार होते देखा हैं। कई जीवों को जो खाद्य पदार्थ खाने की मनाही होती है, वही वे लोलुपता से खाकर बीमार होते हैं या फिर कभी मरते भी देखे जाते हैं। कई जीवों को सुगन्ध के पीछे अपना पूरा जीवन व्यतीत करते देख सकते हैं। कई जीवों को प्रकाश के पीछे अपना पूरा जीवन व्यतीत करते अथवा दिये से आकर्षित होकर उसी में अपने को समर्पित करते देखा हैं। कई जीवों को गीत-संगीत के पीछे अपना अमूल्य जीवन अपव्यय करते देख सकते हैं। ऐसे जीव धर्म के नाम पर भी अपनी इन्द्रियों के विषयों के प्रति ही अपने आकर्षण की पूर्ति, भावना और भक्ति के नाम से गीत-संगीत में डूबे रहकर करते रहते हैं। इस तरह से वे अपने अमूल्य जीवन का अपव्यय करते देखे जाते हैं। अनादि से जीव मुख्य रूप से विजातीय के आकर्षण और विषय-कषायों में फँसने के कारण ही संसार में भटक रहा है।

प्रशस्त राग देव-गुरु-शास्त्र-धर्म के प्रति होता है। मगर उसे प्रशस्त तब कह सकते हैं, जब वह एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य में परिवर्तित हो, अन्यथा वह भी आगे चलकर अप्रशस्तरूप

में ही तब्दीली पाता है।

अप्रशस्त और प्रशस्त इन दोनों प्रकार के रागों के प्रति उदासीनता को वैराग्य कहा जाता है। उसमें ज्ञानगर्भित वैराग्य सम्यग्दर्शन और मोक्ष के लिये उत्तम और कार्यकारी है। अर्थात् जब तक बाह्य इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग है, तब तक वह जीव नियम से बहिरात्मा है, तब तक वह जीव की दृष्टि अन्तर में आत्मप्राप्ति के लिये प्रयासरत ही नहीं होगी। इसी लिये ज्ञानगर्भित वैराग्य को ज्ञान का जनक कहा गया है।

वैराग्य का मानक/मापदण्ड है यह प्रश्न - **हमें क्या पसन्द है?**

इस प्रश्न के उत्तर में जब तक सांसारिक वस्तु या सम्बन्ध या इच्छा या आकांक्षा है, तब तक आपका मुख संसार की ओर समझना और उसकी निवृत्ति हेतु उस इच्छा आदि के मूल/जड़ तक जाकर उसे बारह भावना से निरस्त करना आवश्यक है। अर्थात् उस सांसारिक वस्तु या सम्बन्ध या इच्छा या आकांक्षा के पीछे का कारण खोजकर उस कारण की जड़ तक जाना आवश्यक है, पश्चात् उस कारण और जड़ का विश्लेषण निम्नलिखित बारह भावना/अनुप्रेक्षा के अनुसार करके उस के कारण और जड़ को नष्ट करना आवश्यक है; जिससे उस सांसारिक वस्तु या सम्बन्ध या इच्छा या आकांक्षा को नष्ट कर पाना सम्भव हो सकता है क्योंकि उसे दबाना नहीं है। उसे जड़ से ही निरस्त करना है। इस तरह से प्रत्येक सांसारिक वस्तु या सम्बन्ध या इच्छा या आकांक्षा के लिये करना आवश्यक है। उसे ही खरे अर्थ में साधना कहा जाता है, न कि साम्प्रदायिक क्रियाओं को। उसी साधना से उस ज्ञानगर्भित वैराग्य की प्राप्ति सम्भव हो सकती है जिससे सम्यग्दर्शन योग्य भूमिका प्राप्त होती है अर्थात् आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने **मोक्षपाहुड** में बताया है कि - गाथा ६६ : अन्वयार्थ :- 'जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में अपने मन को लगाये रखता है (अर्थात् मन में इन्द्रियों के विषयों के प्रति आदरभाव वर्तता है), तब तक आत्मा को नहीं जानता (क्योंकि उसका लक्ष्य विषय है, आत्मा नहीं; इसलिये ही हमने ऊपर बताया है कि 'मुझे क्या पसन्द है?' यह मुमुक्षु जीव को देखते रहना चाहिये और उससे अपनी वैराग्यादि योग्यता की खोज करते रहना चाहिये और यदि योग्यता न हो तो उसका पुरुषार्थ करना आवश्यक है) इसलिये विषयों से विरक्त चित्तवाले योगी-ध्यानी-मुनि ही आत्मा को जानते हैं।' इस गाथा में आत्मप्राप्ति के लिये योग्यता बतायी है।

ज्ञानगर्भित वैराग्य की प्राप्ति हेतु इस जगत की व्यवस्था को यथातथ्य समझकर संसार के

हरएक जीव को पीछे कहे मैत्री आदि चार भाव में ही वर्गीकृत करना अन्यथा नहीं और संसार के हरएक प्रसंग में बारह भावना का यथायोग्य चिन्तन करना चाहिये। और संसार के हरएक प्रसंग का उसी परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करना आवश्यक है। अब आगे हम बारह भावना का स्वरूप संक्षेप में समझाते हैं।

बारह भावनाएँ/अनुप्रेक्षाएँ

अनित्य भावना :– सभी संयोग अनित्य हैं। पसन्द या नापसन्द ऐसे वे कोई भी संयोग मेरे साथ नित्य रहनेवाले नहीं हैं। इसलिये उनका मोह या दुःख त्यागना, उनमें 'मैंपन' और मेरापन त्यागना चाहिये। ऐसा हमने पढ़ा–सुना होने के बावजूद भी उस बात का विश्वास नहीं होने से ही हम सब अनादि से उन अनित्यों के पीछे भाग रहे हैं। इसी कारण से हम सब अनादि से आज तक संसार में भटक रहे हैं। जैसे धन, सम्पत्ति, पत्नी, पुत्र, परिवार इत्यादि के लिये हमने अपने अनन्त जीवन पूर्ण रूप से न्यौछावर कर दिये हैं। अब इस जीवन में मुझे इन सबका मोह ज्ञानगर्भित वैराग्य की प्राप्ति करके छोड़ना है और मात्र अपने कर्तव्यों का यन्त्रवत निर्वहन करते हुए अपने शेष सभी संसाधन (समय, धन–सम्पत्ति, बुद्धिमत्ता, चातुर्य आदि) एकमात्र आत्मप्राप्ति में ही लगाने योग्य है क्योंकि एकमात्र आत्मा ही नित्य है, अनन्त–अव्याबाध सुख की खान है। इस भावना को जीवन में हर पल जीवन्त रखना है, तभी हमारे संसार का अन्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

हम अपने जीवनकाल में कई जीवों को मृत्यु से नष्ट होते देखते हैं, कई शरीरों को रोग–ग्रस्त होते देखते हैं, कई परिवारों को बिछड़ते देखते हैं, कई धनवानों को रंक होते भी देखते हैं; फिर भी हम ऐसे जीते हैं कि जैसे हम कभी भी मरनेवाले ही नहीं हैं और हम अपने को रूप से, धन–वैभव से, परिवार से बड़ा मानकर मानकषाय पोसते रहते हैं। हमें पता ही नहीं कि हमारी आयु कब पूरी हो जायेगी, कब बीमारी आ जायेगी यह भी पता नहीं, कब अपना रूप समाप्त हो जायेगा यह भी पता नहीं, कब कोई हड्डी टूट जायेगी यह भी पता नहीं, कब दुर्घटना हो जाये पता नहीं, परिवार में प्रेम कब दुश्मनी में तब्दील हो जाये यह भी पता नहीं, कब ख़ुशी मातम में बदल जाये यह भी पता नहीं; फिर भी अनेक जीव इन चीज़ों पर गुमान करके अपना परम अहित करते हैं।

ज़्यादातर जीव अपने यौवनकाल को विषयों और कषायों के पीछे बर्बाद करते देखे जाते हैं, प्रौढ़ावस्था सांसारिक कार्यों में अपनी कुशलता प्रमाणित करने में ख़र्च करते देखे जाते हैं, कई जीव अपनी प्रौढ़ावस्था समाज में नाम करने के पीछे गँवाते देखे जाते हैं; इस तरह से कई

जीव अनन्तकाल के बाद मिला हुआ धर्म प्राप्त करने का अवसर गँवाते देखे जाते हैं और इन सबके पीछे भागते हुए बुढ़ापा कब अपनी दहलीज़ पर आ धमकेगा यह भी उनको पता नहीं चलेगा। बुढ़ापे में भी ऐसे जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यान करते देखे जाते हैं क्योंकि बुढ़ापे में भी मात्र शरीर ही बूढ़ा हुआ है; मन तो सदा ही जवान रहता है अर्थात् मन बुढ़ापे में भी विषय-कषायों के पीछे भागता रहता है, बुढ़ापे में सभी ख़्वाहिशें ज़िन्दा रहती हैं - मन में से कामभाव हटता नहीं। इस तरह से हम अनादि से इस संसार में भटक रहे हैं, अब कब तक यह सब जारी रखना है? संसार में कहीं भी शाश्वत् सुख नहीं है। हम अनन्तों बार देवलोक के सुख भोगकर आये हैं परन्तु वे भी एक दिन पूरे हो जाते हैं और कई जीव उन सुखों में से अनन्तों बार सीधे एकेन्द्रिय में भी चले जाते हैं; जहाँ दु:ख ही दु:ख है। कई बार राजा भी पल भर में एकेन्द्रिय में चला जाता है और वैसे भी हर एक सांसारिक सुख का अन्त निश्चित ही है, फिर ऐसे सुख के पीछे पागल बनना-ममत्व करना कौनसी समझदारी है? यह सब न समझ पाने के कारण ही अनादि से ऐसे जीव संसार में भटक रहे हैं।

अनादिकाल से हमारी दौड़ अनित्यों को नित्य समझकर अनित्यों के पीछे ही रही है। हमारे लिये पर का संयोग सदा ही अनित्य है क्योंकि पर का संयोग स्थायी नहीं रहता। फिर भी अनादिकाल से हमने पर के लिए ही झगड़े और लड़ाइयाँ की हैं, पर के पीछे की इस अंधी दौड़ में अनंत मूल्यवान ऐसे अनंत मनुष्य जीवनों को खर्च कर डाले हैं। हमें यह समझ नहीं होने से कि पर का संयोग और वियोग कर्मों के साथ संबंध रखता है, न कि हमारी उसके पीछे की दौड़ के साथ - इसलिये अनित्यों के पीछे दौड़नेवाले कितने ही लोगों को निराशा और हताशा के सिवाय कुछ भी हाथ नहीं लगता। उसके साथ लाभ में आर्तध्यान भी होता है जो भविष्य के नये दुखों का कारण बनता है। हम अनादिकाल से ऐसे विषचक्र में फँसे हुए हैं, अब कब छूटना है - इसका विचार करना आवश्यक है।

वास्तव में तो हमें दृष्टि बदलने की आवश्यकता है, क्योंकि हमें अनित्य वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि कुछ भी अनित्य प्रतीत ही नहीं होता। यदि उसमें कुछ अनित्य लगता भी हो तो भी हम उसे अपने साथ नित्य बनाए रखने की ही व्यवस्था करते रहते हैं। अनादिकाल से यह हमारी दृष्टि का दोष है, अर्थात हमारा ही दोष है, किसी अन्य का इसमें तनिक भी दोष नहीं है। अनादिकाल से भगवान ने हमें अनगिनत बार यह बात समझाई है, फिर भी आज तक समझ नहीं आई, इसलिये ही अब तक हम इस संसार में भटक रहे हैं। अनादिकाल से हमें अनित्यों का ही

आकर्षण रहा है और भगवान ने कहा है कि 'रुचि अनुयायी वीर्य', अर्थात हमारी सारी शक्ति हमारी रुचि के अनुसार के कार्य में ही लगी रहती है। इसलिये मोक्षमार्ग में प्रवेश के लिये सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आवश्यक है - जिसके लिये सर्वप्रथम हमें अपनी रुचि बदलनी आवश्यक है, जो केवल सम्यक् समझ के बिना नहीं बदल सकती। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु को अपनी रुचि की जाँच करना आवश्यक है और उसे शास्त्र में वर्णित सम्यक् समझ को ग्रहण करके सही दिशा देनी चाहिये। समझ से सर्वप्रथम जीव की विचारधारा बदलती है और वह बदली हुई विचारधारा ही जीव की दिशा भी बदल देती है - इस प्रकार जीव सम्यग्दर्शन की साधना कर सकता है।

हमारा शरीर, आयुष्य आदि अनित्य होने पर भी अनादिकाल से मोह-निद्रा के अधीन कितनों को तो वह अनित्य लगता ही नहीं। फिर भी अनेक लोग पुस्तक-ज्ञान से कहते रहते हैं कि हमें अनित्यों का मोह नहीं है। परंतु जब वे अपने परिणामों और विचारों की शांतभाव से, निष्पक्षता से और अपने प्रति ईमानदारीपूर्वक जाँच करते हैं, तो अवश्य ज्ञात होता है कि उन्हें अनित्यों का मोह है या नहीं। यदि वे अपने तीव्र राग या मूर्च्छा को भी शांतभाव से, निष्पक्षता से और ईमानदारीपूर्वक जाँचें तो भी यह ज्ञात होगा कि उन्हें अनित्यों का मोह है या नहीं। इससे समझ में आता है कि यदि अनादिकाल से किसी ने हमें सबसे अधिक ठगा है, तो वह हम स्वयं ही हैं। इसलिये अब आगे से अपनी आत्म-छलना को बंद करके, अपने ऊपर दया लाकर शीघ्र अपने आत्मकल्याण के लिये प्रयास करना चाहिये - यह बात समझनी चाहिये।

इससे यह तय होता है कि यह पूरा जीवन एकमात्र आत्मप्राप्ति के पीछे ख़र्च करने योग्य है। त्वरा से सम्यग्दर्शन प्राप्त करके थोड़े काल में ही अमर बन जाना है-सिद्धत्व पा लेना है। वैसे भी ऊपर कहे गये सुख (सुखाभास) भी तो पुण्य से ही प्राप्त होते हैं, मात्र पुरुषार्थ से नहीं। इसलिये अगर आपके पुण्य पुख़्ता होंगे तो अल्पपुरुषार्थ से ही वे स्वयं प्राप्त होनेवाले हैं, फिर उनके पीछे भागने की क्या आवश्यकता है? आत्मप्राप्ति के लिये किये गये पुरुषार्थ से, न माँगने पर भी जब तक मोक्ष नहीं मिलता तब तक सांसारिक सुख मुफ्त में मिलते रहते हैं। इस कारण से ज़्यादातर समय आत्मकल्याण के लिये ही लगाने योग्य है और कम से कम समय अर्थार्जन आदि में लगाना योग्य है। इस तरह से हरएक संसारी जीव को अनित्य को छोड़कर नित्य ऐसा शुद्धात्मा को और परम्परा से मोक्ष को पाना चाहिये, यही इस भावना का फल है।

अशरण भावना :- मेरे पापों के उदय समय मुझे माता-पिता, पत्नी-पुत्र, पैसा इत्यादि कोई भी शरण हो सके ऐसा नहीं है। वे मेरा दुःख ले सकें ऐसा नहीं है। इसलिये उनका मोह त्यागना,

उनमें मेरापन त्यागना परन्तु कर्तव्य पूरी तरह निभाना। जब किसी भी जीव का मृत्यु का समय होता है अर्थात् उसकी आयु पूर्ण होती है, तब उस जीव को इन्द्र, नरेन्द्र आदि कोई भी बचाने को समर्थ नहीं होते अर्थात् तब उस जीव के लिये, मृत्यु से बचने के लिये जगत में कोई शरण नहीं रहता। इस जगत में मृत्यु के सामने जीव अशरण है, निकाचित कर्म के सन्मुख भी जीव अशरण है। ख़ुद को पराक्रमी, शक्तिमान, धनवान, ऐश्वर्यवान, गुणवान आदि समझनेवाले को भी अहसास हो जाता है कि मरण के समय इनमें से कुछ भी शरण नहीं होता। डॉक्टर, वैद्य, विद्या, मन्त्र, औषधि आदि भी मृत्यु सन्मुख जीव को अशरण ही हैं। अगर कोई साधना करके लौकिक सिद्धि पाकर यह समझे कि हमने तो लम्बी आयु को पा लिया है, लेकिन अपनी आयु की समाप्ति पर एक दिन उनको भी मरना ही है। लौकिक सिद्धि शरणरूप नहीं होती। जब शेर हिरण का शिकार करता है, तब उसके साथ अन्य कई हिरण होने के बावजूद भी उसे कोई बचा नहीं सकता अर्थात् तब उसे कोई शरण नहीं होता; इसी तरह संसार में जब कोई जीव मरण प्राप्त करता है, तब उसे कोई शरण नहीं मिलती। ख़ुद इन्द्र-नरेन्द्र का भी मरण के सम्मुख होने पर, कोई शरण नहीं होता अर्थात् वे भी अशरण ही हैं।

अनादिकाल से हम शरण बाहर खोजते रहे हैं। जैसे माता-पिता पुत्र-पुत्री में शरण खोजते हैं, साधु अपने शिष्य में शरण खोजता है, पत्नी पति में शरण खोजती है, पति पत्नी में शरण खोजता है, भाई या बहन अपने भाई-बहनों में शरण खोजते हैं, कुछ लोग अपने निकट सम्बन्धियों में शरण खोजते हैं, और निकट सम्बन्धी न हों तो दूर के सम्बन्धी या मित्र में शरण खोजते हैं, मित्र मित्र में शरण खोजता है, गुरु चेले में शरण खोजता है, आदि। यदि हमारे पुण्य हों तो ये सभी इस जन्म में सांसारिक सहायता तो कर सकते हैं, परंतु इनमें से कोई भी शरण हमें इस संसार से मुक्त नहीं करा सकते। इस अनादि दुःखमय संसार से मुक्त होने के लिये तो प्रत्येक को स्वयं ही पुरुषार्थ करना होगा, क्योंकि संसार से मुक्त होने का पुरुषार्थ मुख्यतः आंतरिक पुरुषार्थ ही है। संसार से मुक्त होने के लिये सबसे पहले स्वयं अपनी तीव्र इच्छाओं और मूर्च्छाओं की जांच करनी होगी, और उनका नाश भी स्वयं ही भगवान द्वारा बताए गये धर्मध्यान आदि के मनन, चिंतन और निर्णय द्वारा करना होगा। तभी वह जीव बहिरात्मापन का त्याग करके आत्मसम्मुख हो सकेगा, जो आत्मप्राप्ति अर्थात् शुद्धात्मानुभूति के लिये परम आवश्यक है। इस प्रकार संसार से मुक्त होने के लिये सबसे पहले सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) की प्राप्ति आवश्यक है। और आत्मप्राप्ति के बाद आत्मस्थिरता के पुरुषार्थ से ही गुणस्थानकों पर आरोहण करते हुए क्षपक श्रेणी द्वारा

केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करके, आयुष्य के अंत में वह जीव संसार से मुक्त होता है, मोक्ष प्राप्त करता है।

अनेक साधक ऐसी भी बातें करते हैं कि आत्मप्राप्ति वैराग्य के बिना भी अन्य प्रकार से हो सकती है। जैसे किसी प्रकार के ध्यान से या किसी और किसी तरह से वैराग्य के बिना भी आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन की प्राप्ति) हो सकती है। ऐसे साधकों को हम बताते हैं कि वैराग्य अर्थात परविमुखता और आत्मसम्मुखता। दूसरे शब्दों में कहें तो संसार के प्रति निर्वेद और आत्मा के प्रति संवेग और आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) आत्मसम्मुखता के बिना कभी, किसी भी प्रकार से नहीं होता। इसलिये जो वैराग्य के बिना सम्यग्दर्शन करना चाहता है, उसे शायद सम्यग्दर्शन का भ्रम हो सकता है या निश्चयाभास भी हो सकता है, परंतु आत्मानुभूतिवाले सम्यग्दर्शन के लिये तो वैराग्य पहली आवश्यकता है - यह समझना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि आत्मसम्मुखता के बिना जीव बहिरात्मा है, और बहिरात्मापन में कभी सम्यग्दर्शन होता ही नहीं। 'वैराग्य के बिना भी सम्यग्दर्शन हो सकता है' - ऐसा समझना भी तीव्र दर्शनमोह का ही उदय है। इसलिये ऐसे जीवों को सबसे पहले अपने दर्शनमोह का उपचार अनित्यादि बारह भावना, मैत्री आदि चार भावना, धर्मध्यान, 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' आदि के द्वारा करना चाहिये। जब मोह का नशा उतरता है तभी सत्य धर्म समझ में आता है। इसलिये भगवान द्वारा बताए हुए शास्त्रों को ही शरण मानकर, शास्त्रानुकूल स्वयं को बदलना चाहिये, न कि शास्त्र-निरपेक्ष बातों से प्रभावित होकर वैराग्य रहित साधनाओं को सच्चा मानना चाहिये। यदि ऐसा ही होता तो भगवान ने शास्त्रों में जगह-जगह वैराग्य आदि की बातें क्यों बताई होतीं? नहीं बताई होतीं।

इस जगत में चार शरण उत्कृष्ट हैं- १. अरिहन्त भगवान, २. सिद्ध भगवान, ३. साधु और ४. केवलीप्रणीत धर्म = सत्यधर्म; यह चारों शरण सब को अपनी शुद्धात्मा की शरण लेने के लिये ही प्रेरणा देते हैं। पंच परमेष्ठी भगवान, उनका दिया हुआ धर्म और शुद्धात्मा ही सभी जीवों के शरण हैं अर्थात् मरण को सुधार सकते हैं और अजन्मा भी बना सकते हैं। अन्य कोई भी शरण नहीं है। हमें बुढ़ापे में कौन शरण देगा, इसकी भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि तब आपके पाप या पुण्य के अनुसार स्वयमेव व्यवस्था हो जायेगी। यही इस भावना का फल है।

व्यवहार से उपरोक्त चार शरणभूत हैं और निश्चय से एकमात्र शुद्धात्मा ही शरण है। क्योंकि व्यवहार से ज्ञानी उपरोक्त चार शरण का आदर और उनको नमस्कार भी करता है, जिस से वह

एक मात्र प्रेरणा यही लेता है कि मुझे मेरी अपनी आत्मा ही परम शरण है अर्थात् मुझे उसमें ही ठहर जाना है और संसार से मुक्ति पानी है।

अज्ञानी को आत्मानुभूति नहीं होने से उसे सम्यक् निश्चय नहीं होता इसलिये व्यवहार से उपरोक्त चार ही शरणभूत हैं। इसलिये जब तक आत्मप्राप्ति नहीं होती तब तक एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से उपरोक्त चार शरण ग्रहण करने हैं और बाद में एकमात्र शुद्धात्मा में ठहरने का ही पुरुषार्थ करना है। यही इस भावना का फल है।

संसार भावना :– संसार अर्थात् संसरण–भटकन और उस में एक समय के सुख के सामने अनन्त काल का दु:ख मिलता है; अत: ऐसा संसार किसे रुचेगा? अर्थात् नहीं ही रुचेगा और इसलिये एकमात्र लक्ष्य ऐसे संसार से छूटने का ही रहना चाहिये।

संसार बढ़ने के कई कारण हैं, उनमें एकमात्र बड़ा कारण मिथ्यात्व है जिसके रहते हुए संसार का कभी अन्त नहीं हो सकता। मिथ्यात्व को टिकाने में मदद करनेवाले कई कारण हैं, जैसे कि – क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँच इन्द्रियों के विषय इत्यादि। जब तक मिथ्यात्व है तब तक जीव का ज़्यादातर समय निगोद में ही बीतेगा क्योंकि निगोद से निकलकर जीव उत्कृष्ट (ज़्यादा से ज़्यादा) २००० सागरोपम के लिये ही बाहर रहता है, बाद में स्वयमेव ही निगोद में वापिस चला जाता है, जहाँ वह अनादिकाल से रहता था और भविष्य में भी अनन्तकाल तक रह सकता है, जहाँ (निगोद में) दु:ख के अलावा कुछ नहीं होता। अर्थात् वह जीव असंख्यात पुद्गलपरावर्तन काल तक एकेन्द्रिय जीवराशि में रह सकता है, जहाँ दु:ख के अलावा कुछ नहीं होता।

संसार में लोभ से तृष्णाजनित दु:ख जन्म लेता है और लाभ से वह तृष्णाजनित दु:ख और लोभ बढ़ते जाते हैं। उस लाभ के लिये अनुकूल जीव के प्रति राग होता है और प्रतिकूल जीव के प्रति द्वेष होता है, साथ ही लाभ बढ़ाने के लिये माया का भी सहारा लिया जाता है। अधिक लाभ मिलने से मान पैदा होता है। इस तरह से जीव अनन्तानुबन्धी कषायों से बच नहीं पाता, जिससे संसार का चालक बल ऐसा मोह अधिक प्रगाढ़ बनाता है अर्थात् मिथ्यात्व अधिक प्रगाढ़ बनता है। इस तरह से जीव पूर्व के कर्मों के फलरूप संयोग में रति–अरति करता रहता है अर्थात् उदयभाव का प्रतिकार करके या उस भाव में रच–पचकर नया कर्म बाँधता है। इस संसार की विचित्रता ऐसी है कि मुझे जिस का मुँह भी देखना पसन्द नहीं होता, वही जीव अन्य भवों में मुझे पत्नी, पुत्र, परिवार आदि रूप से प्राप्त होता है, जिन्हें मुझे सारी ज़िन्दगी झेलना पड़ता है

और इस तरह से मेरी ज़िन्दगी नरक जैसी हो जाती है, इसी लिये हमें इसी भव में ही सभी जीवों से मैत्रीभाव कर लेना आवश्यक है।

इसी प्रकार से जीव इन्द्रियों के सुख के पीछे भी पागल बनकर अनन्त दुःख सहन करता आ रहा है क्योंकि इन्द्रिय सुख, कभी समाप्त नहीं होनेवाली इन्द्रियों की तृष्णा को जन्म देता है और इन्द्रियों के विषय की वह तृष्णारूपी पीड़ा जीव को कभी समाप्त नहीं होनेवाला तृष्णाजनित और शारीरिक दुःख देती है। अनादि से ऐसे विष-चक्र में फँसा हुआ जीव संसार में रुल रहा है; इस विष-चक्र से बच पाना मुश्किल अवश्य है, परन्तु नामुमकिन नहीं। हरएक जीव ने अपने परिवार के हर सदस्य के साथ अनादि से सब प्रकार के रिश्ते अनेकों बार किये हैं।

संसार का जन्म विकल्परूप से पहले मन में होता है और बाद में उसे मूर्तरूप प्राप्त होता है, इसलिये संसार का अन्त चाहनेवालों को सबसे पहले मन से विकल्परूप संसार का नाश करना चाहिये। इससे पीछे बताये अनुसार स्वयं को प्रश्न करना चाहिये कि हमें क्या पसन्द है ? उत्तर में अगर सांसारिक इच्छा या आकांक्षा हो तो उसका बारह भावनाओं से निरासन/नाश करना चाहिये; ऐसी रीति है संसार के नाश की।

भगवान के कहे अनुसार संसार में प्रायः प्रत्येक सम्बन्ध स्वार्थ आधारित ही होते हैं। प्रत्येक जीव अपने स्वार्थ के अनुसार ही व्यवहार करता है। भगवान ने कहा है कि जब अपनी जान बचाने की बात आती है तब प्रायः माता भी अपने बच्चों को गिरा कर स्वयं को ही बचाती है। इसलिये सांसारिक सम्बन्धों के पीछे अपना कम से कम समय व्यर्थ करना चाहिये, परंतु अपनी सभी जिम्मेदारियाँ अवश्य पूरी करनी चाहिये और शेष सारा समय अपने आत्मकल्याण में लगाना चाहिये। यदि इस जन्म में हम इस प्रकार अपने आत्मकल्याण में लग जाएँगे तो ही आत्मप्राप्ति सम्भव होगी, और तभी हम इस दुःखमय संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे। इसलिये प्रत्येक साधक को चाहिये कि वह यथासम्भव अपना अधिक से अधिक समय आत्मप्राप्ति के साधन - परविमुखता और आत्मसम्मुखता - प्राप्त करने में लगाए, जिनके बिना आत्मप्राप्ति तीनों कालों में भी सम्भव नहीं है। इसलिये किसी को ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि वैराग्य, जो परविमुखता और आत्मसम्मुखता का कारण बनता है, के बिना भी सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जा सकता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये जिन योग्यताओं की आवश्यकता होती है, उनमें प्रमुख हैं - अनंतानुबंधी कषायों की मंदता, केवल मोक्ष की इच्छा अर्थात् संसार की सभी इच्छाओं

की निवृत्ति, भव को रोगस्वरूप मानना अर्थात् भव के प्रति खेद रहना यानी 'अब मुझे कोई भी भव नहीं चाहिये' – ऐसी भावना रहना, तत्व का अविपरीत सम्यक् निर्णय, पर में सुखबुद्धि का त्याग अर्थात् पर में सुख मानकर उसके पीछे की दौड़ का त्याग – यानी पर के प्रति तीव्र प्रीति और मूर्च्छा का त्याग आदि। इसलिये जो यह मानते हैं कि ऐसी योग्यताओं के बिना भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है, उन्हें यह समझना चाहिये कि ये सभी योग्यताएँ ही जीव को सच्चा आत्मार्थी, सच्चा मोक्षार्थी और सच्चा साधक बनाती हैं। अतः प्रत्येक साधक को सबसे पहले इन योग्यताओं को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये, ताकि वह सच्चा आत्मार्थी बनकर शीघ्र आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता प्राप्त कर इस दुःखमय संसार से मुक्ति पा सके।

संसार में पुण्यशाली जीवों को भी केवल पुण्य का उदय होता है, ऐसा बहुत कम होता है। इसलिये सभी धनवान भी सुखी ही हैं – ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्हें भी जीवन में कोई न कोई कमी खलती होती है, या अधिक धन कमाने की लालसा लगी होती है, या धनसंचय और धन की रक्षा की चिंता सताती होती है, या कोई शारीरिक या मानसिक पीड़ा होती है, या किसी पारिवारिक सदस्य से विरोध या प्रतिकूलता मिलती है, जो उन्हें सदैव दुःखद या बेचैन करती रहती है। क्योंकि प्रत्येक जीव को प्रायः पुण्य के उदय के साथ कुछ पाप का भी उदय होता है। जबकि जिन जीवों को पाप का उदय होता है, वे तो दुःखी ही रहते हैं।

इस प्रकार संसार में जीवों के हृदय में दाह और जलन होती है, इसलिये ही भगवान ने कहा है कि संसार पूरा जल रहा है, और इसलिये ही भगवान ने संसार की तुलना दावानल (वनाग्नि) से की है। अज्ञानी को तो मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायों का उदय तथा बंध दोनों होते हैं, जो उनके दुःखमय संसार को और बढ़ाते हैं। इस प्रकार अज्ञानी जीव अनंत जन्म, बुढ़ापा, मरण आदि के दुःखों को सहता हुआ अनंतकाल से इस दुःखमय संसार में भटक रहा है। भगवान ने अज्ञान की तुलना अंधकार से की है – जैसे अंधकार में हमें कुछ दिखाई नहीं देता और इसलिये हम रस्सी को साँप मानकर डरते हैं, वैसे ही अज्ञान के कारण जीव शरीर में 'मैंपन' करता हुआ अपने दुःखमय संसार को ही बढ़ाता है।

संसार की तुलना वन (अटवी) से भी की गई है। जैसे कोई जीव वन में फँस जाए तो उसे बाहर निकलने का रास्ता नहीं मिलता, वैसे ही भगवान ने कहा है कि इस भवरूपी वन में फँसे हुए जीवों को वहाँ से बाहर निकलने का मार्ग पाना अत्यंत कठिन है। क्योंकि अनादिकाल से

जीव मार्ग के नाम पर या तो जानकारी बढ़ाकर समझता रहा है कि मैंपने ज्ञान बढ़ाया है', या कठोर आचार-पालन करके यह समझता रहा है कि मैंपने सर्वविरति (दीक्षा) ग्रहण की है, इसलिये मेरा कल्याण अवश्य होगा।' वास्तव में जानकारीरूप ज्ञान तो तभी सम्यक् और वास्तविक ज्ञान बनता है, जब जीव वैराग्यपूर्वक आत्मसम्मुखता पाकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करता है। फिर कालक्रम से गुणस्थान आरोहण करते हुए वह जीव छठवें गुणस्थान पर पहुँचकर साधु भी बनता है, और आगे क्षपक श्रेणी लगने पर केवलज्ञानी बनकर आयुष्य के अंत में सिद्ध होता है। इस प्रकार जीव वैराग्य के सहारे भव-अटवी से बाहर निकल सकता है - और इसी के लिये इन भावनाओं की रचना की गई है।

जीव अपने आस-पास के जीवों से राग-द्वेष करके अपना संसार बढ़ाता रहता है। उसे यह पता ही नहीं होता कि इन सभी जीवों के साथ वह माता, पिता, पत्नी, पति, पुत्र, पुत्री, भाई, बहन, मित्र, शत्रु आदि अनेक प्रकार के संबंध अनेक बार पा चुका है। इसलिये कोई भी संबंध स्थायी नहीं है; जो भी जीव इस जन्म में जो भी संबंध प्राप्त करता है, वे भी पूर्व कर्मों के अनुसार इस एक जन्म के लिये मिली भूमिकाएँ (roles) मात्र हैं। उन भूमिकाओं को निभाते हुए जीव नये राग-द्वेष करके नये कर्म बाँधता है और अपना दुःखमय संसार ही बढ़ाता है।

जीव की तृष्णा अनंत है। जैसे ही एक इच्छा पूरी होती है, तुरंत दूसरी नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार जीव को अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ की चौकड़ी अनादिकाल से पीड़ा देती रही है - ऐसा है यह संसार। इसलिये भगवान ने इस संसार को दुःखमय कहा है। परंतु अज्ञानी जीवों को यह संसार अच्छा लगता है, उसके भ्रांत सुख भी अच्छे लगते हैं, उसके स्वार्थमय संबंध भी प्रेममय प्रतीत होते हैं। इस प्रकार जीव झिलमिलाते जल जैसे (मृगतृष्णा रूप) सुखों के पीछे अनादिकाल से भागता आया है और परिणामस्वरूप अनंत दुःख पाता रहा है। यही संसार का सच्चा स्वरूप है।

ऐसे संसार के प्रति प्रीति, गम, रस, रुचि टूटना स्वयंभूरमण सागर को पार करने जैसा कठिन कार्य है। इसलिये भगवान ने संसार की तुलना समुद्र से भी की है और कहा है कि 'ग्रंथि भेद करना (सम्यग्दर्शन प्राप्त करना) स्वयंभूरमण सागर को पार करने जैसा कठिन कार्य है।'

ऐसे संसार में रहना किसे पसन्द होगा जहाँ एक समय के सुख (सुखाभास) के ख़िलाफ़ अनन्त समय निगोद में दु:ख सहते रहना होगा ? अर्थात् किसी को भी यह बात पसन्द नहीं आयेगी परन्तु इस बात की यथार्थ समझ न होने के कारण ही जीव अनादि से इसी तरह से अनन्तानन्त

दु:ख सहता आया है और अगर अभी भी समझ में नहीं आया तो इसी तरह से अनन्तानन्त काल तक अनन्तानन्त दु:ख सहते रहना पड़ेगा; यह सोचकर अपने ऊपर और सब जीवों के प्रति अनन्तानन्त करुणा आनी चाहिये। इस तरह से स्वयं पर करुणा करके अर्थात् स्वदया करके जल्द से अपना आत्मकल्याण साध लेना चाहिये, यही इस भावना का फल है।

एकत्व भावना :– अनादि से मैं अकेला ही भटकता आया हूँ, अकेला ही दु:ख भोगता रहा हूँ; मरण के समय मेरे साथ कोई भी आनेवाला नहीं है, मेरा शरीर भी नहीं। अत: मुझे सम्भव हो उतना अपने में ही (आत्मा में ही) रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

अनादि काल से हम अकेले ही इस दुखमय संसार अर्थात भवचक्र में फंसे हुए हैं। जीव और उसके भावों के प्रतिबिंब रूप कर्म अनादि काल से उसके साथ एकक्षेत्रावगाह संबंध से जुड़े हुए हैं। जीव अकेला ही इस संसार में भटकते-भटकते अपने लिये दुखों का कारण बनता है। क्योंकि जब जीव को पुण्य के उदय में अच्छा शरीर, रूप, शक्ति, परिवार, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, पत्नी, सत्ता, अधिकार आदि प्राप्त होते हैं, तब वह जीव मद (अहंकार) में आकर उन वस्तुओं या व्यक्तियों का उपयोग नये पापों को बांधने में ही करता है, और यदि कुछ पुण्य भी बांधता है तो वह भी पापानुबंधी पुण्य ही बांधता है। इस प्रकार स्वयं अनादि से अकेला होने पर भी अज्ञानवश प्रायः अपना भविष्य बिगाड़ने का ही कार्य करता आया है, इसलिये हम अब तक इस दुखमय संसार में भटक रहे हैं।

जीव अनादि से अकेला ही है, परंतु उसे जो भी वस्तुएं और व्यक्तिरूप संयोग मिलते हैं, वे उसके कर्मों के अनुसार ही मिलते हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि वे संयोग उसे कर्मों की निर्जरा करने के लिये ही मिले हैं। अतः उसे संयोगरूप में जो भी व्यक्ति मिले हैं, वे वास्तव में उसके कर्मों की निर्जरा कराने में सहायता ही करते हैं। परंतु उसे ऐसी समझ न होने से वह दूसरों के साथ नए राग-द्वेष करके नये कर्म बांध लेता है। इस प्रकार हम इस संसार के विषचक्र से कभी छूटे ही नहीं हैं। हमारी ऐसी करुण कहानी होने पर भी यदि हम इस भव में नहीं जागेंगे और अपने आस-पास के सगे, संबंधी, मित्र, शत्रु आदि किसी भी रूप में संयोगरूप से मिले जीवों को उपकारी देखना शुरू नहीं करेंगे, तो अभी भी हमें इस संसार से मुक्ति देने वाला सम्यग्दर्शन प्राप्त होना कठिन ही है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के लिये शांत और प्रसन्न मन आवश्यक है। जैसे शांत जल में ही प्रतिबिंब देखा जा सकता है, वैसे ही शांत मन, संसार से निर्वेद और आत्मा के प्रति संवेग अर्थात

आत्मसम्मुखता के बिना आत्मप्राप्ति संभव नहीं है।

अनादि से जीव अकेला होते हुए भी पर में एकत्व करके अपना दुखमय संसार बढ़ाता है। पुद्गलरूपी शरीर आत्मा से भिन्न होते हुए भी, पररूप होते हुए भी, एकक्षेत्रावगाह संबंध के कारण जीव स्वयं को भूलकर पर अर्थात शरीर में मैंपन करता है, और उसके निमित्त राग-द्वेष करके नये कर्म बांधता है तथा अपना दुखमय संसार ही बढ़ाता है। शरीर में मैंपन होने से जीव शरीर के संबंध से माता-पिता, पत्नी, पुत्री-पुत्र आदि सगे-संबंधियों में और घर, मकान, दुकान, धन, हीरे, माणिक, सोना, चांदी आदि पुद्गलों में मेरापन करके, राग-द्वेष करके कर्म के विषचक्र को मजबूत बनाता है, जो उसे अनंतकाल तक संसार में भटकाने में समर्थ है। जीव अपना संपूर्ण जीवन इन्हीं सब के पीछे खर्च कर देता है। जीवन का सर्वोत्तम काल जीव लौकिक अध्ययन और धनार्जन में ही खर्च कर देता है, और फिर वह धन की व्यवस्था करने, उसकी रक्षा करने, निवेश करके नई आय उत्पन्न करने, उस धन से स्वयं को बड़ा मानने, जगत में धन का रौब चलाने, धन न होने पर उसे कमाने की चिंता में, उसके लिये छल-कपट करने या सोचने में, धनवानों से ईर्ष्या करने में, कमाए हुए धन की अधिक से अधिक बचत कैसे हो यह सोचने और उसका अमल करने में, पत्ते आदि खेलने में, क्रिकेट जैसी खेलों को खेलने-देखने में, पर्यटन स्थलों पर घूमने में, फिल्में, टीवी, मोबाइल, सोशल मीडिया आदि में भी जीवन का श्रेष्ठ समय व्यर्थ कर देता है। जीवन में धनार्जन तो पुण्य के अनुसार ही होता है, इसलिये उसके पीछे कम समय व्यतीत करके अधिक समय अपने अनंतकाल को सुधारने वाले सत्य धर्म में लगाना चाहिये।

पर में सुखबुद्धि अर्थात मुझे पर से ही सुख मिलेगा - ऐसी मान्यता ही संसार का बीज है। क्योंकि जब तक पर में सुखबुद्धि है, तब तक वह जीव बहिरात्मा कहलाता है। इसलिये सम्यग्दर्शन के लिये सबसे पहले इस संसार के बीजरूप पर में सुखबुद्धि को हटाना आवश्यक है, तभी जीव आत्मसम्मुख हो सकता है। इसे ही दूसरे शब्दों में संसार के प्रति निर्वेद और आत्मा के प्रति संवेग कहा जाता है। अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दर्शन अनेक प्रकार से हो सकता है, उसके लिये वैराग्य या योग्यता आवश्यक नहीं। उन्हें हम कहते हैं कि बहिरात्मापन में कभी सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता, और बहिरात्मापन हटाने के लिये वैराग्य की आवश्यकता है, जिससे संवेग और निर्वेद उत्पन्न होंगे। इसलिये किसी को ऐसे मिथ्या तर्कों में फंसना नहीं चाहिये। अन्यथा वह जीव अनंतकाल तक इस दुखमय संसार में ही फंसा रह सकता है। जिन्हें संसार अच्छा लगता है और संसार की चमक-धमक में ही आनंद आता है, जिन्हें नाम, प्रसिद्धि, धन, ऐश्वर्य, अधिकार,

रूप आदि के ही अर्थी हैं – वे लोग ही ऐसी साधना की बातें करते हैं जिससे उनकी संसार-रसिकता बनी रहे। ऐसी बातें करके वे जीव अपना और अनेक अन्य जीवों का अनंतकाल का अहित करते हैं – यही वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणीकाल की भयानक विडंबना है।

सम्यग्दृष्टि का एकमात्र शुद्धात्मा से ही एकत्व होता है; यही बात समयसार में बतायी गयी है। **समयसार** गाथा ३ : गाथार्थ :- ''एकत्व निश्चय को प्राप्त जो समय है (यानी आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित जिसका मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' होकरके सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है, वैसी आत्मा) इस लोक में सर्वत्र सुन्दर है (यानी वैसा जीव भले नरक में हो या स्वर्ग में हो यानी दुःख में हो या सुख में हो परन्तु वह सुन्दर यानी स्व में स्थित है) इसलिये एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा (यानी बन्धरूप विभावों में 'मैंपन' करते ही मिथ्यात्व का उदय होने से) विसंवाद-विरोध करनेवाली (यानी संसार में अनन्त दुःखरूप फल देनेवाली) है।'' और दूसरा, जो आत्म द्रव्य अन्य कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल द्रव्य के साथ बन्ध कर रहा है, उसमें विसंवाद है अर्थात् दुःख है, जब वही आत्म द्रव्य उस पुद्गल द्रव्य के साथ के बन्धन से मुक्त होता है, तब वह सुन्दर है अर्थात् अव्याबाध सुखी है।

आगे **समयसार** : गाथा ७ में कहा है कि :- ''ज्ञानी को चारित्र, दर्शन, ज्ञान – ये तीन भाव व्यवहार से कहने में आते हैं (यानी ज्ञानी को एकमात्र अभेदभावरूपी 'शुद्धात्मा में' ही 'मैंपन' होने से, जो भी विशेषभाव हैं और जो भी भेदरूपभाव हैं, वे व्यवहार कहे जाते हैं); निश्चय से ज्ञान भी नहीं, चारित्र भी नहीं, दर्शन भी नहीं (यानी निश्चय से कोई भेद शुद्धात्मा में नहीं, वह एक अभेद सामान्यभावरूपी होने से उसमें भेदरूपभाव और विशेषभाव, ये दोनों भाव नहीं हैं)। ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।'' यानी शुद्ध निश्चय नय का विषय मात्र अभेद ऐसा शुद्धात्मा ही है। यही एकत्व भावना है।

गाथा ७ टीका :- '...क्योंकि अनन्त धर्मोंवाले एक धर्मी में (यानी भेद से समझकर अभेदरूपअनुभूति में) जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्य जन को, धर्मी को बतानेवाले कितने ही धर्मों द्वारा (यानी भेदों द्वारा), उपदेश करते हुए आचार्य का-यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद उत्पन्न करके (अभेद द्रव्य में द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे भेद उत्पन्न करके) व्यवहार मात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी को दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है परन्तु परमार्थ से (यानी वास्तव में) देखने में आवे तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से जो

एक है... (यानी जो द्रव्य तीनों काल में उन-उन पर्यायरूप परिणमता होने पर भी अपना द्रव्यत्व नहीं छोड़ा है - जैसे कि मिट्टी घट पिण्ड रूप से परिणमने पर भी मिट्टीत्व नहीं छोड़ती और प्रत्येक पर्याय में वह मिट्टीत्व व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से है इसलिये पर्याय अनन्त होने पर भी वह द्रव्य तो एक ही है)। ...एक शुद्ध ज्ञायक ही है।' ऐसी एकत्व भावना होने के बावजूद भी अनेक लोग द्रव्य-पर्याय को अलग करने के चक्कर में फँसकर अनन्तकाल संसार में रुलने का मार्ग ही प्रशस्त कर रहे हैं; यह बात उनको समझ में नहीं आती, यह बात हमारे लिये सबसे अधिक दुःखद है।

जीव इस संसार में परिवार, सम्प्रदाय या समाज विशेष का पक्ष लेकर जब कुछ ग़लत करता है, तब उसका फल अकेले उसे ही भुगतना पड़ता है। वस्तु का धर्म एक ही होता है, वह बदलता नहीं। अर्थात् आत्मा के कल्याण का एक ही मार्ग होता है। और इस जगत के सभी जीवों के लिये नियम एक समान ही होते हैं। अलग-अलग सम्प्रदाय हमने बनाये हैं, वे समाज-व्यवस्था के लिये तो ठीक हैं परन्तु उस मत-पन्थ-सम्प्रदाय का आग्रह अपनी आत्मा के कल्याण में बाधक नहीं बनना चाहिये।

ऐसी है एकत्व भावना जिसका विषय एकमात्र शुद्धात्मा ही है। लेकिन संसारी जीवों ने अनादि से शरीरादि परभावों में ही एकत्व किया है और दुःखों को आमन्त्रण दिया है। इस भावना का मर्म समझकर जब जीव का एकमात्र शुद्धात्मा में ही अर्थात् स्वभाव से ही एकत्व होता है, तब उस जीव का संसार सीमित हो जाता है अर्थात् उस जीव का मोक्ष निकट होता है।

अन्यत्व भावना :- मैं कौन हूँ ? यह चिन्तन करना अर्थात् पूर्व में बताये अनुसार पुद्गल और पुद्गल (कर्म) आश्रित भावों से अपने को भिन्न जानते हुए आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उसी में 'मैंपन' होता है, उसीका अनुभव होता है, उसे ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वही इस जीवन का एकमात्र लक्ष्य और कर्तव्य होना चाहिये।

अनादि से कर्म संयोगवश पर में ही 'मैंपन' और 'मेरापना' मानकर जीव दुःख भोगता आया है। जैसे कि शरीर, धन, पत्नी, पुत्र, परिवार, आदि में ही अनादि से 'मैंपन' और 'मेरापना' मानकर जीव दुःख भोगता आया है। अब कब तक ऐसे दुःख भोगते रहना है ? अर्थात् कब तक पर में ही 'मैंपन' और 'मेरापन' मानना जारी रखकर दुःखी होना है ? पत्नी, पुत्र, परिवार आदि मेरे लिये अन्य हैं, हर एक जीव स्वतन्त्र है इसलिये उसकी स्वतन्त्रता का आदर करते हुए मुझे अपना कोई भी निर्णय, आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह, दुराग्रह इत्यादि दूसरों के ऊपर थोपने का प्रयास नहीं

करना चाहिये। हम अन्यों को प्रेम से समझा सकते हैं, प्रेरणा दे सकते हैं परन्तु आदेश नहीं दे सकते। अर्थात् व्यावहारिक कार्य के लिये हमारा जो दायित्व है, उसका निर्वहन करने के लिये भी अगर कोई कठोर निर्णय या आदेश आवश्यक है तब भी किसी को अन्याय न हो इसका ख़याल रखकर अपना दायित्व निभाना चाहिये। अर्थात् सभी जीवों की स्वतन्त्रता का आदर करते हुए समाज, देश या धर्म के लिये जो भी नियम आवश्यक हों, वे बना सकते हैं। अन्यों के ऊपर अपना कोई भी निर्णय, आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह, दुराग्रह इत्यादि थोपना नहीं चाहिये अन्यथा हमें भी ऐसा कई बार झेलना पड़ सकता है; यही कर्म का भी सिद्धान्त है।

अनादिकाल से जीव को अपनी चिंता ही नहीं है, क्योंकि अनादि मिथ्यात्व के कारण उसे अपनी पहचान ही नहीं है। परंतु अनादिकाल से जीव जिस भी भव में गया, वहाँ उसने जिन अन्य द्रव्यों में 'मैंपन' और 'मेरापना' किया, उनकी ही चिंता की है। इस प्रकार अनादिकाल से पर की चिंता करके अनंत संसार ही बढ़ाया है। अनादिकाल से पर की चिंता करते हुए जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यान करता है, कर्म बंधता है, भारी होकर अधोगति को प्राप्त होता है, और अंत में अनंतकाल तक अनंत दुःखों का भोग करता हुआ निगोद में बिताता है। अनादिकाल से अन्यत्व भावना का सही अर्थ में पालन न करने के कारण जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिये वह जिस भी भव में जाता है, वहाँ अनादिकाल की चार संज्ञाओं को ही दृढ़ करता रहता है – आहार संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, भय संज्ञा और मैथुन संज्ञा के संस्कारों को ही प्रबल बनाता है।

अनादिकाल से जीव पर के ध्यान में ही डूबा हुआ है, क्योंकि उसने कभी भगवान द्वारा कहे गए धर्मध्यान का उपयोग करके आत्महित किया ही नहीं है। उलटा, आत्मशत्रु के समान आर्तध्यान और रौद्रध्यान ही किए हैं। अनादिकाल से अनेक बार पर के ध्यान को ही सच्चा ध्यान माना है, वही किया है और वही करवाया है। अनेक बार शुद्धनय की प्राप्ति के बिना ही शुद्ध निश्चयनय के विषय – शुद्धात्मा – का भी ध्यान किया है, जो अप्रकट होने से उस जीव के लिये आकाश में फूल के ध्यान समान ही है, क्योंकि अज्ञानी पर्यायदृष्टि होने से वह स्वयं को पर्याय में ही शुद्ध मानने लगता है, और इस प्रकार उसके शुद्धनय की प्राप्ति का पुरुषार्थ ही नष्ट हो जाता है। ऐसे जीव शुद्धनय की प्राप्ति के बिना शुद्धात्मा के ध्यान से भ्रम में पड़ जाते हैं, निश्चयाभासी बनते हैं और स्वयं को ज्ञानी भी मानने लगते हैं। ऐसे जीव भ्रम को ही आत्मानुभूति मानकर अपना

अनंत संसार बढ़ा देते हैं। ऐसा ध्यान जीव को कुगति में जाने से भी रोक नहीं सकता, क्योंकि ऐसे जीव स्वयं को अकर्ता-अभोक्ता मानकर प्रायः स्वच्छंद में ही जीते हैं। यही हमारी अनादिकाल की कहानी है, और इसलिये हम अब तक संसार में हैं। परंतु अब इस प्रकार स्वयं को छलना बंद करना चाहिये। क्योंकि जब तक जीव की वृत्ति बाह्य की ओर है, तब तक उसका वीर्य भी बाहर ही व्यय होता है, उसका समय और शक्ति भी बाह्य में ही लगते हैं, उसकी रुचि भी बाहर ही रहती है; इसलिये ऐसे जीव के लिये बौद्धिक या शाब्दिक भेदज्ञान कार्यकारी नहीं होता।

प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है और स्वयं ही अपना कार्य करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादानरूप से कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि एक समय में एक द्रव्य अपना कार्य करे या दूसरे का? यदि एक द्रव्य एक ही समय में दोनों द्रव्यों का कार्य करे, तो द्विक्रियावाद का दोष उत्पन्न होगा, और दूसरा द्रव्य अपना कार्य न करने से उसे कार्यरहित मानना पड़ेगा। परंतु कोई भी द्रव्य कार्यरहित नहीं होता - यह सिद्धांत है। यदि कोई भी द्रव्य अपने कार्य के बिना हो, तो उसका अस्तित्व ही न रहे - यह सिद्धांत है। इसलिये प्रत्येक द्रव्य उपादानरूप से तो अपना ही कार्य करता है, और कुछ संयोगों में, यदि अन्य द्रव्य के उपादान में ऐसी योग्यता हो, तो वह अन्य द्रव्य को उस पहले द्रव्य का निमित्त बना सकता है। इसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहा जाता है। अन्यत्व भावना से इस वस्तुव्यवस्था को समझकर प्रत्येक साधक को अपना पुरुषार्थ अपने (आत्मा के) हित में लगाना चाहिये और आत्मप्राप्ति का योग्य पुरुषार्थ करना चाहिये। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिये कि अपने आत्मा को छद्मस्थ अवस्था में दुर्बल निमित्तों से बचाना भी अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि अनादिकाल से जीव निमित्तवासी है। अर्थात, अनादिकाल से जीव के संस्कार ही ऐसे हैं कि उसका आध्यात्मिक पतन होने में देर नहीं लगती, परंतु आध्यात्मिक प्रगति के लिये उसे बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है।

आचार्य कुंदकुंद रचित समयसार ग्रंथ में गाथा ५० से ५५ में नीचे बताए गए २९ भावों को निश्चित रूप से जीव से अन्य कहा गया है, अर्थात वे जीव नहीं हैं - ऐसा बताया गया है। क्योंकि समयसार में मुख्यतः शुद्धात्मानुभूति का ही वर्णन है, और नीचे बताए गए ये २९ भेद अनुभूतिस्वरूप आत्मा में नहीं होने से, निश्चयनय में नहीं होने से, शुद्धनय में नहीं होने से, आत्मानुभूति के काल में उनसे भेदज्ञान हो जाने से - वे सब जीव नहीं हैं और न ही जीव में हैं, बल्कि वे पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं - ऐसा कहा गया है। वे २९ भेद इस प्रकार हैं:

१. वर्ण २. गंध ३. रस ४. स्पर्श ५. रूप ६. शरीर ७. संस्थान ८. संहनन ९. राग १०. द्वेष ११. मोह १२. प्रत्यय (आस्रव) १३. कर्म १४. नो-कर्म १५. वर्ग १६. वर्गणा १७. स्पर्धक १८. अध्यात्म स्थान १९. अनुयोग स्थान २०. योग स्थान २१. बंध स्थान २२. उदय स्थान २३. मार्गणा स्थान २४. स्थिति बंध स्थान २५. संकलेश स्थान २६. विशुद्धि स्थान २७. संयमलब्धि स्थान २८. जीव स्थान २९. गुण स्थान ।

ऐसा मोह कर्म, जो आत्मा को ख़ुद के स्वरूप-आस्वादन के भाव को भी जन्म नहीं लेने देता; उसे दूर करने का एकमात्र मार्ग इस भावना को दृढ़ करने से मिलता है। इस भावना से सभी संयोगी भावों को तलाशना और तय करना है कि मैं कौन हूँ ? और मेरा क्या है ?

शरीर को छोड़कर अन्य सभी वस्तुएँ तो प्रकट में भी अपने से भिन्न दिखती हैं, इसलिये अनादि से शरीर में ही मैंपन मानकर रखा है। यही सबसे बड़ी ग़लती है जिस कारण जीव अनादि से इस संसार में रुल रहा है और अनन्त दु:ख भुगत रहा है। अगर इस चक्कर से छुटकारा पाना हो तब फिर इस भावना के अलावा और कोई उपाय नहीं है। यह सोचना चाहिये कि जब आत्मा इस शरीर को छोड़कर जाती है, तब शरीर यहीं रह जाता है। उसे जला दिया जाता है। अगर वह शरीर 'मैं' होता तब वह भी आत्मा के साथ जाना चाहिये था, इस तरह तय होता है कि 'मैं' शरीर नहीं हूँ। उससे आगे जब हम सोचते हैं तब फिर जो अच्छे-बुरे भाव होते रहते हैं, उनमें मैंपन होता है; क्या वह सही है ?

सब अच्छे-बुरे भाव होते तो मुझमें ही हैं, मगर मेरा अस्तित्व सिर्फ़ उतना ही नहीं है। अगर मेरा अस्तित्व उतना ही माना जाये तब फिर उसके नाश के साथ मेरा भी नाश मानने का प्रसंग खड़ा हो जायेगा। परन्तु मैं अनादि-अनन्त हूँ, अजर-अमर हूँ; यह बात तय होने से, यह सिद्ध होता है कि अच्छे-बुरे भाव होते तो मुझमें ही है, मगर वे मेरा स्वरूप नहीं हैं। उन अच्छे-बुरे भावरूप में ही परिणमता हूँ मगर मात्र कुछ काल के लिये ही वे परिणाम टिकते हैं, वे त्रिकाल आत्मा में नहीं टिकते अर्थात् मेरा उस अच्छे-बुरे भाव के साथ आईना और उसमें झलकनेवाले प्रतिबिम्ब जैसा सम्बन्ध है, जिसमें उस झलकनेवाले प्रतिबिम्ब के नाश से आईने का नाश नहीं होता। यानी अपने को सब भावरहित उस आईने की तरह स्वच्छ/शुद्ध अनुभव करना है, यही इस भावना का फल है। जिससे हम अपने को दु:ख से मुक्त करा सकते हैं।

अशुचि भावना :- हमें, अपने शरीर को सुन्दर बताने/सजाने का जो भाव है, और विजातीय के शरीर का आकर्षण है, उस शरीर की चमड़ी को हटाते ही मात्र मांस, खून, पीव, मल, मूत्र

इत्यादि ही ज्ञात होते हैं, जो कि अशुचिरूप ही हैं। ऐसा चिन्तन कर अपने शरीर का और विजातीय के शरीर का मोह तजना है, उसमें मोहित नहीं होना चाहिये।

जीव को अनादि से अपने शरीर का और विजातीय के शरीर का आकर्षण है और उसी वजह से जीव अनादि से – आहार, मैथुन, परिग्रह और भय से ग्रस्त है। इन्हीं के पीछे भागकर जीव अनन्तानन्त बार बर्बाद हुआ है, उसने अनन्तानन्त दु:ख भोगे हैं और अभी भी उन्हीं के पीछे भागने की वजह से ही दु:खी हो रहा है। जीव को शरीर के आकर्षण से मुक्त कराने हेतु यह भावना का चिन्तन आवश्यक है।

यह देह ऐसा है कि जीव नये वस्त्र पहनता है तो भी थोड़ी ही देर में वे वस्त्र पसीने से भीग जाते हैं और फिर उन्हें धोना पड़ता है। इस प्रकार देह से पसीना, मल, मूत्र, श्लेष्म आदि बाहर निकलते रहते हैं, जिससे हम समझ सकते हैं कि शरीर में भीतर क्या भरा है – क्योंकि शरीर में जो होता है वही बाहर आता है, जो नहीं होता वह नहीं आता। इससे निश्चित होता है कि यह देह कैसी है। इसलिये ऐसे शरीर का आकर्षण रखना उचित नहीं है। फिर भी अनादिकाल के संस्कारों के वश होकर जीव यह देखकर कि सुख शरीर से ही मिलता है, शरीर के मोह में पड़ जाता है। वह सुख भी वास्तव में केवल सुखाभास (सुख का भ्रम) ही है, क्योंकि जीव समझता है कि सुख बाहर (पर से) मिलता है, जबकि उसे सुख वास्तव में अपनी आत्मा से ही प्राप्त होता है। यह बात समझाने के लिये ही भगवान ने कुत्ते का उदाहरण दिया है – जब कुत्ता हड्डी चबाता है, तब जो रक्त निकलता है वह हड्डी से नहीं, बल्कि उसकी अपने तालु में हड्डी चुभने से ही निकलता है; किंतु कुत्ता समझता है कि वह रक्त हड्डी से आ रहा है, और इसलिये वह हड्डी को लगातार चबाता रहता है। उसी प्रकार जीव भी समझता है कि सुख बाहर से आता है, और इसलिये उसका बाह्य के प्रति मोह तीव्र होता जाता है, पर के प्रति उसकी प्रीति बढ़ती जाती है। यही हमारी अनादिकालीन कहानी है। अब इस भव में अशुचि भावना का प्रयोग करके इस मोह को मंद कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य बनना चाहिये, क्योंकि जब तक बाह्य के प्रति मूर्छा तीव्र है, तब तक जीव बहिरात्मा ही रहता है और आत्मसन्मुखता (आत्माभिमुखता) प्राप्त नहीं कर सकता, जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये अत्यंत आवश्यक है।

पुरुष के शरीर में नौ और स्त्री के शरीर में बारह छिद्रों से निरंतर अशुचि बाहर निकलती रहती है। फिर भी मोहनिद्रा में सोए हुए जीव ऐसे अशुचिमय शरीर को इत्र, चंदन, डियोडरेंट आदि

से सुगंधित बनाने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। लेकिन उन्हें कहाँ पता है कि किसी स्थान पर यदि चूहा मर गया हो और वहाँ दुर्गंध आती हो, तो उसे इत्र आदि से कितने समय के लिये सुगंधित बनाया जा सकता है? वास्तव में उस चूहे को हटाए बिना उस स्थान की दुर्गंध को सुगंध में नहीं बदला जा सकता। उसी प्रकार मोहवश जीव को भी मोह हटाए बिना यह समझाया नहीं जा सकता कि यह शरीर अशुचिमय है। इस कारण अनादिकाल से अज्ञानी जीव शरीर के मोह में अपना अनंत दुःखमय संसार ही बढ़ाते आए हैं।

इस शरीर को चाहे जितना भी सुगंधित, स्वादिष्ट भोजन दिया जाए, वह अंत में अशुचि में ही परिवर्तित होता है। फिर भी कितने अज्ञानी जीव प्रिय और स्वादिष्ट भोजन के पीछे अपना पूरा जीवन व्यर्थ कर देते हैं। संपूर्ण जीवन वे स्वादिष्ट भोजन के लालची बनकर अनंत पापकर्म बाँधते हैं। उनमें से कुछ जीव तो अपने प्रिय भोजन में कीट (कीड़े) रूप में अनेक बार जन्म लेते हैं और दुःखी होते हैं, तथा अंत में अनंतकाल तक दुःखमय एकेन्द्रिय योनि में ही बिताते हैं। इस प्रकार ऐसे जीव इस उत्तम मनुष्य जन्म का कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं ले पाते और उलटे अपना अनंत दुःखमय संसार ही बढ़ाते हैं। वास्तव में यह मनुष्य जन्म हमें अनंतकाल के दुःखों को मिटाने और अनंत सुख प्राप्त करने के लिये मिला है। परंतु मोहमद के कारण हमने ऐसे अनंत जन्मों को व्यर्थ बना डाले हैं। अब यह विचार करने योग्य है कि आखिर कब तक ऐसा ही करते रहना है – यह सोचकर वैराग्यादि योग्यताएँ विकसित कर, आत्मसन्मुखता प्राप्त कर, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये ही इस वर्तमान भव को लगाना चाहिये।

आत्मा के लिये सर्व परपदार्थ अशुचि ही हैं क्योंकि अनादि से पर में ही 'मैंपन' और 'मेरापना' करके जीव दुःख भोगता आया है। आत्मा के लिये शुद्धात्मा के अलावा सारे संयोगी भाव अशुचि ही हैं क्योंकि वे सभी भाव आत्मा की मुक्ति में बाधाकारक हैं। इसलिये केवल शुद्धात्मा ही मैंपन के योग्य है। यही शौच धर्म है, यही परम धर्म है, यही सिद्ध पद का उपाय है। यही अनन्त दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय है। यही इस भावना का फल है।

आस्रव भावना :– पुण्य और पाप ये दोनों मेरे (आत्मा के) लिये आस्रव हैं; इसलिये विवेक द्वारा पहले पापों का त्याग करना और फिर एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभभाव में रहना कर्तव्य है। अनादि से जीव मिथ्यात्व युक्त राग–द्वेष करके कर्मों का आस्रव करता आया है, फिर वह अनन्तकाल तक उन कर्मों के चक्कर में ८४ लाख योनियों में भटकता रहता है और अनन्तानन्त दुःख भोगता है। सबसे बड़ा आस्रव मिथ्यात्व ही है, इसलिये शीघ्र ही उसे दूर करने का उपाय

करना चाहिये क्योंकि एक बार मिथ्यात्व जाने से आत्मा का अनुभव होता है, फिर उसमें बार-बार अतीन्द्रिय सुख अनुभव करने की लत स्वयमेव लग जाती है, जो अन्त में आत्मा की आस्रव मुक्ति का कारण बनती है; यही है इस भावना का फल।

विषय और कषाय भी आस्रव के कारण हैं और वे मिथ्यात्व, जो कि आस्रव का सबसे बड़ा कारण है, को पुष्ट भी करते हैं। इसलिये मुमुक्षु जीव को सदैव विषय और कषाय को मन्द करने का और सम्यग्दर्शन के लिये कही गयी वैराग्यादि योग्यतायें अर्जित करने का प्रयास करना चाहिये। जब जीव ने अनादि से इन्द्रिय के एक-एक विषय के पीछे भागकर अनन्तानन्त बार अपने प्राण गँवाये हैं फिर इस मनुष्यभव में अगर वह पाँचों इन्द्रियों के विषयों के पीछे भागेगा तब उसका क्या हाल होगा ? वह अपने लिये अनन्तानन्त दुःखों को आमन्त्रण देने का ही काम करेगा। वैसे भी एक-एक कषाय जीव को अनन्तानन्त दुःख देने के लिये सक्षम है।

अनादिकाल से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - ये पाँच ही जीव के आस्रव के द्वार हैं; अर्थात ये पाँच ही जीव को नए कर्मों के बन्धक हैं। इन पाँचों आस्रवों को यदि '९' की संज्ञा दी जाए, तो उसे '९९९९९' लिखा जा सकता है। जब मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है और जीव सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) प्राप्त करता है, तब पहला '९' चला जाता है, और केवल '९९९९' शेष रह जाते हैं। इससे समझा जा सकता है कि सबसे बड़ा आस्रव मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व दूर होते ही जीव का संसार समाप्त होने लगता है। फिर वह जीव अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल से अधिक समय तक संसार में नहीं रहता। उस अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल के भीतर ही उस जीव को अवश्य मोक्ष प्राप्त होता है।

जीव अनादिकाल से बहिरात्मा है - अर्थात बाहर में ही सुख-बुद्धि रखता आया है - इसलिये मिथ्यात्व नाम का आस्रव जीव को पीड़ित करता है। परंतु अज्ञानवश जीव को इसका ज्ञान ही नहीं होता। उलटे जीव को सुख के लिये बाह्य के पीछे भागने में ही अपना हित दिखाई देता है - यही है अनादिकाल की करुण कहानी कि जीव ने अनंत बार उपदेश सुनने पर भी कभी अपना सच्चा हित समझा ही नहीं। जैसे मृग मृगजल के पीछे दौड़ता है, वैसे ही जीव मिथ्यात्व के कारण अनादिकाल से आभासिक सुख के पीछे दौड़ता रहा है और अपना दुःखमय संसार ही बढ़ाता रहा है। ऐसे जीवों को वैराग्य की दृष्टि भी नहीं भाती, इसलिये वे कहते सुने जाते हैं कि 'आत्मप्राप्ति के लिये वैराग्यादि योग्यताओं की आवश्यकता नहीं है;' 'शास्त्रों में कहा गया है कि अनेक प्रकार से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, इसलिये वैराग्य के बिना भी ध्यान आदि से सम्यग्दर्शन

प्राप्त हो सकता है।' ऐसे जीवों को यह ज्ञात ही नहीं होता – या फिर सांसारिक सुखों का पक्ष लेने के कारण, बहिरात्मभाव होने के कारण – वे ऐसी बातें करते हैं। अन्यथा भगवान ने अपने उपदेशों में बार-बार वैराग्य की बात क्यों कही होती – यह विचार करना आवश्यक है।

इस प्रकार अनेक निश्चयाभासी लोग तो ऐसा ही कहते हैं कि –'मैं शुद्धात्मा हूँ,' 'मुझे आस्रव-बन्ध नहीं होता,' 'मैं मुक्त ही हूँ – यह निश्चित करो, मुक्त होना तो है ही नहीं,' 'मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूँ,' आदि। वे ऐसा मानकर अपना दुःखमय संसार ही बढ़ाते हैं, स्वेच्छाचार को पोषित करते हैं और पुरुषार्थ का तो पूर्णतः नाश कर देते हैं। यही हमारी अनादिकालीन कहानी है। परंतु अब हमें सजग होना चाहिये और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये आत्मसन्मुखता प्राप्त करने तथा वैराग्यादि योग्यताएँ अर्जित करने का पुरुषार्थ ही करना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना आस्रवों का संवर (रोक) संभव नहीं होता।

जीव के लिये पुण्य भी आस्रव है परन्तु जब वह जीव एकमात्र आत्मप्राप्ति और आत्म स्थिरता के हेतु शुभभाव में रहता है, तब उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य और सातिशय पुण्य का आस्रव/बन्ध होता है। वैसे पुण्य मोक्षमार्ग में बाधारूप नहीं होते बल्कि सहायक ही होते हैं अर्थात् जब तक उस जीव का मोक्ष नहीं होता, तब तक ऐसे पुण्य से उस जीव को साता/अनुकूल संयोग प्राप्त होते हैं। संसार के जीवों का विचार करने से समझ में आता है कि वे किस तरह से आस्रव से बन्ध रहे हैं, उनको देखकर हमें यह सोचना चाहिये कि मैंने भी अनन्त बार इस तरह के आस्रव से बन्ध किया है और उसकी पश्चात्तापपूर्वक क्षमापना करनी चाहिये, आगे ऐसे आस्रव का सेवन कभी नहीं करूँगा, यह तय करना चाहिये; इस तरह से हर एक जानकारी का उपयोग हमें अपने (आत्मा के) फ़ायदे के लिये ही करना है। इस तरीक़े से आस्रव भावना का उपयोग करके हमें मुक्त होना है; यही इस भावना का फल है।

संवर भावना :– सच्चे (कार्यकारी) संवर की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिये उसके लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्चे संवर के लक्ष्य से द्रव्य संवर पालना चाहिये।

ऊपर कहे अनुसार अनादि से जीव मिथ्यात्वयुक्त राग-द्वेष करके कर्मों का आस्रव करता आया है, अब सम्यग्दर्शन प्राप्त करके जैसे-जैसे आत्मानुभूति का काल और आवृत्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आस्रव का अधिकाधिक निरोध होकर अधिकाधिक संवर होता जाता है यानी संवर के लिये सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करना आवश्यक है और सम्यग्दर्शन प्राप्ति हेतु पीछे कही

गयी योग्यता करने का पुरुषार्थ करना अति आवश्यक है।

सच्चे संवर की प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आवश्यक है, क्योंकि मिथ्यात्व सबसे बड़ा आस्रव है, और उसका संवर केवल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद ही होता है। इसलिये पहले उसकी प्राप्ति का उपाय करना चाहिये।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान का संवर धर्मध्यान से होता है। भगवान ने ध्यान के चार प्रकार बताए हैं – (१) आर्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान। इनमें से आर्तध्यान और रौद्रध्यान – ये दोनों त्याज्य हैं, और शुक्लध्यान आठवें गुणस्थानक से ही संभव होता है, जिसकी इस काल में संभावना अत्यल्प है। अतः इस काल में केवल धर्मध्यान ही करने योग्य है।

धर्मध्यान के चार प्रकार हैं – (१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय, (४) संस्थानविचय। 'विचय' का अर्थ है – विचार करना या चिंतन करना।

(१) आज्ञाविचय धर्मध्यान – इसका अर्थ है भगवान की आज्ञा का विचार और चिंतन करना। प्रत्येक कार्य करने से पहले भगवान की आज्ञा का विचार करना और यदि वह कार्य भगवान की आज्ञा के अनुकूल हो, तभी उसे करना उचित मानना, अन्यथा आज्ञा-विरुद्ध कार्यों को छोड़ने का प्रयत्न करना। दूसरा, प्रत्येक कार्य में भगवान की आज्ञा के अनुसार जतना का पालन करना – यानी कार्य करते समय जीवहिंसा न हो, इसकी सावधानी रखना। इस प्रकार निरंतर भगवान की आज्ञा का चिंतन करते रहना, और उसी के अनुसार अपने आत्मकल्याण के हेतु कार्य करना, तथा अनावश्यक कार्य न करना – ताकि अनर्थदण्डरूपी आस्रव से बचा जा सके।

भगवान की आज्ञा है – आत्मकल्याण करना, और उसे करते समय अशुभभावों से बचकर केवल आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभभाव में रहना। इसलिये मुक्ति की कामना रखने वाले जीव को शुद्ध के लक्ष्य से शुभ में रहना कर्तव्य है, न कि अशुभ में। जिसे केवल शुद्ध का लक्ष्य है, वह अशुभ में रहने की प्रवृत्ति नहीं रखता, पर अपनी दुर्बलता के कारण औषधि के रूप में भोगों का सेवन कर सकता है – परंतु उसका उद्देश्य अशुभभाव में रहना नहीं होता।

भगवान ने जीवों की आध्यात्मिक प्रगति के अनुसार गुणस्थान बताए हैं। उन्हें अनदेखा करके अनेक जीव एकांत में स्वयं को 'मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा मानने लगते हैं। ऐसा मानने से उनकी प्रगति रुक जाती है, क्योंकि जिस आत्मस्वरूप को आत्मानुभूति से प्रकट करना है, उसे प्रकट

करने से पहले ही स्वयं को वही मान लेने से भ्रम वश पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः वह जीव आत्मानुभूति के पुरुषार्थ से रहित होकर अनंत दुःखमय संसार में भटकता रहता है - यही हमारी अनादिकालीन भूल है।

(२) अपायविचय धर्मध्यान - 'अपाय' का अर्थ है नाश, संकट, हानि, नुकसान, अपमान आदि। इसका अर्थ है - वर्तमान मन-वचन-काय की क्रियाओं के कारण भविष्य में होने वाले नुकसान, आपत्ति, संकट, धन-ऐश्वर्य-आदर का नाश आदि का विचार करना। इस प्रकार विचार कर आत्मकल्याण के विरुद्ध कार्यों से बचना। जिन कार्यों या विचारों से दुःखमय संसार की वृद्धि होती है, उन कार्यों और विचारों से हट जाना या रुक जाना ही इस ध्यान का फल है।

जैसे विषय-कषायों का फल इस जन्म में रोग आदि रूप में और भविष्य में नरक या तिर्यंच गति में दुःख रूप में प्रकट होता है - वैसे ही आर्तध्यान और रौद्रध्यान के फलों का विचार करने से भी ऐसे दुर्ध्यानों से बचा जा सकता है, और आस्रवों से भी बचा जा सकता है। मूर्छा से प्रेरित विषय-सेवन किंपाकफल के समान है - जो पहले मीठा लगता है, परंतु बाद में विषाक्त होने से मृत्यु देता है। उसी प्रकार विषयों का सेवन पहले मधुर लगता है, परंतु आगे अनंत जन्म-मरण और अनंत दुःखमय संसार देता है।

(३) विपाकविचय धर्मध्यान - इसका अर्थ है कर्मों के शुभाशुभ फल का विचार करना। जो भी कर्मप्रकृतियाँ हैं, उनके विपाक यानी फल का चिंतन करना। कर्म की प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और रस (बंध के प्रकार) के अनुसार कौन से फल प्राप्त होते हैं, इसका विचार करने से आत्मजागृति बनी रहती है और दुःखमय संसार व आस्रवों से बचा जा सकता है।

(४) संस्थानविचय धर्मध्यान - इसका अर्थ है द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक आदि - इन सबका आत्मलक्ष्य से चिंतन करना।

छः द्रव्यों के नाम, कार्य, लक्षण, व्याप्ति, प्रमाण, उत्पत्ति-व्यय-ध्रौव्य का स्वरूप, सदृश-पर्याय, विसदृश-पर्याय, जीव-अजीव के प्रकार, पुद्गल वर्गणा-स्कंध-प्रदेश-परमाणु, आकाश की अवगाहनशक्ति, पारिणामिक भाव, स्वभावभाव, विभावभाव, संसार का स्वरूप, संसारी जीव और मुक्त जीव - आत्मा है, नित्य है, कर्मों का कर्ता है, कर्मों का भोगता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है, मुक्ति का स्वरूप है, मुक्तात्माओं को वंदन, अरिहंत-केवली-साधु को वंदन, उत्तम मंगल-उत्तम शरण, सात/नव तत्व, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप आदि का आत्मलक्ष्य से चिंतन,

लोक के विभिन्न प्रदेशों में अनंत बार जन्म-मरण और दुःख भोगे हैं – इसका विचार कर यह सोचना कि अब इस दुःखमय यात्रा को कब तक जारी रखना है।

यदि इसका अंत करना हो तो अपने विचारों की दिशा पर काम करना आवश्यक है। विचारों की बाह्य दिशा को मैत्री आदि चार भावनाएँ, अनित्य आदि बारह भावनाएँ, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!), धर्मध्यान आदि के विवेकपूर्ण निर्णयों द्वारा आत्मा की ओर, आत्महित की ओर मोड़ना चाहिये – तभी जीव आस्रवों से बच सकता है।

सम्यग्दर्शन ही संवर की नींव है। इसलिये संवर भावना जीव को यही समझाती है कि इस जन्म में केवल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का ही पुरुषार्थ करना चाहिये। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये अपनी अनादिकालीन वृत्तियों को सही दिशा में मोड़ना आवश्यक है। अनादिकाल से वृत्तियाँ बाहर सुख ढूँढती आई हैं, पर जब यह समझ आता है कि मेरा सुख बाहर नहीं, मेरे भीतर है – तभी जीव अंतरशोधन (आत्म-अवलोकन) प्रारंभ करता है।

अंतरशोधन के लिये अपने भावों का निरीक्षण आवश्यक है, और यदि अपने भाव आत्महितकारी न हों, तो भगवान द्वारा बताए गए मैत्री आदि चार भावनाएँ, अनित्य आदि बारह भावनाएँ, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!), धर्मध्यान आदि के प्रयोग से अपनी वृत्तियों को आत्महित में लगाना चाहिये, और अनादिकाल से चली आ रही चार संज्ञाओं से बचना चाहिये।

जब तक सच्चा संवर नहीं होता, तब तक मोक्षमार्ग पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। और यदि मोक्ष नहीं मिलता, तो जीव स्वयमेव निगोद में चला जाता है, जहाँ वह अनंतकाल तक दुःख भोगता रहता है। इसलिये जिसे दुःख नहीं भाते, उसे शीघ्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का ही उपाय करना चाहिये – यही इस भावना का सार है।

योग्यता के साथ अभ्यासरूप से और पाप से बचने के लिये एकमात्र आत्मप्राप्ति और आत्मरमणता के लक्ष्य से दस प्रकार के धर्म अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिये। उससे पापास्रव कम होगा और संवर का अभ्यास होगा। जैसे कि उत्तम क्षमा से क्रोध कषाय का संवर होगा, उत्तम मार्दव से मान कषाय का संवर होगा, उत्तम आर्जव से माया कषाय का संवर होगा, उत्तम अकिंचन/सन्तोष से लोभ कषाय का संवर होगा, उत्तम शौच-सत्य-संयम-तप-त्याग-ब्रह्मचर्य से हिंसा, झूठ, अविरति, विषयों आदि का संवर होगा। हरएक आस्रव के लिये हमें यह भावना

भानी है कि अब मुझे यह आस्रव कभी न हो यानी उसे सेवन करने का भाव कभी न हो यह संस्कार दृढ़ करने से मेरी संवर भावना सार्थक होती है। संवर ही सत्यधर्म का फल है, जिससे जीव कर्म के बन्ध का निरोध करके मोक्ष प्राप्त करता है; यही इस भावना का भी फल है।

निर्जरा भावना :– सच्ची (कार्यकारी) निर्जरा की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिये उसके लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्ची निर्जरा के लक्ष्य से यथाशक्ति तप करना चाहिये।

निर्जरा दो प्रकार की होती है : १) अकाम निर्जरा और २) सकाम निर्जरा। अकाम निर्जरा हरएक जीव को अनादि से स्वयमेव होती रहती है। सकाम निर्जरा सम्यग्दर्शन सहित जीव को गुणश्रेणीरूप होती है, अन्य को बहुत पुरुषार्थ करने पर भी निर्जरा कम होती है। इसलिये सभी धर्मी जीवों को सर्वप्रथम एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही लक्ष्य रखना चाहिये और उसके लिये पीछे बताये अनुसार योग्यता प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना अति आवश्यक है।

निर्जरा के लिये भगवान ने बारह प्रकार के तप बताए हैं, जो दो प्रकार के हैं।

बाह्य तप: १. अनशन – आहार का त्याग २. उणोदरी – भूख से कम खाना। ३. वृत्तिसंक्षेप – विषय-भोग की वृत्तियों पर समझपूर्वक संयम रखना। ४. रसपरित्याग – प्रिय भोजन का समझपूर्वक त्याग करना। ५. कायक्लेश – समझपूर्वक शरीर की सुख-प्रियता का त्याग ६. संलीनता – मन, वचन और काय को आत्महित में लगाना।

अभ्यंतर तप: १. प्रायश्चित्त – अनुचित कार्य के लिये पश्चात्ताप। २. वैयावृत्य – अन्य साधु या साधकों की सेवा का भाव, उन्हें आत्मस्थिरता कराने का भाव ३. स्वाध्याय – ग्रंथों का वाचन, प्रश्न, पुनर्विचार आदि द्वारा आत्मा की ओर जाने अथवा आत्मस्थिरता प्राप्त करने का पुरुषार्थ ४. विनय – अपने अनादिकालीन निगोदिया रूप भूतकाल को याद करके और सब जीवों को अपने समान समझकर विनयभाव को जीवित रखना ताकि अहंकार उत्पन्न न हो। गुरु, ज्ञानी, गुणी, वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध के प्रति विनय बनाए रखना। ५. ध्यान – आत्म के प्रति शुभ और शुद्ध धर्मध्यान करना। ६. कायोत्सर्ग – शरीर को पर मानना और अपने को आत्मा मानना, आत्मानुभूति का ही प्रयास करना।

ये सभी तप यदि सम्यग्दर्शन सहित हों तो ही गुणश्रेणीवाली निर्जरा का कारण बनते हैं। इसलिये भगवान ने अज्ञानी के तप को बालतप कहा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अज्ञानी को

तप नहीं करना चाहिये, बल्कि अज्ञानी को पहले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करना आवश्यक है और उसमें जो तप सहायक हो, वह तप किसी भी इच्छा या माँग के बिना करना चाहिये।

योग्यता बनाने के लिये आत्मलक्ष्यपूर्वक शास्त्र को आईना समझकर स्वाध्याय करना चाहिये, ताकि अपने में शास्त्र अनुसार जो भी कमी है, उसे दूर किया जा सके। उससे उसका अभिप्राय भी सम्यक् हो सकता है, जिसके बग़ैर आत्मज्ञान सम्भव ही नहीं होता। इसलिये सारा पुरुषार्थ एकमात्र आत्मप्राप्ति हेतु तप, व्रत, बारह भावना, ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव इत्यादि स्वाध्यायरत रहने के लिये करना है ताकि जल्द ही आप निश्चय सम्यग्दर्शन पाकर सच्ची निर्जरा कर पायें। यही इस भावना का हेतु है।

लोकस्वरूप भावना :– प्रथम, लोक का स्वरूप जानना, पश्चात् चिन्तन करना कि मैं अनादि से इस लोक के सभी प्रदेशों में अनन्त बार जन्मा और मरा, अनन्त दु:ख भोगे, अब कब तक यह चालू रखना है? इसके अन्त के लिये सम्यग्दर्शन आवश्यक है; अत: उसकी प्राप्ति का उपाय करना है। दूसरा, लोक में रहे हुए अनन्त सिद्ध भगवान और संख्यात अरिहन्त भगवान और साधु भगवन्तों की वन्दना करना और असंख्यात श्रावक-श्राविकाओं तथा सम्यग्दृष्टि जीवों की अनुमोदना करना, प्रमोद करना है।

अनादि से मैं इस लोक में जन्म-मरण, नरक, तिर्यंच और निगोद के दु:ख सहता आया हूँ, देव और मनुष्य भव में भी मैंने अनादि से कई दु:ख भोगे हैं। जब तक मिथ्यात्व मौजूद है, जीव को भव-भ्रमण करने ही पड़ेंगे और दु:ख झेलने ही पड़ेंगे; इस तरह से लोकस्वरूप भावना का विचार करके हरएक जीव को अपना पूर्ण पुरुषार्थ आत्मप्राप्ति के लिये लगाना चाहिये यही इस भावना का उद्देश्य है।

कई साधकों को यह प्रश्न होता है कि शास्त्रों में जिस प्रकार अढ़ाई द्वीप का वर्णन किया गया है, वैसा तो वर्तमान पृथ्वी का स्वरूप दिखाई नहीं देता, इसलिये वे भ्रमित होते हैं। उन्हें हम कहते हैं कि शास्त्रों में अढ़ाई द्वीप का जो स्वरूप बताया गया है, वह प्रतीकात्मक है – ऐसा समझना चाहिये। इसलिये किसी प्रकार की शंका का स्थान ही नहीं रह जाता।

दूसरे, उस अढ़ाई द्वीप का स्वरूप कैसा है – इसका निर्णय हमारे सम्यग्दर्शन के लिये बाधक कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के लिये स्वतत्त्व – अर्थात जानने-देखने वाले अपने आत्मा का तार्किक निर्णय – और फिर उसकी शुद्धात्मानुभूति आवश्यक है, न कि अढ़ाई द्वीप

का निर्णय। इसलिये पृथ्वी समतल है या गोल – ऐसी चर्चा में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसका निर्णय सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक नहीं है। अतः किसी भी साधक को ऐसे प्रश्नों से भ्रमित होना या शास्त्रों पर शंका करना उचित नहीं है।

लोक के स्वरूप का चिन्तन करना और उसमें स्थित अनन्तानन्त जीवों के भावों का, सिद्धों का, अरिहन्तों का, मुनि भगवन्तों का, श्रावक-श्राविकाओं का, सम्यग्दृष्टियों का, जीवों के प्रकार का, जीवों के दुःखों का, दुःखों से मुक्ति पाने के मार्ग का, नरक-निगोद के स्वरूप का, छह द्रव्यों का, द्रव्य-गुण-पर्याय का, पुद्गलरूपी शरीर इत्यादि का भी चिन्तन करना लोकस्वरूप भावना का उद्देश्य है। जिससे जीव को मुक्ति का मार्ग आसानी से मिल पाये और वह कर्मों से मुक्त होकर सादि-अनन्त काल तक अनन्तानन्त सुख का उपभोग करे; यही इस भावना का फल है।

लोक, कालगणना इत्यादि की जानकारी लेना क्यों आवश्यक है? ऐसा लोग पूछते हैं, उसका उत्तर यह है कि – उस जानकारी से पता चलता है कि लोक कितना बड़ा है और हम अनादि से उस लोक के हर प्रदेश पर अनन्तानन्त बार कैसे जन्म-मरण कर चुके हैं, कैसे-कैसे दुःख सहे हैं और भविष्य में कब तक ऐसे जन्म-मरण करने हैं, दुःख सहने हैं इत्यादि। इससे पता चलता है कि एक आत्मज्ञान नहीं होने से जीव कितना दुःखी होता है और आगे कितना दुःखी हो सकता है; इससे जीव जागृत हो सकता है और प्रमाद से बचकर अपना आत्मकल्याण कर सकता है, यह है फल लोकस्वरूप भावना का। परन्तु किसी भी साधन को जब हम साध्य बना लेते हैं तब हमारी प्रगति रुक जाती है। यह एक बड़ा भयस्थान है। इसी लिये किसी भी साधन का उचित उपयोग करके आगे बढ़ना होता है न कि वहीं पर रुक जाना है अर्थात् उस साधन से लगाव नहीं बनाना है परन्तु अपने साध्य मोक्ष के लिये ही उस साधन (करणानुयोग) का उपयोग करके आगे बढ़ना है; इस प्रकार से लोकस्वरूप भावना का सहारा लेकर अपने को अपनी संसारमुक्ति तय करनी है। यही इस भावना का फल है।

बोधिदुर्लभ भावना :– बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन। अनादि से हमारी भटकन का यदि कोई कारण है तो वह है सम्यग्दर्शन का अभाव; इसलिये समझ में आता है कि सम्यग्दर्शन कितना दुर्लभ है, किसी आचार्य भगवन्त ने तो कहा है कि वर्तमानकाल में सम्यग्दृष्टि अंगुलियों के पोर पर गिने जा सकें, इतने ही होते हैं। बोधि यानी सम्यग्दर्शन कैसे पायें? किस विषय के अनुभव से सम्यग्दर्शन पाया जा सकता है और उसके लिये क्या वैराग्यादि योग्यता होनी चाहिये इत्यादि

के लिये ही यह पुस्तक लिखी गयी है। इस भावना का महत्त्व अपूर्व है। ऐसा समझकर सभी तुरन्त ही सम्यग्दर्शन प्राप्ति का उपाय करें यही इस भावना का फल है।

अनादिकाल से हमने अनेक बार साधु बनकर चारित्र का पालन किया, व्रत किए, तपस्या की – फिर भी जो वस्तु नहीं मिली, वह कितनी दुर्लभ होगी – यह विचारने योग्य बात है। वह दुर्लभ वस्तु सम्यग्दर्शन है, जिसे बोधि भी कहा जाता है।

भगवान ने बताया है कि हमने अनन्तानन्त बार व्रत–नियम–यम–प्रत्याख्यान ग्रहण किये हैं। फिर भी अभी तक हम संसार से मुक्ति नहीं पा सके हैं। तब प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों हुआ? उसका उत्तर एक ही है कि हमने जो भी व्रत–नियम–यम–प्रत्याख्यान ग्रहण किये वे संसार से मुक्ति पाने के लिये नहीं किये या फिर कहने के लिये तो संसार से मुक्ति पाने के लिये ही व्रत–नियम–यम–प्रत्याख्यान ग्रहण किये परन्तु अन्तर में संसार के प्रति रुचि समाप्त नहीं हुई यानी हमें भवबँधन रोगरूप नहीं लगा जिससे सच्चा वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ और सम्यग्दर्शन भी नहीं हुआ। बोधि यानी सम्यग्दर्शन के लिये सच्चा वैराग्य, कषायों की मन्दता और इच्छाओं का नाश आवश्यक है, जिससे मन में बसा हुआ संसार जल जाता है। तब हमारी बहिर्मुखता समाप्त होकर अन्तर्मुखता प्रगट होती है, जिससे हमारी सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता बनती है। ऐसी योग्यता बनाकर हम जल्द से जल्द मोक्षप्राप्ति करें, यही इस भावना का फल है।

धर्मस्वरूप भावना :– वर्तमानकाल में धर्मस्वरूप में बहुत विकृतियाँ प्रवेश कर चुकी हैं, अब सब को सत्यधर्म की शोध और उसका ही चिन्तन करना चाहिये। सारा पुरुषार्थ उसे प्राप्त करने में लगाना है।

अपने आत्मा के साथ का संबंध – अर्थात आत्मानुभूति – यह जीव का सच्चे धर्म के साथ का संबंध है, और संसार के सभी संबंधों में यह सर्वोत्तम संबंध है। धर्म ही जीव का सच्चा सगा, सच्चा सहायक है – जो जीव को भवसागर से पार कराता है।

वर्तमानकाल में जिनशासन में कई सम्प्रदाय हो गये हैं और उनमें भी बँटवारा हो–होकर नये–नये मत–पन्थ–सम्प्रदाय बन रहे हैं। प्राय: ये सभी सम्प्रदाय अपने को सच्चा/अच्छा/सर्वोच्च मानते हैं और बाकी सम्प्रदायों में कमियाँ दिखाते हैं या फिर उनको कपोलकल्पित बताते हैं। इस तरह से दूसरों से जाने–अनजाने में द्वेष भी कराते हैं, जिससे अपना संसार बढ़ता है, दु:ख बढ़ता है।

प्रश्न :- ऐसे पंचमकाल में एक मुमुक्षु जीव को धर्मप्राप्ति के लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर :- सबसे पहले उस मुमुक्षु जीव को भगवान के कथन के ऊपर विश्वास करके अपने कारोबार में से समय निकालना चाहिये क्योंकि धन पुण्य से आता है न कि कारोबार में ज़्यादा समय देने से। इस तरह से समय निकालकर उसे अपने सम्प्रदाय के शास्त्र निष्पक्ष दृष्टि से पढ़ना चाहिये, फिर उसे अन्य सम्प्रदाय के शास्त्रों को भी निष्पक्ष दृष्टि से पढ़ना चाहिये। उस अवलोकन में एक ही दृष्टि रखनी है कि ''जो सच्चा है, वह मेरा है।''

शास्त्र कैसे पढ़ें

उन शास्त्रों से अपनी आत्मा का निर्णय और अनुभव करने के लिये कार्यकारी बातें ग्रहण करनी हैं और अन्य विवादित बातों पर ज़्यादा लक्ष्य नहीं देना है। शास्त्रों को दर्पण केजैसे पढ़ना अर्थात् शास्त्र की अच्छी बातें अगर मुझमें नहीं हों तो तुरन्त ही ग्रहण करना और अगर अपनी कोई बुरी बात लक्ष्य में आये तो तुरन्त ही निकालने की कोशिश करना और अगर निकाल नहीं पायें तब मन (अभिप्राय) से उस बुरी बात को अवश्य निकाल देना ताकि भविष्य में वह अपने आप निकल जायेगी; यही है शास्त्र अभ्यास का तरीक़ा। इस तरह से शास्त्रों की बातों को अपने जीवन में प्रयोग में लायें और आगे बढ़ते जावें तब उसे अपने अन्तर से ही सत्य/असत्य का और उचित/अनुचित की समझ कालक्रम से आती रहेगी और वह खुले मन से आगे बढ़ता रहेगा; मुमुक्षु के लिये कोई भी शास्त्र अछूता नहीं होना चाहिये अर्थात् किसी भी शास्त्र का आग्रह, हठाग्रह, दुराग्रह नहीं होना चाहिये बल्कि सत्य की खोज और आग्रह होना चाहिये। किसी भी शास्त्र या सम्प्रदाय का आग्रह आदि होने से स्वयमेव ही अन्यों के प्रति द्वेष उमड़ना स्वाभाविक हो जाता है और वह द्वेष उस मुमुक्षु को अनन्तानन्तकाल तक संसार में रखता है, क्योंकि वह द्वेष शृंखलारूप होता है इसलिये वह आगे आनेवाले अनेक भवों तक उस मुमुक्षु को दु:खी करने के में सक्षम है। इसी प्रकार वह मुमुक्षु परीक्षा करके आगे बढ़ सकता है। जैसे, अगर कोई भी शास्त्र या सम्प्रदाय या गुरु दूसरों के प्रति रोष रखते हों या द्वेष करते हों या कराते हों, तब यह सोचना कि यह निश्चित बात है कि सत्यधर्म में द्वेष के लिये कोई जगह नहीं होती, वहाँ मात्र करुणा होती है, इसलिये जहाँ द्वेष हो, वहाँ सत्यधर्म नहीं है, यह तय होता है। उस धर्म में कुछ कमी अवश्य है। इस प्रकार से मुमुक्षु का एकमात्र स्वकल्याण का ही लक्ष्य होना चाहिये न कि किसी मत-पन्थ-सम्प्रदाय या व्यक्तिविशेष की पालकी ढोने का या उसका प्रचार-प्रसार-विस्तार

करने का कि जिससे अपने संसार का अन्त हो नहीं पायेगा। मुमुक्षु को उपर्युक्त दर्शाये गये पथ पर प्रयोगात्मक तरीक़े से और खुले मन से आगे बढ़ते रहना चाहिये और अपने विचार-वाणी-वर्तन को बारीक़ी से देखते रहना चाहिये। उसमें क्या बदलाव आ रहा है, यह भी देखते रहना चाहिये। एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से बारह भावना, चार भावना, "धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)" का भाव करके मन में से संसार नाश करना है और यह देखते रहना है कि क्या अपनी इच्छाएँ कम हुईं ? क्या अपने राग-द्वेष कम हुए ? यही धर्मस्वरूप भावना का फल है। हमने इसी प्रकार से सत्य की प्राप्ति और अनुभूति पायी है, इसलिये हम चाहते हैं कि आप भी इसी प्रकार से सत्य की प्राप्ति और अनुभूति करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करें।

सत्यधर्म का स्वरूप क्या है? अर्थात् सत्यधर्म किसे कहते हैं और वह (सम्यग्दर्शन) कैसे पाया जा सकता है और उसके लिये क्या योग्यता होनी चाहिये इत्यादि के लिये ही यह पुस्तक लिखी है; अर्थात् इस भावना का महत्व अपूर्व है ऐसा समझकर जल्द ही सत्यधर्म (सम्यग्दर्शन) का स्वरूप समझकर और उसका अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करें, यही इस भावना का फल है।

उपरोक्त योग्यता के विषय के कुछ सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिन्दु संक्षेप में मनन करने हेतु आगे प्रस्तुत करते हैं -

* मैं यहाँ केवल देने के लिये आया हूँ, वह भी बिना शर्त और बिना किसी अपेक्षा के।
* मेरे साथ जो भी होता है अच्छे के लिये ही होता है।
* मुझे अपना फ़र्ज़ पूर्णरूप से अदा करना है परन्तु अन्यों से ऐसी अपेक्षा नहीं रखनी है।
* मुझे अपने आप को बदलना है। यही एकमात्र धर्म की योग्यता पाने का पुरुषार्थ है। दूसरों को बदलने का प्रयत्न व्यर्थ होता है। दूसरों को, उनके भले के लिये प्रेरणा दे सकते हैं परन्तु दबाव कभी भी नहीं डालना है।
* वर्तमान उदय को अर्थात् संयोग को बदलने का प्रयास न करके, उसको स्वीकार करने में ही समझदारी है, शान्ति है।
* वर्तमान का स्वीकार करके अपना पुरुषार्थ एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु लगाना है। क्योंकि वर्तमान उदय अर्थात् संयोग अपने हाथ की बात नहीं रही परन्तु भविष्य अपने हाथ में है। हम अपने भविष्य को बना सकते हैं इसलिये अपना पुरुषार्थ प्रतिक्रिया

में न लगाकर हमने अपना पुरुषार्थ क्रिया में, अर्थात् भविष्य सँवारने में लगाना चाहिये।

* मुझे सभी संयोग, कर्म (पुण्य/पाप) के अनुसार ही मिलनेवाले हैं और कर्म (पुण्य/पाप) के अनुसार ही टिकनेवाले हैं।
* कोई भी मुझे दुःख देता है उसके लिये दोष मेरे पूर्वकृत पापकर्म का है अर्थात् मेरे पूर्व के दुष्कृत्य का ही दोष है। उस दुष्कृत्य के लिये मन में माफ़ी माँगना है।
* अन्य किसी को दोषी नहीं मानना है। वे मात्र निमित्त हैं।
* दूसरों को अपने पूर्व पापकर्मों से छुड़ानेवाले समझकर उन्हें उपकारी मानना और मन में धन्यवाद देना है, जिससे उनके ऊपर गुस्सा नहीं आयेगा।
* अगर कोई हमारे घर का कचरा साफ़ कर देता है तब हम उसको उपकारी ज़रूर मानते हैं, उसी तरह जब कोई अपनी आत्मा का कचरा (कर्म) साफ़ कर देता है तब उसे भी उपकारी मानना आवश्यक है।
* इस तरह ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' करके आत्मा का फ़ायदा करते रहना है। इससे वह जीव जहाँ भी होगा वहाँ उसको किसी के भी लिये शिकायत नहीं रहेगी।
* No Complaint Zone यानी मुझे कोई शिकायत नहीं रहेगी क्योंकि वर्तमान में मेरे साथ जो भी हो रहा है वह मेरे भूतकाल के कर्मों का ही फल है। इसलिये अगर मुझे किसी के सामने शिकायत करनी भी हो तो वह मैं ख़ुद ही हूँ, अन्य कोई नहीं। तब फिर मैं किस से और क्यों शिकायत करूँ ?
* लोक के सभी जीवों के प्रति अपने भावों को मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य इन चार वर्गों में ही बाँटना है; अन्यथा वह मेरे लिये बन्धन का कारण बनेगा।
* हमारी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि हम सदैव अन्यों को ही बदलकर अपने अनुकूल बनाने में लगे रहते हैं, जिसमें सफलता मिलना अत्यन्त कठिन है।
* स्वयं को बदलना सबसे आसान होने पर भी उसके लिये हम कभी प्रयास तक नहीं करते। स्वयं को धर्म के अनुकूल बदलना सम्यग्दर्शन की योग्यता करने के लिये अनिवार्य है।

* अनादि से हमने जगत के ऊपर अपना हुक्म चलाना चाहा है, जगत को अपने अनुकूल परिवर्तित करना चाहा है। सभी मेरे अनुसार चलें और मेरे कहे अनुसार बदलें, यही चाहा है। परन्तु हमने कभी स्वयं को भगवान के कहे अनुसार परिणमन कराना नहीं चाहा, बल्कि हम अनादि से अपनी मति अनुसार ही परिणमे हैं; यही हमारी स्वच्छन्दता है।
* अनादि से हम प्रशंसाप्रेमी हैं। कोई अगर हमारी निन्दा करता है तब हमें तक़लीफ़ होती है। मगर हमें यह समझना है कि निन्दा-प्रशंसा, सुख-दुःख, रति-अरति, अमीरी-ग़रीबी इत्यादि सभी संयोग कर्मों के अधीन होते हैं; अपने चाहने से या नहीं चाहने से उनमें कोई फ़र्क़ पड़नेवाला नहीं परन्तु हम आर्तध्यान और रौद्रध्यान के भागी अवश्य होंगे।
* अनादि से हमें सत्यधर्म की प्राप्ति अति दुर्लभ बनी हुई है और जब भी कभी हमें सत्यधर्म की प्राप्ति हुई, तब भी हम उसे पहचान नहीं पाये और अगर पहचाना भी तो हम उस पर श्रद्धा नहीं कर पाये।
* अनादि से हम सत्यधर्म के नाम से कोई न कोई सम्प्रदाय, पक्ष, आग्रह या किसी व्यक्ति के प्रति राग में फँसकर रह गये, उसे ही सत्यधर्म मानकर अपना अनन्तकाल गँवाया है और अनन्त दुःख सहे हैं।
* सत्यधर्म पाने के लिये ''सच्चा वही मेरा और अच्छा वही मेरा'' यह भाव रखना आवश्यक है।
* सत्यधर्म पाने के लिये जीव सत्य को स्वीकारने के लिये तत्पर होना चाहिये (ready to accept) और उसके अनुसार जीव अपने आप को बदलने के लिये भी तत्पर होना चाहिये (ready to change) अन्यथा वह सत्यधर्म नहीं पा सकता।
* सत्यधर्म ज्ञानी के अन्तर में बसता है वह बाहर ढूँढ़ने से मिलनेवाला नहीं। सत्यधर्म ज्ञानी के सानिध्य में मिलेगा क्योंकि ज्ञानी ही जीव को आत्मा की पहचान आसानी से करा सकते हैं। इसलिये सत्यधर्म को कोई बाहर के क्रियाकाण्ड अथवा व्रत आदि में न मानकर उसे आगे कहे अनुसार ख़ुद के अन्तर में खोजना है अर्थात् ख़ुद के अन्तर में प्रगट करना है।
* जो मोक्षमार्ग जानता है, वही उसे बता सकता है। क्योंकि मोक्षमार्ग संसार में डूबे हुए जीवों के लिये अति गहन और अगम्य है, परन्तु ज्ञानी के माध्यम से सुलभ है।
* सत्यधर्म की योग्यता प्रकट करने के लिये नीति-न्यायपूर्वक अर्थार्जन, प्राप्ति में सन्तोष,

कम से कम समय अर्थार्जन के लिये देना, अधिक से अधिक समय स्वाध्याय-मनन-चिन्तन आदि में लगाना, सात्विक भोजन, कन्दमूल-अनन्तकाय का त्याग, जीवदया का पालन, रात्रिभोजन का त्याग, अभक्ष्य का त्याग, शरीर को कम से कम सँवारना, सादगीयुक्त जीवन, सुखशीलता का त्याग, अति क्रोध-मान-माया-लोभ का त्याग, पुराने पापों का पश्चात्ताप, बारह भावना का चिन्तन, जीवों के प्रति चार भावना, पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के गुणों के प्रति अहोभाव, सभी जीवों के लिये गुणदृष्टि इत्यादि करना आवश्यक है।

* सत्यधर्म इतना सामर्थ्यवान है कि उसकी सच्ची श्रद्धा होने मात्र से वह जीव स्वयमेव उस धर्म के अनुकूल बदलना शुरु हो जाता है।
* स्वयं को उस धर्म के अनुकूल बदलने से अपने सत्ता में रहे हुए कर्मों के ऊपर अनेक प्रक्रियाएँ होना प्रारम्भ हो जाती हैं। जैसे -पाप प्रकृति का पुण्य प्रकृति में संक्रमण, पुण्य का उदवर्तन, पाप का अपवर्तन इत्यादि। इससे कई बार सूली की सज़ा सुई में बदल जाती है।
* इस तरह से सूली की सज़ा सुई में बदल जाने के बावजूद भी हमें उसका ज्ञान न होने से लोग कभी-कभी ऐसा भी सोचते हैं कि -देखो यह धर्मी जीव होने के बावजूद भी कितना दु:खी है ? मगर उन्हें पता नहीं है कि -सच्चा धर्मीजीव अब अमुक गति में जानेवाला ही नहीं होने से, उस गति के लायक पापकर्मों का संक्रमण होकर अभी उदय में आये हैं, इस कारण से हमें कभी-कभी लगता है कि -यह धर्मी जीव होने के बावजूद भी कितना दु:खी है।
* उस दु:ख के संयोग में भी अगर जीव उपरोक्त ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव लाने का पुरुषार्थ करता है, तब वह जीव दु:ख में भी सुखी रह सकता है। लोगों को लगेगा कि यह जीव बहुत दु:खी है, मगर वह जीव ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' और ''मेरे साथ जो भी होता है, अच्छे के लिये ही होता है'' के माध्यम से समाधानी और समभावी बनकर शान्त और प्रसन्न रहता होगा।
* हमने अनादि से आज तक अनन्तानन्त बार दीक्षा ग्रहण की, अनन्तानन्त बार व्रत-तप आदि किये, अनन्तों बार ध्यान आदि किये, अनन्तों बार हमने ''मैं आत्मा हूँ''

या ''मैं शुद्धात्मा हूँ'' या ''अहं ब्रह्मास्मि'' या ''तत्त्वमसि'' इत्यादि जाप किये या रट्टा लगाया; परन्तु सत् की प्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि जब तक आत्मा योग्यता की प्राप्ति नहीं करती तब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अति दुर्लभ है अर्थात् पहले हमें आत्मा को मोह के ज्वर से बचाना है। इसी लिये भगवान ने कहा है कि कई बार अनेक जीव नौ पूर्व के पाठी होने के बावजूद भी सम्यग्दर्शन नहीं पा सके। उस मोह के बुख़ार को नापने के लिये मानक-मापदण्ड है यह प्रश्न - हमें क्या पसन्द है। इस प्रश्न के उत्तर में जब तक सांसारिक वस्तु या सम्बन्ध या इच्छा या आकांक्षा है, तब तक हमें समझना है कि हमको मोह का बहुत तेज़ बुख़ार है और उस बुख़ार का पीछे कहे अनुसार इलाज करना आवश्यक है।

* हमने अनादि से आज तक अनन्तानन्त बार दीक्षा ग्रहण की, अनन्तानन्त बार व्रत-तप आदि किये, अनन्तों बार ध्यान आदि किये, अनन्तानन्त बार हमने ''मैं आत्मा हूँ'' या ''मैं शुद्धात्मा हूँ'' या ''अहं ब्रह्मास्मि'' या ''तत्त्वमसि'' इत्यादि जाप किये या रट्टा लगाया; परन्तु सत् की प्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि यह सब हठयोग कहलाता है और वास्तव में सत्यधर्म पीछे कहे गये उपचार (राजयोग) से सहज ही प्राप्त होता है, न कि हठयोग से।

* हमने अनादि से धर्म को बाहर ही ढूँढ़ा मगर आत्मा का धर्म, आत्मा के बाहर कैसे हो सकता है ? बाहर से हमको एक मात्र दिशानिर्देश ही मिल सकता है परन्तु वह सम्यक् दिशानिर्देश प्राप्त करने के लिये हमारे पास खुला दिमाग, शास्त्रों का गहन अध्ययन, शास्त्रों से मात्र अपने आत्मकल्याण के लिये कार्यकारी बातें (मुझे अपनी आत्मा के निर्णय और आत्मा की अनुभूति के लिये जो आवश्यक हैं, वे बातें) ही ग्रहण करने का भाव रखना चाहिये परन्तु विवादास्पद बातें ग्रहण न करें। जिसका उत्तर सिर्फ केवली भगवान ही दे सकते हैं ऐसी विवादास्पद बातें ग्रहण न करके वैसी बातों के लिये मध्यस्थभाव रखना और जैसा केवली भगवान ने देखा है, वैसा मुझे मान्य है, ऐसा भाव रखना, ''सच्चा वही मेरा और अच्छा वही मेरा'' ऐसा भाव, सत्य का स्वीकार करने की तत्परता, उसके अनुसार जीव की स्वयं को बदलने की तत्परता इत्यादि होना परम आवश्यक हैं।

* जिन्होंने आत्मा का अनुभव किया है ऐसे सत्पुरुषों का योग और उनके प्रति अपना सर्वभाव समर्पण आवश्यक है। क्योंकि उनके प्रति अपने सर्वभाव समर्पण से उनका दिया गया उपदेश हमारे जीवन में झट से परिणमता है। हमारे जीवन में तुरन्त ही धर्म के अनुकूल बदलाव आता है।
* मेरे साथ कभी अन्याय होता ही नहीं। मेरे साथ जो भी घटित होता है वह निश्चय से मेरे कर्मों का ही फल है इस भावना से अन्याय की बात ही नहीं रहती। बल्कि मेरे साथ जो भी होता है वही मेरे लिये न्यायसंगत है। परन्तु इससे मुझे अन्य किसी के साथ अन्याय करने का परवाना नहीं मिलता, यह समझना परम आवश्यक है।
* आत्मप्राप्ति के लक्ष्य के साथ पीछे कहे अनुसार वैराग्य और उपशम होना अति आवश्यक है।
* सत्पुरुष, सत्संग और सत्शास्त्र का अध्ययन इत्यादि सत्यधर्म पाने के लिये पथप्रदर्शक का काम करते हैं।
* सारे संयोग अनित्य हैं, कोई भी संयोग नित्य अपने साथ रहनेवाले नहीं हैं। इसलिये संयोगों से मेरापना और मैंपन त्यागना अति आवश्यक है।
* वैराग्य यानी अपने मन में बसे संसार का नाश करना। बाहर का संसार हम को उतना बाधाकारक नहीं होता जितना बाधाकारक हमें अपने मन का संसार होता है। इसलिये पहले हमें अपने मन के संसार का नाश बारह भावना-अनुप्रेक्षा से करना है, बाद में बाहर का संसार का नाश क्रमश: अवश्य होगा।
* मन में बसे संसार का कारण दर्शनमोहनीय कर्म है और बाहर के संसार का कारण चारित्रमोहनीय कर्म है। प्रथम दर्शनमोहनीय कर्म जाता है, तब सम्यग्दर्शन (चौथा गुणस्थानक) प्राप्त होता है, और बाद में जब चारित्रमोहनीय कर्म क्रमश: जाता है, तब पाँचवाँ आदि गुणस्थानक प्राप्त होता है अर्थात् बाहर के संसार का नाश क्रमश: होता है।
* संसार के सभी सम्बन्ध स्वार्थ पर आधारित होने से और क्षणिक भी होने से, उन में आसक्ति करने जैसी नहीं है। परन्तु अपना जो भी कर्तव्य है, वह पूरी निष्ठा से निभाना है, उसमें कोई भी कमी नहीं रखनी है।
* शरीर अशुद्धि से भरा हुआ है, उसे कितनी ही बार स्नान कराने पर भी वह तुरन्त ही अशुद्ध

हो जाता है। शरीर में करोड़ों रोग भी भरे हुए हैं, वे कब उदय में आ जायेंगे, पता नहीं। धुले हुए कपड़े को एक बार भी शरीर पर धारण करने से, कपड़े अशुद्धि-युक्त हो जाते हैं। ऐसे शरीर का मोह करने जैसा नहीं है।

* संसार आधि-व्याधि-उपाधि से भरा हुआ है। संसार में कहीं भी सुख नहीं होने पर भी जो सुख प्रतीत होता है, वह सुखाभास मात्र है और वह क्षणिक भी है; मगर वह सच्चा सुख नहीं है। जब तक मोह मन्द नहीं होता, तब तक यह बात समझ में नहीं आती, इसलिये जिसको संसार में सुख भासता हो, उसे पीछे कहे गये उपायों से मोह मन्द करना भी आवश्यक है।

* मनुष्यभव अति दुर्लभ है, उसमें भी पूर्ण इन्द्रियाँ, लम्बी आयु, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, सत्यधर्म, श्रद्धा आदि एक-एक से अति दुर्लभ हैं। इसे पाने के बाद अगर हम उसका सही उपयोग नहीं कर पायें, तब हमें अन्ततोगत्वा एकेन्द्रिय में जाने से कोई बचा नहीं पायेगा। फिर एकेन्द्रिय गति से निकलना चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया गया है।

* Daily Progress यानी दैनिक प्रगति : अगर हम हर दिन आन्तरिक आध्यात्मिक प्रगति कर नहीं पाये तो हमारा आध्यात्मिक पतन निश्चित ही है। क्योंकि अपने भाव स्थिर नहीं रहते। अगर वे उन्नत नहीं हुए, तब वे अवश्य अवनत होंगे।

* जीव के अनन्त संसार में डूबने के प्राय: निम्नलिखित स्थान है :-

  विषय-कषाय, आरम्भ-परिग्रह, अहम्-मम् (मैं-मेरा), कर्तृत्वपना, निमित्ताधीनता, ईर्ष्या-निन्दा-दम्भ आदि, शरीर-धन-काम-भोग आदि, आर्तध्यान-रौद्रध्यान, प्राप्ति में आसक्ति-अप्राप्ति की कामना, तत्त्व का विपरीत निर्णय, इत्यादि। इसलिये इन सबसे बचने का पुरुषार्थ करना अति आवश्यक है।

* हमारे पास अनन्त काल तक रहने के दो ही स्थान हैं-निगोद या मोक्ष। इसलिये अपने पास दो ही विकल्प हैं - अगर हमने सिद्धत्व पाने के लिये सम्यग्दर्शन नहीं पाया तो नियम से दूसरा विकल्प यानी निगोद प्राप्त होगा। निगोद by default यानी बिना किसी यत्न के स्वयमेव मिलता है मगर सिद्धत्व पाने के लिये पीछे बताये गये यत्न अर्थात् आत्मा का पुरुषार्थ करना आवश्यक है। अब तय हमें करना है कि हमें क्या चाहिये।

* इसलिये इस मनुष्य भव के प्रत्येक समय की क़ीमत अमूल्य है क्योंकि एक समय बीत

जाने के बाद वह हमें फिर से, कोई भी क़ीमत चुकाने पर भी, प्राप्त नहीं होता। अर्थात् हमें हर समय का उपयोग विवेकपूर्ण ढंग से करना है और एक पल भी व्यर्थ नहीं गँवाना है।

* मैं, देहरूप नहीं मगर देह देवालय में विराजमान भगवान आत्मा हूँ। मैं ही पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से जानने-देखनेवाला एकमात्र ज्ञायक हूँ। इसलिये जब तक मैं हाज़िर हूँ तब तक ही ये इन्द्रियाँ जानती-देखती हैं, जैसे ही मैं इस शरीर से निकला (अर्थात् मरण हुआ) कि यही इन्द्रियाँ बेकार हो जाती हैं अर्थात् वे बिना आत्मा के कुछ भी जान-देख नहीं पातीं। वस्तुत: आत्मा ही सब कुछ जानती-देखती है न कि इन्द्रियाँ इसी लिये आत्मा को ज्ञायक संज्ञा प्राप्त है अर्थात् ज्ञायक नाम प्राप्त है।

* मैं (आत्मा) सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हूँ। सत् यानी अस्तित्व, अर्थात् मेरा अस्तित्व त्रिकाल है। चित् यानी जानना-देखना, अर्थात् मेरा कार्य त्रिकाल जानने-देखने का है। आनन्द यानी अनन्त अव्याबाध अतीन्द्रिय सुख, अर्थात् मेरा स्वभाव त्रिकाल आनन्दमय है। इतने वैभववान होने के बावजूद भी कई जीव सुखाभास के पीछे पागल दिखते हैं, सुखाभास की भीख माँगते दिखते हैं। यह बड़ी करुणाजनक कहानी है।

* सच्चा सुख उसे कहते हैं जो स्वाधीन हो, शाश्वत् हो, कभी भी उससे ऊबना न हो, दु:ख-मिश्रित न हो, दु:खपूर्वक न हो और दु:खजनक भी न हो। आत्मा ऐसी ही सुखमय है, अन्य जो भी सुख लगते या दिखते हैं, वे सभी सुखाभास मात्र हैं। क्योंकि वे क्षणिक हैं, पराधीन हैं, दु:खपूर्वक हैं और दु:खजनक भी हैं।

* धर्म २४ x ७ का होता है अर्थात् चौबीस घण्टे और हफ़्ते के सातों दिन चले ऐसा धर्म होता है। चार भावना, बारह भावना, अन्य योग्यता के बोल और ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव २४ x ७ सँजोना है। क्योंकि हमारा कर्मबन्ध २४ x ७ चलता रहता है, इसलिए हमें उससे बचने के लिये धर्म भी २४ x ७ चले ऐसा चाहिये। यह नहीं कि एक बार प्रक्षाल, पूजा, प्रवचन, सामायिक, क्रम, स्वाध्याय, ध्यान या प्रतिक्रमण इत्यादि कर लेने से हमारा काम पूरा हो गया।

* इसके लिये हर घण्टे को या दो घण्टे को हमारे मन के परिणाम जाँचते रहना है। परिणाम को उन्नत करते रहना और लगे हुए पापों का प्रायश्चित्त, निन्दा, गर्हा आदि करना है; फिर से ऐसे परिणाम न हों, उसका ख़याल रखना है।

* जब भी समय मिले नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते रहना और हमें भी भगवान बनना है, इस बात का स्मरण रखना।
* निरन्तर सत्संग की इच्छा करना, अन्तर्मुखी रहना और ख़ुद के दोष देखते रहना, उसे मिटाने का पुरुषार्थ करते रहना इत्यादि एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्यपूर्वक करना आवश्यक है। विद्वज्जनों के लिये भी मोह को जीतना महादुष्कर होता है क्योंकि कोरी विद्वत्ता मोह को परास्त करने के लिये कार्यकारी नहीं होती।
* मोह को पराभूत करने के लिये जितना वैराग्य और पीछे कही हुई अन्य योग्यतायें आवश्यक हैं उतनी विद्वत्ता की आवश्यकता नहीं है। उल्टा कभी-कभी विद्वत्ता कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) को जन्म या बढ़ावा देनेवाली बन जाती है। इसलिये सदैव सावधान रहना आवश्यक है।

❑ समयसार ग्रन्थ में आत्मा को पुद्गल कर्मों से, कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के भावकर्मों से और नोकर्मों से भिन्न बताया है क्योंकि वही जीव आत्मानुभूति का विषय है। पुद्गल कर्म और नोकर्म तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं परन्तु कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के रागादिभाव जीव में ही होते हैं। चूँकि वे रागादिभाव जीव के त्रिकालभाव नहीं हैं और आत्मानुभूति का विषय तो जीव का त्रिकालभाव ही होता है इसलिये उन भावकर्मों को उस अपेक्षा से जीव के नहीं हैं ऐसा बताया है। इसलिये यह बात ज्ञानी की अपेक्षा से कही गयी है। यदि अज्ञानी इस बात का अनुभव न होने पर भी शब्दों से कहने लगता है और मानने लगता है तो यह उसका महामिथ्यात्व होगा, यह समझना परम आवश्यक है।

❑ समयसार ग्रन्थ में एकत्व-विभक्त आत्मा की बात की गयी है। यानी वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मा से एकत्व यानी मैंपन तथा पुद्गलकर्मों से और उन कर्मों के कारण होनेवाले अपने भावों से विभक्त यानी अन्यत्व यानी भेदज्ञान करना है। ऐसा करते ही योग्यताप्राप्त जीवों को आत्मानुभूति होती है। परन्तु बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा कई बार भी करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

२५

शुभोपयोग निर्जरा का कारण नहीं

पंचाध्यायी उत्तरार्ध के श्लोक–

श्लोक ७६२ : अन्वयार्थ :- 'बुद्धि की मन्दता से ऐसी भी आशंका नहीं करना कि शुभोपयोग, एकदेश से भी निर्जरा का कारण होता है क्योंकि शुभ उपयोग, अशुभ को लानेवाला होने से (मतलब जो शुभ उपयोग में धर्म समझते हैं और शुभ उपयोग से निर्जरा भी मानते हैं ऐसा एक वर्ग है, उन्हें यहाँ समझाया है कि स्वात्मानुभूतिरूपी निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना शुभ उपयोग नियम से आत्मा में अल्प शुभ के साथ-साथ मोहनीयादि घातिकर्मों का आस्रव भी कराता है और वह मोहनीयादि घातिकर्म नियम से जीव को दु:ख के करनेवाले हैं, अशुभ को लानेवाले हैं यानी शुभ उपयोग जीव को संसार से मुक्त नहीं कराता ऐसा समझाना है। परन्तु यहाँ शुभ उपयोग का निषेध नहीं समझना, नहीं तो लोग स्वच्छन्दता से अशुभ ही आचरण करेंगे; यहाँ उद्देश्य शुभ छुड़ाकर अशुभ में ले जाने का नहीं परन्तु निर्जरा मात्र शुद्ध उपयोग से ही होती है ऐसा बताना है और इसी लिये बताया है कि शुभ उपयोग) निर्जरा का हेतु नहीं हो सकता तथा न तो वह शुभ भी कहा जा सकता है।'

इसलिये शुभ उपयोग से निर्जरा नहीं समझना और इस गाथा से शुभ का निषेध भी नहीं समझना। शुभ उपयोग वह शुद्ध उपयोग का (निर्जरा का) कारण नहीं परन्तु वह शुभ उपयोग शुभ भावों का (वीतराग देव-गुरु-शास्त्र के संयोग का) कारण अवश्य है, इसलिये एकमात्र आत्मा के लक्ष्य से यानी आत्मा की प्राप्ति के लिये (सम्यग्दर्शन के लिये) जो योग्यतारूपी शुभ उपयोग है, वह अपेक्षा से आचरण करने योग्य है, क्योंकि जीव को अशुभ उपयोग में रहने का उपदेश तो कोई भी शास्त्र नहीं देते और इसी लिये पुण्य (शुभ) को हेय समझकर स्वच्छन्दता से कोई अशुभ उपयोगरूप परिणमता हो तो वह अपने अनन्त संसार को बढ़ाने का ही उपाय कर रहा है ऐसा समझना।

यहाँ शुभ उपयोग को निर्जरा का कारण नहीं माना है, क्योंकि गुणश्रेणी निर्जरा का एकमात्र कारण शुद्धोपयोग ही है, इस अपेक्षा से शुभ उपयोग (पुण्य) हेय है परन्तु कोई स्वच्छन्दता से अन्यथा समझकर यदि पुण्य को हेय कहकर पापरूप परिणमेगा तो ऐसा तो किसी भी आचार्य भगवन्तों का उपदेश नहीं है और ऐसी अपेक्षा भी नहीं है। **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** श्लोक १४८ में भी बताया है कि 'पाप जीव का शत्रु है और धर्म जीव का मित्र है, ऐसा निश्चय करता हुआ श्रावक यदि शास्त्र को जानता है, तो वह निश्चय से श्रेष्ठ ज्ञाता अथवा कल्याण का ज्ञाता

होता है।' और **आत्मानुशासन** गाथा ८ में भी बताया है कि 'पाप से दु:ख और धर्म से सुख यह बात लौकिक में भी जगतप्रसिद्ध है और सभी समझदार मनुष्य भी ऐसा ही मानते हैं तो जो सुख के अर्थी हों, उन्हें पाप छोड़कर निरन्तर धर्म अंगीकार करना चाहिये।'

इसलिये नियम से एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभ में ही रहना योग्य है ऐसा हमारा अभिप्राय है जैसा कि **इष्टोपदेश** श्लोक ३ में कहा है कि 'व्रतों द्वारा देव पद प्राप्त करना अच्छा है परन्तु अरे! अव्रतों द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नहीं। जैसे छाया और धूप में बैठकर राह देखनेवाले दोनों (पुरुषों) में बड़ा अन्तर है, वैसे (व्रत और अव्रत का आचरण करनेवाले दोनों पुरुषों में बड़ा अन्तर है)।'

आगे **आत्मानुशासन** गाथा २३९ की टीका में भी पण्डित श्री टोडरमलजी बताते हैं कि 'निश्चयदृष्टि से देखने पर एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है। शुभाशुभ सर्वविकल्प त्याज्य हैं तथापि ऐसी तथारूपदशासम्पन्नता प्राप्त न हो तब तक उसी दशा की (शुद्धोपयोगरूपी दशा की) प्राप्ति के लक्ष्यपूर्वक प्रशस्त योग (शुभ उपयोगरूपी) प्रवृत्ति उपादेय है अर्थात् शुभ वचन, शुभ अन्त:करण, और शुभ काया परिस्थिति आदरणीय है-प्रशंसनीय है परन्तु वह मोक्षमार्ग का साक्षात् कारण नहीं तथापि शुद्धोपयोग के प्रति वृत्ति का प्रवाह कुछ अंश में लक्षित हुआ है, ऐसे लक्ष्यवान जीवों को परम्परा से कारणरूप होता है।' और **आत्मानुशासन** गाथा २४० में भी बताया है कि 'प्रथम अशुभोपयोग छूटे तो उसके अभाव से पाप और तज्जनित प्रतिकूल व्याकुलतारूप दु:ख स्वयमेव दूर होता है और अनुक्रम से शुभ के भी छूटने से पुण्य, तथा तज्जनित अनुकूल व्याकुलता-जिसे संसार परिणामी जीव सुख कहते हैं, उसका भी अभाव होता है...' इसलिये कोई स्वच्छन्दता से अशुभ उपयोगरूप न परिणमे ऐसा हमारा अनुरोध है क्योंकि ऐसा करने से तो उसका भव भ्रमण बढ़ जाएगा।

❒ समयसार ग्रन्थ में मुख्यत: ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है। इसलिये कहा है कि उसमें पहले से छठवें गुणस्थान तक होनेवाले प्रमत्तभाव, और सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक होनेवाले अप्रमत्तभाव भी नहीं हैं। कई लोग उसे पर्यायरहित द्रव्य भी कहते हैं। परन्तु समझने की बात यह है कि द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से वस्तु अभेद होने के कारण से उसमें से पर्याय को निकालना शक्य ही नहीं है। पर्याय तो गौण होती है।

२६

सम्यग्दर्शन बिना द्रव्य चारित्र

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ७६९ : अन्वयार्थ :– 'और जो द्रव्यचारित्र और श्रुतज्ञान है, वह यदि सम्यग्दर्शन के बिना होते हैं तो वह न ज्ञान है न चारित्र है। यदि है तो केवल कर्मबन्ध करनेवाला है।'

अर्थात् यहाँ प्रथम बताये अनुसार कोई अपने को द्रव्य चारित्र से ही अथवा क्षयोपशम ज्ञान से ही हम मोक्षमार्ग में हैं ऐसा समझते हों और लोगों को ऐसा समझाते हों तो उनके लिये यह श्लोक लाल बत्ती समान है। किसी को भी अभ्यासरूपी द्रव्यचारित्र लेने की कुछ भी मनाही नहीं है परन्तु उससे यदि कोई अपने को कृतकृत्य समझते हों अथवा समझाते हों और स्वयं को छठवें अथवा सातवें गुणस्थानक स्थित मानते हों अथवा मनवाते हों और श्रावक अपने को पाँचवें गुणस्थानक में स्थित समझते हों अथवा समझाते हों तो उनके लिये यह श्लोक लाल बत्ती समान यानी सावधान करने के लिये है। इसलिये यदि कोई ऐसा न समझकर, अपने को मात्र आत्म के लक्ष्य से यानी आत्मप्राप्ति के लिये अभ्यासरूपी चारित्र मानते, समझते हों और उसके लिये ही श्रुत ज्ञान आराधते हों तो वे कर्मबन्ध के कारण से आंशिकरूप से बच सकते हैं और पूर्व में बताये अनुसार अपना कल्याण भी कर सकते हैं।

- जब कोई जीव बिना आत्मानुभूति के स्वयं को कृत्रिमता से ज्ञाता–द्रष्टा मानता है या कृत्रिमता से ज्ञाता–द्रष्टा होने का ध्यान करता है तब वह जीव पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि कहलाता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि को केवल पर्याय का ही अनुभव होता है, द्रव्य का अनुभव नहीं होता। वास्तव में यदि वह अज्ञानी अध्यात्ममार्ग में प्रगति करना चाहता है तो उसे अपने वर्तमान परिणमन के प्रति उदासीन न रहते हुए उसे सत्यधर्म के अनुकूल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। उदाहरणार्थ, जब हमें बुख़ार आता है तब हम उस स्थिति में सिर्फ़ ज्ञाता–द्रष्टा नहीं रहते बल्कि हम उसका इलाज करते हैं। वैसे ही अज्ञानी को भी अपनी पर्याय के प्रति उदासीन न रहते हुए उसका अध्यात्ममार्ग के अनुकूल यथार्थ इलाज करना चाहिये।

२७

स्वपर विषय का उपयोग करनेवाला भी आत्मज्ञानी होता है

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ८४५ : अन्वयार्थ :– 'उस क्षायोपशमिक ज्ञान का विकल्पपना (परपदार्थ को जानने रूप उपयोग) ज्ञान चेतना का बाधक कारण नहीं हो सकता (यानी यदि कोई ऐसा मानते हों कि जीव पर को जानता है, ऐसा मानने से मिथ्यात्वी हो जाते हैं अथवा जीव पर को जानता है ऐसा मानने से सम्यग्दर्शन को बाधा होती है, सम्यग्दर्शन नहीं होता। तो यहाँ समझाते हैं कि ज्ञान का पर को जानना सम्यग्दर्शन के लिये बाधक कारण नहीं है) क्योंकि जिस गुण की जो पर्याय होती है, वह कथंचित् तद्रूप (उस गुणरूप) ही होती है इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञान का विकल्प ज्ञानचेतनारूप शुद्ध ज्ञान का शत्रु नहीं है।'

इसलिये जब ज्ञान पर को जानता है तब वह ज्ञानगुण स्वयं ही उस आकार का होने पर भी अपना स्वत:सिद्ध ध्रुवरूप ज्ञानत्व नहीं छोड़ता और इसलिये ही उस पर को जाननेरूप ज्ञान गुण का परिणमन ज्ञानसामान्यरूपी ज्ञानचेतना का (शुद्धज्ञान का) शत्रु नहीं, बाधक नहीं, ऐसा समझकर ऐसा डर हो तो वह डर अवश्य निकाल देना जरूरी है। यही बात आगे दृढ़ कराते हैं–

श्लोक ८५८ : अन्वयार्थ :– 'ज्ञानोपयोग के स्वभाव की महिमा ही कोई ऐसी है कि वह (ज्ञानोपयोग) प्रदीप की भाँति स्व तथा पर दोनों के आकार का एक साथ प्रकाशक है।' इस श्लोक में ज्ञान का स्व–पर प्रकाशक स्वभाव दर्शाया है और उसे ही ज्ञान की महिमा कहा है।

श्लोक ८६० : अन्वयार्थ :– 'जो स्वात्मोपयोगी ही है, वही नियम से उपयुक्त है ऐसा नहीं (जो मात्र स्व उपयोगी है, वही सम्यग्दृष्टि है ऐसा नहीं) तथा जो परपदार्थोपयोगी है, वही निश्चय से उपयुक्त है ऐसा नहीं (जो मात्र पर को जानता है वही सम्यग्दृष्टि है, ऐसा भी नहीं) परन्तु उभय (दोनों) विषय को जाननेवाला ही उपयुक्त अर्थात् उपयोग करनेवाला होता है–ऐसा नियम है, इस प्रकार क्रिया का अध्याहार – ऊहापोह करना चाहिये।' यानी सम्यग्ज्ञान स्व–पर के ज्ञान और विवेकसहित ही होता है, अन्यथा नहीं।

भावार्थ :– 'मात्र स्व–विषय का या मात्र पर विषय का ही उपयोग करनेवाला कोई उपयोग वाला होता है ऐसा नहीं, परन्तु स्व–पर विषय का उपयोग करनेवाला ही आत्मज्ञानी होता है।'

इसलिये जीव पर को जानता है, ऐसा मानने से मिथ्यात्वी हो जाते हैं अथवा जीव पर को जानता है ऐसा मानने से सम्यग्दर्शन को बाधा आती है, सम्यग्दर्शन नहीं होता ऐसा कोई डर हो तो छोड़ देना। उल्टा ज्ञान (आत्मा) पर को जानता है ऐसा कहने-मानने में कुछ भी दिक्कत नहीं क्योंकि वही ज्ञान की पहचान है। अन्यथा तो वह ज्ञान ही नहीं है।

श्लोक ८७७ : अन्वयार्थ :- 'रागादि भावों के साथ बन्ध की व्याप्ति है परन्तु ज्ञान के विकल्पों के साथ बन्ध की व्याप्ति नहीं (यानी आत्मा पर को जाने तो उससे कुछ बन्ध ही नहीं, मात्र वह = आत्मा उसमें राग-द्वेष करे, उससे ही बन्ध होता है, और इसलिये मात्र पर का जानना अथवा जानने में आना, उसमें बन्ध की व्याप्ति नहीं है।) अर्थात् ज्ञानविकल्पों के साथ इस बन्ध की अव्याप्ति ही है परन्तु रागादिकों के साथ जैसी बन्ध की व्याप्ति है, वैसी ज्ञानविकल्पों के साथ व्याप्ति नहीं।'

इसलिये आत्मा वास्तव में अपने ज्ञान में रचित आकारों को ही जानती है पर को नहीं जानती (आँख की पुतली की तरह) ऐसी ज्ञान की व्यवस्था होने पर भी, अर्थात् आत्मा पर सम्बन्धी के अपने ज्ञेयाकारों को ही जानती है और वैसा पर का जानना किसी भी प्रकार से सम्यग्दर्शन में बाधक नहीं है तथा वैसा पर का जानना किसी भी प्रकार से बन्ध का कारण नहीं है; अपितु वह अपेक्षा से स्व में जाने की सीढ़ी अवश्य है कि जो बात पूर्व में हमने विस्तार से समझायी है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रकट से ही अप्रकट में जाया जाता है। व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है यही नियम है।

- समयसार ग्रन्थ में कहा है कि हमने अनादि से बन्धकथा कई बार सुनी है और सुनायी भी है परन्तु आत्मा के भेदज्ञान की कथा कभी नहीं सुनी। या तो उसका विचार ही नहीं किया या फिर उसका उल्टा ही विचार किया। अर्थात तत्त्व के विचार में विपरीतता ही रही है। जैसे कि किसी ने अपनी आत्मा को एकान्त से शुद्ध ग्रहण किया है और किसी ने अपनी आत्मा को एकान्त से अशुद्ध ग्रहण किया। वास्तव में आत्मा पर्यायदृष्टि से अशुद्ध है और द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है। बिना अपेक्षा समझे न तो समयसार ग्रन्थ समझ में आयेगा और न ही आत्मकल्याण हो पायेगा। यही अपनी अनादि की कहानी है।

२८

प्रवचनसार में सम्यग्दर्शन का विषय

गाथा ३३ : टीका :- 'जैसे भगवान, युगपत् परिणमते समस्त चैतन्य विशेषोंवाले केवल ज्ञान द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतक स्वभाव द्वारा एकपना होने से जो केवल (अकेला, अमिश्रित, शुद्ध, अखण्ड) है...'

ऐसा है सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) और वह चैतन्य सामान्य होने से यानी उसमें सर्व विशेषभावों का अभाव होने से ही शुद्धात्मा को = दृष्टि के विषय को अलिंगग्राह्य कहा है। इसी अपेक्षा से अलिंगग्रहण के बोल समझना आवश्यक है, अन्यथा नहीं। एकान्त से नहीं क्योंकि एकान्त तो अनन्त परावर्तन का कारण होने में सक्षम है।

गाथा ८० : भावार्थ :- ''अरिहन्त भगवान और अपनी आत्मा निश्चय से समान हैं; और अरिहन्त भगवान मोह-राग-द्वेषरहित होने के कारण उनका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिये यदि जीव द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से उन (अरिहन्त भगवान के) स्वरूप को मन द्वारा प्रथम समझ ले तो 'यह जो 'आत्मा' 'आत्मा' ऐसा एकरूप (कथंचित् सदृश) त्रैकालिक प्रवाह वह द्रव्य है, उसका जो एकरूप रहनेवाला चैतन्यरूपी विशेषण वह गुण है, और उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक है, वह पर्याय है।' ऐसे अपनी आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से उसे मन द्वारा ख़याल में आती है। इस प्रकार त्रैकालिक निजात्मा को मन द्वारा ख़याल में लेकर पश्चात्-जैसे मोतियों को और सफ़ेदी को हार में ही अन्तर्गत करके केवल हार को जानने में आता है, वैसे-आत्मपर्यायों को और चैतन्य गुण को आत्मा में ही अन्तरगर्भित करके (सम्यग्दर्शन का विषय) केवल आत्मा को जानने पर परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट होता जाने से जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को (शुद्धोपयोग) प्राप्त करता है और इससे मोह (दर्शन मोह) निराश्रय होता हुआ विनाश को प्राप्त होता है।

यदि ऐसा है, तो मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय मैंने प्राप्त किया है''-ऐसा कहा, यानी सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है।

श्लोक ७ :- 'जिसने अन्य द्रव्य से भिन्नता द्वारा (प्रथम भेदज्ञान) आत्मा को एक ओर हटा लिया है (आत्मा को परद्रव्य से अलग दिखाया है) तथा जिसने समस्त विशेषों के समूह को सामान्य में मग्न किया है (द्वितीय भेदज्ञान) (यानी समस्त पर्यायों को द्रव्य के भीतर डूबा हुआ दिखाया है) - ऐसा जो यह उद्धत मोह की लक्ष्मी को (ऋद्धि को, शोभा को) लूट लेनेवाला

शुद्ध नय (शुद्धोपयोग, यानी सम्यग्दर्शन = स्वात्मानुभूति) उसने उत्कट विवेक द्वारा तत्त्व को (आत्म स्वरूप) को विविक्त (प्रगट) किया है।' यानी सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है।

गाथा २४० : टीका :- 'जो पुरुष अनेकान्त केतन (अनेकान्तयुक्त) आगमज्ञान के बल से, सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिश्रित होता हुआ विशद एक ज्ञान (ज्ञेयाकार यानी ज्ञानाकार जो कि ज्ञान के ही बने हुए होने से उन आकारों को गौण होते ही ज्ञानसामान्य मात्र 'शुद्धात्मा' जो कि सम्यग्दर्शन का विषय है, वही प्राप्त होता है।) जिसका आकार है, ऐसी आत्मा को ('शुद्धात्मा' को आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित) श्रद्धान और अनुभव करता हुआ (यानी श्रद्धा और अनुभव का विषय एक ही है), आत्मा में ही नित्य निश्चल वृत्ति को इच्छता हुआ....' यहाँ आत्मा की वैराग्यादि योग्यताएँ होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की विधि बतायी है।

- प्रश्न: आप यह क्यों कह रहे हैं कि साधक को सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या समझ में आ जाये उतनी ही आत्मस्वरूप की जानकारी आवश्यक है?
  उत्तर: क्योंकि 'मैं शुद्धात्मा हूँ', 'मैं परम अकर्ता हूँ' इस प्रकार की स्वरूप की बौद्धिक जानकारी के बिना तो साधक को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है परन्तु बिना आवश्यक वैराग्यादि योग्यता के कभी भी नहीं होता। यह बात एकदम पक्की है कि अधिकारीपन (पात्रता) पाये बिना कभी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता क्योंकि सम्यग्दर्शन बहिरात्मभाव में कभी नहीं होता, उसके लिये आत्मसन्मुखता (पर–विमुखता) प्राप्त करना परम आवश्यक है।
- प्रश्न – नौ तत्त्वों में छिपी ज्ञानज्योति से भेदज्ञान कर उसका अनुभव कैसे किया जा सकता है?
  उत्तर – जीव, अजीव (कर्म–नोकर्मादि), आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नौ तत्त्वों को गौण करते ही यानी उनसे अपना लक्ष्य हटाकर वैराग्यादि योग्यता सहित ज्ञान में अहं भाव–एकत्व स्थापित होते ही जानने–देखनेवाली आत्मा यानी ज्ञान की ज्योति यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है, यही समकित है, यही आत्मसाक्षात्कार है।

२९

नियमसार की टीका में सम्यग्दर्शन का विषय

अब हम नियमसार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव कृत टीका से जानेंगे कि सम्यग्दर्शन (दृष्टि) का विषय क्या है और सम्यग्दृष्टि किसका वेदन करता है? वह किन भावों में रत होता है? इत्यादि

श्लोक २२ :- 'सहज ज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व है ऐसा शुद्ध चैतन्यमय अपनी आत्मा को जानकर (शुद्धद्रव्यार्थिक नय से अपने को शुद्धात्मा जानकर) मैं यह निर्विकल्प हूँ' यानी शुद्ध चैतन्यमय आत्मा, वही सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है क्योंकि आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उसे भाते ही जीव निर्विकल्प होता है।

श्लोक २३ :- 'दृशि ज्ञप्ति वृत्ति स्वरूप (दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित) ऐसा जो एक ही चैतन्य-सामान्यरूप (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय सामान्य जीव-शुद्धात्मा-परमपारिणामिकभाव) निजात्मतत्त्व, वह मोक्षेच्छुकों का (मोक्ष का) प्रसिद्ध मार्ग है; इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है।' यह सामान्यजीव जिसे सहज परिणामी अथवा तो परमपारिणामिकभाव भी कहा जाता है, वही दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उससे ही सम्यग्दर्शन होने पर उसे ही प्रसिद्ध मोक्ष का मार्ग कहा क्योंकि सम्यग्दर्शन से ही उस मार्ग में प्रवेश है।

श्लोक २४ :- 'परभाव होने पर भी (विभावरूप औदयिक भाव होने पर भी, उन औदयिक भाव को शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परभाव बताया है क्योंकि वे कर्मों यानी पर की अपेक्षा से = निमित्त से होते हैं), सहज गुणमणि की खानरूप और पूर्ण ज्ञानवाली शुद्धात्मा (परमपारिणामिक-भावरूपी शुद्धात्मा) को एक को जो (भेदज्ञान को करके) तीक्ष्ण बुद्धिवाली शुद्धदृष्टि (शुद्ध द्रव्यार्थिक चक्षु से) पुरुष भजता है (उस शुद्धभाव में 'मैंपन' करता है), वह पुरुष मुक्ति को प्राप्त करता है' यानी आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित जीव शुद्धात्मा में एकत्व करके सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से मोक्षमार्ग में प्रवेश पाकर अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त करता है।

श्लोक २५ :- 'इस प्रकार पर-गुण पर्यायें होने पर भी (आत्मा औदयिकभाव रूप से परिणमता होने पर भी, यानी आत्मा अशुद्धरूप से परिणमा होने पर भी) उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में (मन में) कारण आत्मा विराजमान है (परमपारिणामिकभावरूपी कारण परमात्मा विराजता है-लक्ष्य में रहता है)। अपने से उत्पन्न ऐसे उस परमब्रह्मस्वरूप समयसार को-कि जिसे तू भज रहा है (यानी जिसमें तू 'मैंपन' कर रहा है) उसे, हे भव्य शार्दूल! (भव्योत्तम) तू शीघ्र भज (मात्र उसी में उपयोग रख), तू वही है।' आचार्य भगवन्त कहते हैं कि 'तू वही है' अर्थात् तू मात्र उसमें ही 'मैंपन' (एकत्व) कर, कि जो सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है और उसका ही

अनुभव होने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, इसलिये कहते हैं कि तू वही है, यही आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन की विधि है।

श्लोक २६ :- 'जीवत्व क्वचित् सद्गुणों सहित विलसता है-दिखायी देता है, क्वचित् अशुद्धरूप गुणों सहित विलसता है (अर्थात् कोई जीव प्रगट गुणों सहित जानने में आता है और किसी के गुण अशुद्धरूप से परिणमित होने से वह अशुद्ध भासित होता है), क्वचित् सहज पर्यायों सहित विलसता है (अर्थात् कोई कार्य समयसाररूप परिणमित हुआ होता है) और क्वचित् अशुद्ध पर्यायों सहित विलसता है (अर्थात् कोई जीव संसार में अशुद्ध पर्यायों सहित परिणमित हुए ज्ञात होते हैं)। इन सबसे सहित होने पर भी (अर्थात् कोई प्रकट भाव शुद्धरूप से है अथवा कोई प्रकट भाव अशुद्धरूप होने पर भी) जो इन सबसे रहित है (अर्थात् जो शुद्ध, अशुद्धभावोंरूप बताये हुए समस्त विशेषभावों से रहित है अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावों से रहित है) ऐसे इस जीवत्व को (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूपी परिणमते शुद्धात्मरूपी कारण समयसार को-कारणशुद्धपर्याय को) में सकल अर्थ की सिद्धि के लिये सदा नमता हूँ, भाता हूँ।' क्योंकि वह सम्यग्दर्शन (दृष्टि) का विषय है और इसी लिये उस भाव में ही आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित 'मैंपन' होते ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है कि जिससे मोक्षयात्रा का प्रारम्भ होता है और काल से मोक्ष होते ही सकल अर्थ की सिद्धि होती है, ऐसा भाव इस गाथा में व्यक्त किया है।

श्लोक ३० :- 'सकल मोहरागद्वेषवाला जो कोई पुरुष परमगुरु के चरणकमलयुगल की सेवा के प्रसाद से (अर्थात् परमगुरु से तत्त्व समझकर)-निर्विकल्प सहज समयसार को (परम पारिणामिकभावरूपी कारण समयसार को) जानता है, वह पुरुष परमश्री रूपी सुन्दरी का प्रियकान्त होता है।' अर्थात् इस काल में इस निर्विकल्प सहज समयसार को जाननेवालों को परमगुरु कहा है, क्योंकि इस काल में सम्यग्दर्शनयुक्त जीव बहुत ही अल्प होते हैं और ऐसे परमगुरु के कहे अनुसार निर्विकल्प सहज समयसार को जो जानता है अर्थात् अनुभव करता है, वह सम्यग्दर्शनयुक्त होकर नियम से मुक्त होता है।

श्लोक ३४ :- '(हमारे आत्म स्वभाव में) विभाव असत् होने से (अर्थात् अभी भले हमारे आत्मा में औदयिकभावरूप विभाव हो, परन्तु वह क्षणिक है, वह तीनों काल रहनेवाला नहीं है। इसलिये असत् है) उसकी हमें चिन्ता नहीं है, हम तो हृदयकमल में स्थित (अर्थात् मन में जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषयरूप सहज समयसाररूपी मेरा स्वरूप है, उसमें स्थित), सर्वकर्म से विमुक्त, शुद्ध आत्मा का एक का सतत अनुभव करते हैं, क्योंकि अन्य किसी प्रकार से मुक्ति नहीं है, नहीं है, नहीं ही है।' अर्थात् अन्य कोई भाव उपादेय नहीं, अन्य कोई भाव भजने योग्य नहीं; एकमात्र

शुद्धात्मा को भजते ही, अनुभव करते ही और उसीमें स्थिरता करते ही, मुक्ति सहज ही है। अन्य किसी प्रकार से नहीं, नहीं, नहीं है (वज़न देने के लिये तीन बार 'नहीं है' कहा है।)

गाथा १९ : अन्वयार्थ :- 'द्रव्यार्थिक नय से जीव पूर्वकथित पर्यायों से व्यतिरिक्त (रहित) है; पर्याय नय से जीव उस पर्याय से संयुक्त है, इस प्रकार जीव दोनों नयों से संयुक्त है।' अर्थात् एक ही संसारी जीव को देखने के = अनुभव करने के दृष्टिभेद से भेद है, उस जीव में कोई भाग शुद्ध अथवा कोई भाग अशुद्ध - ऐसा नहीं है परन्तु अपेक्षा से अर्थात् शुद्धद्रव्यदृष्टि से अथवा पर्यायदृष्टि से वही जीव अनुक्रम से शुद्ध अथवा अशुद्ध भासित होता है। इसलिये यदि कुछ करना हो तो, वह मात्र दृष्टि बदलनी है, अन्य कुछ नहीं।

श्लोक ३६ :- 'जो दो नयों के सम्बन्ध का उल्लंघन न करते हुए (अर्थात् कोई भी बात अपेक्षा से समझनेवाले अर्थात् एकान्त से शुद्ध अथवा एकान्त से अशुद्ध कहनेवाले-माननेवाले, वे दोनों मिथ्यात्वी हैं जबकि अपेक्षा से शुद्ध और अपेक्षा से अशुद्ध माननेवाले-कहनेवाले नयों के सम्बन्ध को नहीं लाँघते हुए जीव समझना) परम जिन के चरणों में अनुरक्त हुए भ्रमर समान है (अर्थात् ऐसे जीव परमजिनरूपी ऐसे अपने शुद्धात्मा में-परमपारिणामिकभाव में-कारणसमयसार में-कारणशुद्धपर्याय में मत्त हैं) ऐसे जो सत्पुरुष हैं वे शीघ्र ही समयसार को (कार्य समयसार को) अवश्य प्राप्त करते हैं। पृथ्वी पर मत के कथन से सज्जनों को क्या काम है ? (अर्थात् जगत के जैनेतर दर्शनों के मिथ्या कथनों से सज्जनों को क्या लाभ है?)' अर्थात् जो कोई दर्शन इस शुद्धात्मरूपी कारणसमयसार को अन्य किसी प्रकार से अर्थात् एकान्त से शुद्ध समझता है अथवा एकान्त से अशुद्ध समझता है, वह भी जैनेतर दर्शन ही है अर्थात् मिथ्यादर्शन ही है।

अब, आगे हम ध्यान के बारे में संक्षेप में बताते हैं।

- ज्ञानी का मैंपन केवल शुद्धात्मा में ही होने के कारण वह पर्याय का ज्ञाता-द्रष्टा होता है, कर्ता नहीं। इसलिये ज्ञानी को बन्धभाव में मैंपन न होने के कारण ज्ञानी को बन्ध नहीं होता ऐसा कहा जाता है क्योंकि ज्ञानी बन्धभाव की पर्याय का कर्ता नहीं है केवल ज्ञाता-द्रष्टा ही है। जबकि अज्ञानी को केवल पर्याय का ही अनुभव होने के कारण उसका मैंपन भी पर्याय में ही होता है इसलिये वह पर्याय का कर्ता होता है यानी बन्ध का भी कर्ता होता है।

३०

ध्यान के विषय में

अब हम थोड़ा सा ध्यान के विषय में समझकर आगे बढ़ेंगे। कोई भी वस्तु–व्यक्ति–परिस्थिति आदि पर मन का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन ध्यान कहलाता है। हमने अभी तक देखा कि मन का सम्यग्दर्शन में बहुत ही महत्त्व है, जैसे कि **समाधितन्त्र** श्लोक ३५ में बताया है कि 'जिसका मनरूपी जल राग–द्वेषादि तरंगों से चंचल नहीं होता, वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है – अनुभव करता है, उस आत्मतत्त्व को दूसरा मनुष्य – रागद्वेषादि से आकुलित चित्तवाला (मनवाला) मनुष्य देख नहीं सकता।' अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) भी मन से ही चिन्तन होता है और अतीन्द्रिय स्वानुभूति के काल में भी वह भावमन ही अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमता है।

इसी लिये मन किस विषय पर चिन्तन करता है अथवा मन किन विषयों में एकाग्रता करता है, उस पर ही बन्ध और मोक्ष का आधार है। जैसा कि **परमात्मप्रकाश** छन्द २७१ में बताया है कि 'पाँच इन्द्रियों के स्वामी मन को तुम वश में करो, उस मन के वश होने से वे पाँच इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। जैसे कि वृक्ष के मूल का नाश होने पर पत्र नियम से सूख जाते हैं।' अर्थात् मन ही बन्ध का कारण है और मन ही मुक्ति का कारण है।

यह बात किसी ने एकान्त से नहीं समझना, यह बात अपेक्षा से कहने में आयी है, क्योंकि जो मन है, वही सम्यग्दर्शन का निमित्त कारण है और बन्ध का भी निमित्त कारण है, इस अपेक्षा से विवेकपूर्वक यह बात कहने में आयी है। जैसा कि **परमात्मप्रकाश** मोक्षाधिकार छन्द १५७ में बताया है कि 'जिन्होंने मन को शीघ्र ही वश में करके अपनी आत्मा को परमात्मा में नहीं मिलाया (अर्थात् स्वात्मानुभूति नहीं की), हे शिष्य! जिनकी ऐसी शक्ति नहीं, वह योग से क्या कर सकेगा? (अर्थात् ऐसे जीव अध्यात्मयोग से स्वात्मानुभूतिरूपी लाभ नहीं ले सकते)।' इस प्रकार मोक्षमार्ग में मन का अत्याधिक ही महत्त्व होने से बहुत ग्रन्थों में ध्यान के विषय में बहुत अधिक बताया गया है परन्तु यहाँ उसका मात्र थोड़ा सा उल्लेख करके हम आगे बढ़ेंगे।

ध्यान शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप से तीन प्रकार का होता है, उसके चार प्रकार हैं – आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान; इन चार प्रकारों के भी अन्तर प्रकार हैं। मिथ्यात्वी जीवों को आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान नामक दो अशुभ ध्यान सहज ही होते हैं क्योंकि वैसे ही ध्यान

के, उन्हें अनादि के संस्कार हैं, तथापि वे प्रयत्नपूर्वक मन को अशुभ में जाने से रोक सकते हैं। उस मन को अशुभ में जाने से रोकने की ऐसी विधियाँ हैं, जैसे कि–आत्मलक्ष्य से शास्त्रों का अभ्यास, आत्मा का ध्यान रखना, छह द्रव्यरूपी लोक का चिन्तन, नौ तत्त्वों का चिन्तन, भगवान की आज्ञा का चिन्तन, कर्म–विपाक का चिन्तन, कर्म की विचित्रता का चिन्तन, लोक के स्वरूप का चिन्तन, इत्यादि वह कर सकता है। ऐसा मिथ्यात्वी जीवों का ध्यान भी शुभ धर्मध्यान कहलाता है, नहीं कि शुद्ध धर्मध्यान; इसलिये उसे अपूर्व निर्जरा का कारण नहीं माना है क्योंकि अपूर्व निर्जरा के लिये वह ध्यान सम्यग्दर्शन सहित होना आवश्यक है अर्थात् शुद्ध धर्मध्यान होना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि को इसके उपरान्त शुद्धात्मा का ध्यान मुख्य होता है कि जिससे वह गुणश्रेणी निर्जरा द्वारा गुणस्थानक आरोहण करते–करते आगे शुक्लध्यानरूपी अग्नि से सभी घातीकर्मों का नाश करके केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त करता है और क्रम से सिद्धत्व को पाता है।

धर्मध्यान के अन्तर्गत सारे ध्यान के प्रकारों में आत्मा ही केन्द्र में है। इसलिये सम्यक् ध्यान उसे ही कहा जाता है कि जिसमें आत्मा ही केन्द्र में हो और आत्मप्राप्ति ही उसका लक्ष्य हो। बहुत से व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन ध्यान के बिना प्राप्त होता ही नहीं। तो उन्हें हम कहते हैं कि वास्तव में सम्यग्दर्शन भेदज्ञान के बिना प्राप्त होता ही नहीं, ध्यान के बिना तो प्राप्त होता है। इसलिये सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यकता वह ध्यान नहीं परन्तु शास्त्रों से भलीभाँति निर्णय किये हुए तत्त्व का ज्ञान और सम्यग्दर्शन के विषय का ज्ञान तथा वह ज्ञान होने के बाद आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यथार्थ भेदज्ञान होने से ही परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा में 'मैंपन' होने से ही स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; इसलिये आग्रह ध्यान का नहीं परन्तु यथार्थ तत्त्वनिर्णय का और योग्यता का रखना आवश्यक है और वही करने योग्य है।

आचार्य कुन्द कुन्द कृत **मोक्षप्राभृतम्** में भी ध्यान के बारे में बताया है कि –

गाथा २० : अर्थ :– 'योगी–ध्यानी–मुनि हैं, वे जिनवर भगवान के मत से शुद्धात्मा को ध्यान में ध्याते हैं (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा का ही ध्यान करने योग्य है, वही उत्तम है और उसके ध्यान से ही ध्यानकर्ता योगी कहलाता है), इसलिये निर्वाण को प्राप्त करता है, तो उससे क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं हो सकता? अवश्य ही प्राप्त हो सकता है।'

अर्थात् अनेक लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के अनेक उपाय करते देखने

में आते हैं तो उस उपाय से तो कदाचित् क्षणिक स्वर्ग प्राप्त हो भी अथवा न भी हो परन्तु परम्परा में तो उसे अनन्त संसार ही मिलता है; जबकि शुद्धात्मा के अनुभव और ध्यान से मुक्ति मिलती है। जब तक मुक्ति न मिले तब तक स्वर्ग और स्वर्ग जैसा ही सुख मिलता है, इसलिये सभी सम्यग्दृष्टि जीवों को उसी का ध्यान करने योग्य है कि जो मुक्ति का मार्ग है और उस मार्ग में स्वर्ग तो सहज ही होता है, उसकी याचना नहीं होती ऐसा बताया है।

अन्य मति के ध्यान, जैसे कि-कोई एक बिन्दु पर एकाग्रता कराये, तो कोई श्वासोच्छ्वास पर एकाग्रता कराये अथवा तो अन्य किसी प्रकार से, परन्तु जिससे देहाध्यास ही दृढ़ होता हो ऐसा कोई भी ध्यान वास्तव में तो आर्त्तध्यान ही है। ऐसे ध्यान से मन को थोड़ी सी शान्ति मिलती होने से लोग ठगे जाते हैं और उसे ही सच्चा ध्यान मानने लगते हैं। दूसरा श्वासोच्छ्वास देखने से और उसका अच्छा अभ्यास हो, उसे कषाय का उद्‌भव हो, उसका ज्ञान होने पर भी, स्वयं कौन है, इसका स्वात्मानुभूतिपूर्वक का ज्ञान नहीं होने से, ऐसे समस्त ही ध्यान आर्त्तध्यानरूप ही परिणमते हैं। उस आर्त्तध्यान का फल है तिर्यंच गति, जबकि क्रोध, मान, माया-कपट रूप ध्यान, वह रौद्रध्यान है और उसका फल है नरक गति है। धर्मध्यान के अन्तर प्रकारों में आत्मा ही केन्द्र में होने से ही उसे सम्यक् ध्यान कहा जाता है।

मन की जाँच करने के लिये, स्वयं को क्या रुचता है ? यह जाँच करना, आत्मप्राप्ति का थर्मामीटर-बेरोमीटर है। इस प्रश्न का उत्तर पर चिन्तन करना। जब तक उत्तर में कुछ भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो, वहाँ तक अपनी गति संसार की ओर समझना और जब उत्तर - एकमात्र आत्मप्राप्ति, ऐसा हो तो समझना कि आपके संसार का किनारा बहुत निकट आ गया है; इसलिये उसके लिये पुरुषार्थ बढ़ाना चाहिये।

आगे हम साधक को मोक्षमार्ग की साधना के लिये आवश्यक बातें बताते हैं।

- अनादि से मेरी ग़लती के कारण से ही मैं संसार में भटक रहा हूँ। अनादि से मैंने कभी अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग अपनी आत्मा के उत्थान के लिये नहीं किया। इसलिये कहा जा सकता है कि अपने संसार और मोक्ष के लिये मैं ही स्वयं ज़िम्मेदार हूँ। यह समझ बनाकर अब सभी साधकों को आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाकर आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति पाने का ही पुरुषार्थ करना चाहिये।

३१

साधक को सलाह

साधक आत्मा को सर्वप्रथम तो अपना लक्ष्य दुनिया से हटाकर 'मैं और कर्म' इतना ज़रूर समझ लेना आवश्यक है क्योंकि अनादि से जो मेरा परिभ्रमण चलता है, वह कर्मों के कारण ही है। वे कर्म कहीं मात्र पुद्गल नहीं, वे कर्म अर्थात् मेरे ही पूर्व में किये गये भाव हैं, कि जिनके निमित्त से ये पुद्गल कर्म के रूप में परिणमित हुए हैं। इसलिये समझना यह है कि अपने को यदि किसीने सबसे अधिक दुःखी किया हो तो वह मात्र और मात्र 'मैं' ही हूँ अर्थात् वह मात्र अपने ही पूर्व में किये हुए भाव हैं, कि जिनके निमित्त से, पुद्गल कर्मरूप हुए और उन पुद्गलरूप कर्मों का उदय होने से ही मैं उनके निमित्त से परिणमनकर दुःखी हुआ।

यदि व्यवस्था ऐसी ही होवे तो मैं ऐसा विचार कैसे कर सकता हूँ कि किसी अन्य व्यक्ति ने मुझे दुःखी किया है? अथवा मेरा अहित किया है? ऐसा विचारने से ही उस व्यक्ति के साथ के सांकलरूपी सम्बन्ध में एक नयी कड़ी जुड़ती है और मेरे नये कर्म बन्धते हैं, जिनके उदय के समय फिर से इसी प्रकार नये कर्म बन्धने की सम्भावना खड़ी ही रहेगी। ऐसे अनुबन्ध को ही अनन्तानुबन्धी कषाय कहा जाता है।

दूसरों का दोष देखने से आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान होता है। वह न हो इसके लिये साधक जीव को दुःख के काल में पूर्व में बताये गये "धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)" के अन्तर्गत ऐसा विचारना कि – अहो! मैंने ऐसा दुष्कृत्य पूर्व में किया था! तो उसके लिये मेरा मिच्छामि दुक्कडं (यह है प्रतिक्रमण) उसके लिये मैं पश्चात्तापपूर्वक अपनी निन्दा करता हूँ और अब मैं भविष्य में ऐसे भाव कभी भी नहीं करूँ ऐसी प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) करता हूँ (यह है प्रत्याख्यान)। जो व्यक्ति मुझे मेरे ऐसे भावों से (कर्मों से) छुड़ाने में निमित्त हुए हैं, वे मेरे परम उपकारी हैं, इसलिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। ऐसा विचारने से उस व्यक्ति के प्रति न रोष आयेगा न दुर्भाव आयेगा। आयेगी तो मात्र कृतज्ञता। और मैं आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से बचकर शुभभाव रूपी धर्मध्यान में स्थित रहने से एक तो उस व्यक्ति के साथ की साँकल टूट जायेगी (वैर छूट जायेगा) और नये दुःखदायक कर्मों का बन्ध रूक जायेगा। इसलिये मुमुक्षु जीव को ऐसा ही विचारना चाहिये और स्वयं को तथा सबको अपने समान देखने के भाव में रहकर तत्त्व का निर्णय और सम्यग्दर्शन ही करने योग्य है।

यहाँ कोई यह कहे कि आप तो शुभ की बात कर रहे हैं ? उन्हें हम कहते हैं कि कोई भी जीव निरन्तर कोई न कोई (शुभ या अशुभ) ध्यान/भाव करके अनन्तानन्त कर्म से बन्ध ही रहा है और यदि वह प्रयत्नपूर्वक आत्मलक्ष्य से शुभ में नहीं रहे तो नियम से अशुभ में ही रहेगा कि जिसका फल नरकगति तथा अनन्तकाल की तिर्यंचगति है। जबकि एकमात्र आत्मलक्ष्य से जो जीव शुभ में प्रयत्नपूर्वक रहता है, उसे मनुष्यगति, देव-शास्त्र-गुरु तथा केवली प्ररूपित जिनधर्म इत्यादि मिलने की सम्भावनायें खड़ी रहती हैं और उसके कल्याण के दरवाज़े खुले रहते हैं। इसी लिये इसी अपेक्षा से हम आत्मलक्ष्य से शुभभाव में रहने को कहते हैं, परन्तु उसमें एकमात्र लक्ष्य आत्मप्राप्ति ही होनी चाहिये अन्यथा शुभभाव भी अशुभभाव की तरह ही जीव को बाँधता है और अनन्त संसार में भटकाता है, अनन्त दु:खों का कारण बनता है।

यदि कोई ऐसा माने कि मुमुक्षु जीव को योग्यता अपने काल में हो जायेगी, उसके लिये प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है तो उनसे हम प्रश्न करते हैं कि क्या आप जीवन में पैसा, प्रतिष्ठा, परिवार इत्यादि के लिये प्रयत्न करते हैं ? या फिर आप कहते हैं कि वे उनके काल में आ जायेंगे, बोलो आ जायेंगे ? तो उत्तर अपेक्षित ही मिलता है कि हम उनके लिये प्रयत्न करते हैं। तो हम प्रश्न करते हैं कि जो वस्तु अथवा संयोग कर्म अनुसार स्वयमेव आकर मिलनेवाले हैं, उनके लिये आप बहुत ही प्रयत्न करते हैं। परन्तु जो आत्मा के घर का है, ऐसा पुरुषार्थ अर्थात् प्रयत्नपूर्वक आत्मा के उद्धार के लिये ऊपर बताया हुआ तथा अन्य आचरण जीवन में करने में उपेक्षा/आलस करते है तो आप जिनसिद्धान्त की अपेक्षा न समझकर उन्हें अन्यथा ही समझे हैं, ऐसा ही कहना पड़ेगा। क्योंकि जिनसिद्धान्तानुसार कोई भी कार्य होने के लिये पाँच समवाय का होना आवश्यक है। उसमें आत्मस्वभाव में पुरुषार्थ, वह उपादान कारण होने से यदि आप उसकी उपेक्षा करके मात्र निमित्त की राह देखकर बैठे रहेंगे या तो भगवान से माँगते रहेंगे अथवा नियति के समक्ष देखकर बैठे रहेंगे तो आत्मप्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। इसलिये मुमुक्षु जीव को अपना पुरुषार्थ अधिक से अधिक आत्मधर्म क्षेत्र में प्रवर्तित करना आवश्यक है और सिर्फ़ थोड़ा सा काल जीवन की आवश्यकताओं को अर्जित करने में डालना, यह प्रथम आवश्यकता है।

जैसे **आत्मानुशासन** गाथा ७८ में बताया है कि :- 'हे जीव! आत्मकल्याण के लिये कुछ यत्न कर! कर! क्यों शठ होकर प्रमादी बन रहा है ? जब वह काल (मृत्यु) अपनी तीव्र गति से आ पहुँचेगा तब यत्न करने पर भी वह रुकेगा नहीं ऐसा तू निश्चय समझ। कब, कहाँ से और किस प्रकार वह काल अचानक आ चढ़ेगा, इसकी भी किसी को ख़बर नहीं है। वह

दुष्ट यमराज, जीव को कुछ भी सूचना पहुँचाये बिना अचानक हमला करता है, उसका कुछ तो ख़याल कर। काल की अप्रतिहत अरोक गति के समक्ष मन्त्र तन्त्र औषधादि सर्व साधन व्यर्थ हैं।' अर्थात् आत्मकल्याण के लिये ही सारा पुरुषार्थ होना चाहिये।

आगे **आत्मानुशासन** गाथा १९६ में भी बताया है कि :- 'अहो! जगत के मूर्ख जीवों को क्या कठिन है? वे जो अनर्थ करें, उसका आश्चर्य नहीं परन्तु न करें वही वास्तव में आश्चर्य। शरीर को प्रतिदिन पोसते हैं, साथ ही साथ विषयों को भी वे सेवन करते हैं। उन मूर्ख जीवों को कुछ भी विवेक नहीं कि विषपान करके अमरत्व चाहते हैं ! सुख चाहते हैं ! अविवेकी जीवों को कुछ भी विवेक या पाप का भय नहीं है तथा विचार भी नहीं है....'

हम जब पाप-त्याग के विषय में बताते हैं तब कोई ऐसा भी पूछता है कि रात्रिभोजन त्याग इत्यादि व्रत अथवा प्रतिमायें तो सम्यग्दर्शन के बाद ही होते हैं तो हमें उसके पूर्व रात्रिभोजन का क्या दोष लगेगा ? तो उन्हें हमारा उत्तर होता है कि-रात्रिभोजन का दोष सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि को ही अधिक लगता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि रच-पचकर उसका सेवन करता है जबकि सम्यग्दृष्टि को तो आवश्यक न हो, अनिवार्यता न हो तो ऐसे दोषों का सेवन ही नहीं करता और यदि किसी काल में ऐसे दोषों का सेवन करता भी है तो भीरुभाव से और रोग की औषधि के रूप में करता है न कि आनन्द से अथवा स्वच्छन्दता से क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को तो भोजन करना पड़ता है वह भी मजबूरी जैसा लगता है, रोग जैसा लगता है और उससे शीघ्र छुटकारा ही चाहता है।

इसलिये किसी भी प्रकार का छल किसी को भी धर्म शास्त्रों से ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि धर्मशास्त्रों में प्रत्येक बात अपेक्षा से कही होती है, इसलिये व्रत और प्रतिमायें पाँचवें गुणस्थान में कही हैं, उनका अर्थ ऐसा नहीं निकालना कि अन्य कोई निम्न भूमिकावाले उसे अभ्यास के लिये अथवा पाप से बचने के लिये ग्रहण नहीं कर सकते। बल्कि सबको अवश्य ग्रहण करने योग्य ही है, क्योंकि जिसे दु:ख प्रिय नहीं ऐसे जीव दु:ख के कारण पाप का किस प्रकार आचरण कर सकते हैं ? अर्थात् आचरण कर ही नहीं सकते।

समझने की बात मात्र इतनी ही है कि सम्यग्दर्शन के पहले अणुव्रती अथवा तो महाव्रती, वह अपने को अनुक्रम से पाँचवें अथवा छठवें-सातवें गुणस्थान में न समझकर (मानकर) मात्र आत्मार्थ (अर्थात् आत्मा की प्राप्ति के लिये) अभ्यास हेतु ग्रहण किये हुए अणुव्रती अथवा महाव्रती समझना (मानना) और लोगों को भी वैसा ही बताना कि जिससे लोगों को ठगने का दोष भी नहीं लगे।

इसलिये शास्त्र में से किसी भी प्रकार का छल अथवा विपरीत यानी ठगने की बात ग्रहण नहीं करना बल्कि उसे यथार्थ अपेक्षा से समझना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक शास्त्र में स्पष्ट कहने में आया है कि गिरने का अर्थात् निचली श्रेणी में जाने का तो कोई उपदेश दे ही नहीं सकता। उपदेश तो मात्र ऊपर चढ़ने के लिये ही है अर्थात् कोई पहले गुणस्थानवाला व्रती हो तो उसे व्रत छोड़ना नहीं बताया परन्तु उसे अनुकूल गुणस्थान प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित किया है। उसे अन्यथा ग्रहण करके व्रत-प्रत्याख्यान छोड़ देना नहीं, वह तो महा अनर्थ का कारण है। तो ऐसा तो कोई आचार्य भगवान उपदेश देते ही नहीं न? यह तो मात्र वर्तमानकाल के मानवों की वक्रता ही है कि वे उसे विपरीत रूप से ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार अनादि से हम धर्म को विपरीत रूप से ग्रहण करते आये हैं और इसी लिये अनादि से भटक रहे हैं।

अब तो कभी न हो! कभी न हो! ऐसी विपरीत प्ररूपणा! जैसे कि **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** श्लोक ५० में भी कहा है कि 'जो जीव यथार्थ निश्चय स्वरूप को जाने बिना (अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये बिना) उसे ही (अर्थात् उसे मात्र शब्द से ग्रहण करके) निश्चय श्रद्धा से अंगीकार करता है वह मूर्ख बाह्यक्रिया में आलसी है और बाह्यक्रियारूपी आचरण का नाश करता है।'

प्रश्न I :- बहुत साधकों का प्रश्न होता है कि हमें तत्त्व का अभ्यास होने पर भी आत्मा का अनुभव क्यों नहीं होता? अर्थात् सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता?

उत्तर :- जैसे योग्य कारण बिना कोई कार्य नहीं होता, वैसे वैराग्य आये बिना अर्थात् भवरोग रूपी पीड़ा लगे बिना, पर से सुख की आकांक्षा छोड़े बिना, किसी भी नय का पक्ष अथवा साम्प्रदायिक मान्यता का आग्रह छोड़े बिना और तत्त्व को विपरीत रूप से ग्रहण करके स्वात्मानुभूति अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त होना अतिविकट है। इसलिये सभी साधकों से हमारा निवेदन है कि आप योग्य कारण अर्थात् वैराग्यरूपी योग्यता प्रगट करें और पक्ष-आग्रह छोड़कर तत्त्व का यथार्थ निर्णय करेंगे तो सम्यग्दर्शनरूपी कार्य अवश्य होगा ही, ऐसा हमारा अभिप्राय है।

प्रश्न II :- बहुत साधकों का प्रश्न होता है कि आपको आत्मा का अनुभव हुआ तब क्या हुआ? अर्थात् आत्मा के अनुभव के काल में क्या होता है?

उत्तर :- स्वात्मानुभूति के काल में शरीर से भिन्न ऐसा सिद्ध सदृश आत्मा का अनुभव होता है, जिस में शरीर का किसी भी प्रकार का अनुभव नहीं होता।

प्रश्न III :- बहुत से साधक हम से प्रश्न करते हैं कि उन्हे प्रकाशमय आत्मा का अनुभव हुआ अथवा कोई कहते हैं कि वे एकदम हल्के फूल जैसे हो गये हों, ऐसा अनुभव हुआ अथवा कोई

कहते हैं कि हम रोमांचित हो गये, इत्यादि।

उत्तर :– ऐसे साधकों को हम बताते हैं कि ऐसे भ्रमों से अपने आप को ठगना योग्य नहीं हैं, क्योंकि स्वात्मानुभूति के काल में शरीर का किसी भी प्रकार का अनुभव होता ही नहीं, मात्र सिद्ध सदृश आत्मा का ही अनुभव होता है अर्थात् आंशिक सिद्ध सदृश आनन्द का अनुभव होता है अर्थात् आंशिक सिद्धत्व का ही अनुभव होता है और उपशम सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा की जो अनुभूति होती है वह इतनी स्पष्ट होती है कि उसे न किसी से कुछ पूछना पड़ता है और न ही किसी के प्रमाणपत्र की आवश्यकता पड़ती है। उसे फिर आत्मा के सन्दर्भ में कोई भी प्रश्न रहता ही नहीं। इतना स्पष्ट अनुभव होता है। अर्थात् स्वात्मानुभूति के बाद शरीर से भेदज्ञान प्रतीत होता है। दृष्टान्त रूप से–स्वात्मानुभूति के बाद आप दर्पण के सामने जब भी जायेंगे तब आप किसी अन्य व्यक्ति को निहारते हों ऐसा भाव आता है।

प्रश्न IV :– किसी का यह भी प्रश्न होता है कि आपके गुरु कौन हैं?

उत्तर :– हमारे गुरु भगवान महावीरस्वामी हैं, जिनकी दिव्यध्वनि हमको शास्त्र रूप से प्राप्त हुई, जिससे हमें सत्य की प्राप्ति हुई अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ। उनके अलावा हमने अन्य बहुत से लोगों से कुछ ना कुछ अवश्य सीखा है, उनके भी हम अत्यन्त आभारी हैं।

सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के बाद अमृतचन्द्राचार्य कृत **प्रवचनसार** टीका श्लोक २०२ के अनुसार, सम्यग्दृष्टि जीव का विकास क्रम ऐसा होता है – 'सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानता है, अनुभव करता है, अन्य समस्त व्यवहार भावों से अपने को भिन्न जानता है। जबसे उसे स्व–पर के विवेकरूपी भेदविज्ञान प्रगट हुआ था, तब से ही वह सकल विभावभावों का त्याग कर चुका है और तब से ही उसने टंकोत्कीर्ण निजभाव अंगीकार किया है। इसलिये उसे न कुछ त्यागना रहा और न कुछ ग्रहण करना–अंगीकार करना रहा। स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से ऐसा होने पर भी, पर्याय में वह पूर्व बद्ध कर्मों के उदय के निमित्त से अनेक प्रकार के विभावभावों से परिणमता है। वह विभावपरिणतियों नहीं छूटती देखकर वह आकुल–व्याकुल भी नहीं होता तथा समस्त विभावपरिणति को टालने का पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता। सकल विभावपरिणति रहित स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से गुणस्थानों की परिपाटी के सामान्य क्रम अनुसार उसे पहले अशुभ परिणति की हानि होती है और फिर धीमे–धीमे शुभ परिणति भी छूटती जाती है। ऐसा होने से उस शुभ राग के उदय की भूमिका में गृहवास का और कुटुम्ब का त्यागी होकर व्यवहार रत्नत्रयरूप पंचाचारों को अंगीकार करता है। यद्यपि ज्ञानभाव से वह समस्त शुभाशुभ क्रियाओं का त्यागी है तथापि पर्याय में शुभ राग नहीं छूटता होने से वह पूर्वोक्त प्रकार से पंचाचार को ग्रहण करता है।'

जिस धर्म में (अर्थात् जिनसिद्धान्त में) 'सब जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं' -ऐसा कहा गया हो तब सभी जीवों को अपने समान ही देखते हुए, कहीं भी वैर-विरोध को अवकाश ही कहाँ से होगा ? अर्थात् विश्वमैत्री की भावना होती है और ऐसे धर्म में धर्म के ही नाम से वैर-विरोध और झगड़ा हो तो उसमें समझना कि अवश्य हमने धर्म का रहस्य समझा ही नहीं है। इसलिये कहीं भी धर्म के लिये वैर, विरोध या झगड़ा नहीं होना चाहिये क्योंकि धर्म प्रत्येक की समझ अनुसार प्रत्येक को परिणमनेवाला है और इसी लिये उसमें मतभेद अवश्य रहने ही वाले हैं परन्तु वे मतभेद को मतभेद से अधिक, कोई राग-द्वेष के कारणरूपी वैर, विरोध और झगड़े का रूप देना धर्म के लिये मृत्युघण्टे समान है।

इसलिये हम तो सबको एक ही बात बताते हैं कि धर्म के नाम से ऐसे वैर, विरोध और झगड़े हों तो उन्हें समाप्त कर देना और सभी जनों को वैर, विरोध और झगड़े अपने मन में से भी निकाल देना चाहिये। अन्यथा वे वैर, विरोध और झगड़े आपको मोक्ष तो दूर, अनन्त संसार का कारण बनेंगे। इसलिये जिससे भी जो वैर-विरोध हो, उसे क्षमा करके भूल जाना ही हितप्रद है। उसी में ही जिनधर्म का हित समाहित है। ऐसा वैर-विरोध और झगड़ा भी धर्म को विपरीत रूप से ग्रहण करने का ही फल है, अन्यथा जिसने धर्म सम्यक् रूप से ग्रहण किया हो, उसके मन में वैर-विरोध उठे कैसे ? अर्थात् मात्र करुणा ही जन्मे, न कि वैर-विरोध अथवा झगड़ा। यह समझने की बात है और इसी लिये सभी जनों को धर्म के नाम पर वैर, विरोध अथवा झगड़ा भूलकर सत्यधर्म को फैलाना चाहिये, ऐसा हमारा मानना है।

- समस्त संसारी जीवों को सभी संयोग अपने कर्मों के अनुसार ही मिलते हैं। इसलिये सभी संसारी जीवों को कौनसे संयोग मिलेंगे उसमें वे पराधीन हैं, परवश हैं। परन्तु वे अपनी प्रतिक्रिया देने में स्वतन्त्र हैं। इसी लिये जीव मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी जीव मोक्षप्राप्ति के लिये अध्यात्ममार्ग के अनुकूल अपने परिणमन का यथार्थ इलाज बारह भावना, चार भावना, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!), इत्यादि का आश्रय लेकर कर सकता है। इस प्रकार अज्ञानी को भी अपनी पर्याय के प्रति उदासीन न रहते हुए उसका अध्यात्ममार्ग के अनुसार यथार्थ इलाज करना चाहिये। 'हम तो ज्ञाता-द्रष्टा हैं' ऐसे भ्रम में रहकर मूढ़ नहीं बने रहना चाहिये।

३२

नियमसार के अनुसार सम्यग्दर्शन और ध्यान का विषय

आगे हम नियमसार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव कृत टीका की वे गाथायें तथा श्लोक देखेंगे जिनमें सम्यग्दर्शन (दृष्टि) का विषय और सम्यग्दृष्टि के ध्यान/स्थिरता का विषय बताया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका (आगे हर नियमसार श्लोक के लिये यही समझना) श्लोक ३८ अन्वयार्थ-'जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं; कर्मोपाधिजनित गुण पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा आत्मा को उपादेय है।' यहाँ जो जीवादि विशेषरूप (अर्थात् पर्यायरूप) तत्त्व हेय कहे हैं अर्थात् कर्मों के निमित्त से हुए जीव के विशेषभाव (अर्थात् विभावपर्यायों) को हेय बताया है, उसका अर्थ ऐसा है कि उन भावों में सम्यग्दृष्टि का 'मैंपन' नहीं होता इस अपेक्षा से वे हेय हैं। जबकि उस पर्याय (अर्थात् पूर्ण द्रव्य) में छिपे हुये सामान्यभाव अर्थात् परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) होने से आत्मा को उपादेय है, उसमें ही सम्यग्दृष्टि का 'मैंपन' होता है क्योंकि वह त्रिकाली शुद्धभाव है और शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के चक्षु से आत्मा मात्र उतनी ही है, और वैसी ही (शुद्ध ही) है। इसलिये इस शुद्धात्मा के अतिरिक्त समस्त भावरूप जीव ही परिणमता होने पर भी, वे अन्य के लक्ष्य से होते है इसलिये वे सम्यग्दृष्टि की स्वात्मानुभूतिमें नहीं होता इसलिये इस अपेक्षा से वे जीव के भाव ही नहीं हैं, ऐसा पूर्व में बताया है, वही भाव आगे गाथा में दर्शाया है।

श्लोक ६० : अन्वयार्थ :- 'सतत रूप से अखण्ड ज्ञान की (अर्थात् जो ज्ञान विकल्पवाला है तथा खण्ड-खण्ड है इसलिये उन ज्ञानाकारों को गौण करते ही अखण्ड ज्ञान की प्राप्ति होती है और वही परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा कहलाता है) सद्भावनावाली आत्मा (अर्थात् 'मैं अखण्ड ज्ञान हूँ' ऐसी सच्ची भावना जिसे निरन्तर वर्तती है, वह आत्मा) संसार के घोर विकल्प को नहीं पाती परन्तु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करती हुई पर परिणति से दूर, अनुपम, अनघ (दोषरहित, निष्पाप, मलरहित) चिन्मात्र को (=जानने देखनेवाली आत्मा को) प्राप्त करती है।' अर्थात् वह जीव आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन को पाता है; वह जीव आत्मज्ञानी होता है।

गाथा ४३ : अन्वयार्थ :- 'आत्मा (परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा) निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्मम, नि:शरीर, निरालम्ब, नीराग, निर्दोष, निर्मूढ, निर्भय है।'

श्लोक ६४ : अन्वयार्थ :- 'जो आत्मा भव्यता द्वारा प्रेरित हो, वह आत्मा भव से विमुक्त होने के हेतु (अर्थात् सम्यग्दृष्टि होने और मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने) के लिये निरन्तर इस आत्मा को

(अर्थात् ऊपर बताये शुद्धात्मा को) भजो कि जो (आत्मा) अनुपम ज्ञान के आधीन है, जो सहज गुणमणि की खान है, जो (सर्व) तत्त्वों में सार है और जो निज परिणति के सुखसागर में मग्न है।'

श्लोक ६६ : अन्वयार्थ :- 'जो अनाकुल है, अच्युत है, जन्म-मृत्यु, रोगादि से रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसार को (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा, कि जिसे कारणसमयसार अथवा कारणशुद्धपर्याय भी कहा जाता है) मैं समरस (अर्थात् उसमें ही एकरस होकर, उसमें ही एकत्व करके) द्वारा सदा पूजता हूँ।' यानी सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सदा समयसाररूपी परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा की भावना भानी चाहिये। अनुभूति करनी चाहिये।

गाथा ४४ : अन्वयार्थ :- 'आत्मा (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय ऐसी शुद्धात्मा) निर्ग्रन्थ, निराग, नि:शल्य, सर्व दोष विमुक्त, निष्काम, नि:क्रोध, निर्मान, और निर्मद है।' आगे आचार्य भगवान कहते हैं कि स्त्री, पुरुष आदि पर्यायें, रस-गन्ध-वर्ण-स्पर्श और संस्थान तथा संहनन इत्यादि रूप पुद्गल की पर्यायें तो आत्मा की हैं ही नहीं परन्तु वैसे जो भाव आत्मा में होते हैं, उनमें भी सम्यग्दृष्टि का 'मैंपन' नहीं, उनसे व्यतिरिक्त जो परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा है, उसमें ही सम्यग्दृष्टि का 'मैंपन' है; इसलिये वे जीव कोई भी लिंग से (अर्थात् विशेषरूप परिणमन से-पर्याय से) ग्रहण हो वैसे नहीं हैं, वैसा जीव मात्र अव्यक्तरूप ही है और वह पूर्व में बताये अनुसार भावमन का विषय होता है और वही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषयरूपी शुद्धात्मा की अपेक्षा से ही 'सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही है' ऐसा कहने में आता है और वैसा शुद्धात्मा ही उपादेय है अर्थात् आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित एकत्व करने योग्य है।

श्लोक ७३ : अन्वयार्थ :- 'शुद्ध निश्चय नय से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है; ऐसा ही वास्तव में, तत्त्व विचारते शुद्ध तत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं।' अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से जीव तीनों काल सम्पूर्ण शुद्ध ही है, न कि जीव का कोई भाग शुद्ध और दूसरा भाग अशुद्ध। नय पद्धति में पूर्ण द्रव्य (प्रमाण का द्रव्य ही) मलिन पर्यायरूपी अथवा पूर्ण शुद्धरूपी इत्यादि, अपेक्षा से कहा जाता है और वैसा ही समझ में आता है, एकान्त से नहीं; यदि उसे एकान्त से मलिन अथवा शुद्धरूपी मानने में आवे तो वह जिनदर्शन बाह्य ही समझना।

आगे आचार्य भगवन्त सम्यग्दर्शन प्राप्ति के समय किस से भेदज्ञान होता है, वह बताते हैं। जैसे कि नारकादि पर्यायें, मार्गणा स्थान, गुणस्थान, जीवस्थान, बाल वृद्ध इत्यादि शरीर की अवस्थायें, राग-द्वेष रूप कषायें मैं नहीं, मैं उनका कर्ता, करानेवाला नहीं अथवा अनुमोदक भी नहीं अर्थात् उनमें मेरा कोई कर्ताभाव नहीं और उन्हें अच्छा मानता भी नहीं। यह कथन शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से

है, एकान्त से नहीं। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओंरहित सम्यग्दर्शन नहीं होता।

गाथा ८२ : अन्वयार्थ :- 'ऐसा भेद अभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ होता है (अर्थात् ज्ञानी को लब्ध में शुद्धात्मा और उपयोग में वर्तमान दशा होने से, ज्ञानी उस वर्तमान अशुद्ध दशा से मुक्त होने के उपायरूप चारित्र ग्रहण इत्यादि करता है कि जिससे वह साक्षात् शुद्धात्मरूपी मुक्ति प्राप्त कर सकता है न कि पुण्य के लक्ष्यरूप चारित्र। यह पुरुषार्थ शुद्धात्मा के आश्रय से, कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये ही होता है, अन्यथा नहीं), इसलिये चारित्र होता है। उसे (चारित्र को) दृढ़ करने के निमित्त मैं प्रतिक्रमणादि कहूँगा।'

गाथा ८३ : अन्वयार्थ :- 'वचन रचना को छोड़कर (अर्थात् जो प्रतिक्रमण सूत्र की वचन रचना है, वह विकल्प होने से उसे छोड़कर निर्विकल्प शुद्धात्मा का अनुभव करना और उसमें ही स्थिर होना, वही प्रतिक्रमणादि का लक्ष्य है और यदि वह लक्ष्य सिद्ध हो जाता हो तो उस वाचनिक प्रतिक्रमण की आवश्यकता पूरी हो जाती है) रागादिभावों का निवारण करके (जीव के रागादि भाव हैं उन्हें ध्यान में न लेकर अर्थात् उन्हें गौण करके यानी उन रागादि भावों में मैंपन नहीं होके), जो आत्मा को (परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा को) ध्याता है, उसे (परमार्थ) प्रतिक्रमण होता है।'

गाथा ९२ : अन्वयार्थ :- 'उत्तमार्थ (उत्तम पदार्थ) आत्मा है। उसमें (उस शुद्धात्मा में) स्थित मुनिवर कर्म का नाश करते हैं इसलिये ध्यान ही (शुद्धात्मा का ध्यान ही) वास्तव में उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण है।' जो केवल सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है।

श्लोक १२२ :- 'समस्त विभाव को तथा व्यवहार मार्ग के रत्नत्रय को छोड़कर (समस्त विभाव को गौण करके तथा व्यवहार रत्नत्रय के सभी विकल्प शान्त करके) निज तत्त्व वेदी (निज आत्म तत्त्व को जाननेवाला - अनुभव करनेवाला) मतिमान पुरुष शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत (जुड़ा हुआ) ऐसा जो एक निज ज्ञान, दूसरा श्रद्धान और फिर तीसरा चारित्र, उसका आश्रय करता है।'

श्लोक १२३ :- 'आत्मध्यान के अतिरिक्त दूसरा सब घोर संसार का मूल है (अर्थात् ध्यान मात्र शुद्धात्मा का ही श्रेष्ठ है) और ध्यान ध्येयादिक सुतप (अर्थात् ध्यान, ध्येय इत्यादि के विकल्पवाला शुभ तप भी) केवल कल्पना में रम्य है (अर्थात् वास्तव में अच्छा नहीं है, कल्पना मात्र अच्छा है); ऐसा जानकर धीमान (बुद्धिमान पुरुष) सहज परमानन्दरूपी पीयूष की बाढ़ में डूबते हुए (लीन होते हुए) ऐसे सहज एक परमात्मा का (परमपारिणामिकभावरूपी कारणपरमात्मा का) ही आश्रय करता है।' जो केवल सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है।

गाथा ९३ : अन्वयार्थ :- '(शुद्धात्मा के) ध्यान में लीन साधु सर्व दोषों का परित्याग करते हैं; इसलिये ध्यान ही (उस शुद्धात्मा का ध्यान ही) वास्तव में सारे अतिचार का प्रतिक्रमण है।'

गाथा ९५ : अन्वयार्थ :- 'समस्त जल्प को (वचनविस्तार को अर्थात् विकल्पों को) छोड़कर (अर्थात् गौण करके) और अनागत शुभ-अशुभ का निवारण करके (अर्थात् शुभाशुभभावों को गौण करके अर्थात् शुभ-अशुभभावों के विकल्पों को छोड़कर अर्थात् सर्व विभावभावों को गौण करके अर्थात् समयसार गाथा ६ के अनुसार का भाव अर्थात् जो प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है, ऐसा एक ज्ञायकभावरूपी) जो आत्मा को (अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषयरूपी शुद्धात्मा को) ध्याता है उसे (निश्चय) प्रत्याख्यान है।' अर्थात् सारा पुरुषार्थ मात्र आत्मस्थिरतारूपी चारित्र के लिये ही हो कि जो साक्षात् केवलज्ञान का कारण है।

गाथा ९६ : अन्वयार्थ :- 'केवलज्ञान स्वभावी केवलदर्शन स्वभावी, सुखमय और केवलशक्ति स्वभावी वह मैं हूँ - ऐसा ज्ञानी चिन्तन करते हैं।' अर्थात् ज्ञानी अपने को कारणसमयसाररूपी शुद्धात्मा ही अनुभव करते हैं।

श्लोक १२८ :- 'समस्त मुनिजनों के हृदयकमल (मन) का हंस ऐसा जो यह शाश्वत (त्रिकाली शुद्ध) केवलज्ञान की मूर्ति रूप (ज्ञानमात्र), सकल-विमल दृष्टिमय (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय - शुद्धद्रव्यदृष्टि का विषय ऐसा शुद्धात्मा), शाश्वत आनन्दरूप, सहजपरमचैतन्य शक्तिमय (परमपारिणामिक ज्ञानमय) परमात्मा जयवन्त है।' अर्थात् आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उसे ही भाने योग्य है, उसमें ही मैंपन होने योग्य है। यही विधी है सम्यग्दर्शन प्राप्ति की।

गाथा ९७ : अन्वयार्थ :- 'जो निज भाव को छोड़ता नहीं (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूपी सहज परिणमन, तीनों काल ऐसा का ऐसा ही होने से अर्थात् उपजने से और वही उसका निज भाव होने से बताया है कि वह निज भाव को छोड़ता नहीं और दूसरा ज्ञानी को लब्धरूप से वही भाव रहता होने की अपेक्षा से भी कहा है कि निज भाव को छोड़ता नहीं) कुछ भी परभाव को ग्रहण नहीं करता (अर्थात् किसी भी परभाव में मैंपन न करने से उसे ग्रहण नहीं करता ऐसा कहा है), सबको जानता देखता है (अर्थात् उसे ज्ञानमात्रभाव में ही 'मैंपन' होने से सबको जानता-देखता है परन्तु पर में 'मैंपन' नहीं करता), वह 'मैं हूँ' (अर्थात् शुद्धात्मा, वह 'मैं हूँ') - ऐसा ज्ञानी चिन्तवन करता है।' अर्थात् अनुभव करता है और ध्याता है अर्थात् वही ध्यान का और सम्यग्दर्शन का विषय है।

श्लोक १२९ :- 'आत्मा, आत्मा में निज आत्मिक गुण रूपी समृद्ध आत्मा को (अर्थात्

शुद्धात्मा को)–एक पंचमभाव को (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूपी आत्मा को) जानता है और देखता है (अनुभव करता है), वह सहज एक पंचमभाव को (अर्थात् आत्मा के सहजपरिणमनरूपी पंचमभाव – परमपारिणामिकभाव को) उसने छोड़ा ही नहीं और अन्य ऐसे परभाव को (अर्थात् औदयिक, उपशम और क्षयोपशमभाव को) कि जो वास्तव में पौद्गलिक विकार है उसे–वह ग्रहण ही नहीं करता (मैंपन ही होता नहीं)।'

श्लोक १३३ :– 'जो मुक्तिसाम्राज्य का मूल है (सम्यग्दर्शन का विषय है क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मुक्तिसाम्राज्य का मूल है) ऐसे इस निरुपम, सहज परमानन्दवाले एक चिद्रूप को (चैतन्य के स्वरूप को = सामान्य ज्ञानमात्र को) चतुर पुरुषों के द्वारा सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है (अर्थात् एक सामान्य ज्ञानमात्रभाव कि जो सहज परिणमनयुक्त परमपारिणामिकभाव है, उसमें ही सम्यग्दृष्टि का 'मैंपन' होता है)। इसलिये हे मित्र! तू भी मेरे उपदेश के सार को (और यही सभी जिनागमों का सार है अर्थात् समयसार का सार है अर्थात् समयसार को) सुनकर, तुरन्त ही उग्ररूप से इस चैतन्य–चमत्कार के प्रति अपनी वृत्ति कर।' जो केवल सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है।

श्लोक १३५ :– 'मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, शुद्ध ज्ञान में, चारित्र में, सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मद्वन्द्व के संन्यासकाल में (समयसार गाथा ६ अनुसार का भाव अर्थात् जो प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं, ऐसा एक ज्ञायकभावरूपी) संवर में और शुद्ध योग में (शुद्धोपयोग में) वह परमात्मा ही है (अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सबका आश्रय – अवलम्बन शुद्धात्मा ही है कि जो सिद्ध सम ही भाव है); मुक्ति की प्राप्ति के लिये जगत में दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है, नहीं है।' अर्थात् दृष्टि के विषय की ही दृढ़ता करायी है।

श्लोक १३६ :– 'जो कभी निर्मल दिखायी देता है कभी निर्मल तथा अनिर्मल दिखायी देता है तथा कभी अनिर्मल दिखायी देता है अर्थात् शुद्ध नय (द्रव्यदृष्टि) से निर्मल ज्ञात होता है, प्रमाणदृष्टि से निर्मल तथा अनिर्मल दिखायी देता है और अशुद्ध नय (पर्यायदृष्टि) से अनिर्मल दिखायी देता है और इस कारण से अज्ञानी के लिये जो गहन है (इसलिये ही बहुत लोग आत्मा को एकान्त शुद्ध अथवा अशुद्ध धार लेते हैं और दूसरे लोग आत्मा को एक भाग शुद्ध और एक भाग अशुद्ध, ऐसी धारणा कर लेते हैं), वही – कि जिसने निजज्ञानरूपी दीपक से पाप तिमिर को नष्ट किया है वही (अर्थात् जिसने प्रज्ञाछैनी अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि से सर्व विभावभाव गौण होकरके जो परम पारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा ग्रहण हुआ है अर्थात् आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उसमें ही 'मैंपन' हुआ है और ऐसा होते ही सम्यग्दर्शनरूपी दीप प्रगटाकर पापतिमिर को नष्ट किया है,

वही शुद्धात्मा) सद्पुरुषों (ज्ञानी) के हृदयकमलरूपी घर में निश्चय से संस्थित है (स्थिरता प्राप्त है)।'

गाथा १०२ : अन्वयार्थ :- 'ज्ञानदर्शनलक्षणवाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है; शेष सभी संयोग लक्षणवाले भाव मुझसे बाह्य हैं।' यह गाथा भेदज्ञान की गाथा है, इसमें सम्यग्दर्शन के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित भेदज्ञान किस प्रकार करना यह बताया है कि जो 'देखने-जाननेवाली आत्मा है, वह मैं' अन्य सभी भावों (ज्ञेयों) से भेदज्ञान होता है।

श्लोक १४८ :- 'तत्त्व में निष्णात बुद्धिवाले जीव के हृदयकमलरूप अभ्यन्तर में (भावमन में) जो सुस्थित (स्थिरता प्राप्त) है, वह सहज तत्त्व (परमपारिणामिकभाव रूपी सहजपरिणामी शुद्ध आत्मा) जयवन्त है (वही सर्वस्व है)। उस सहज तेज ने मोहान्धकार का नाश किया है (अर्थात् दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम, अथवा तो क्षय किया है) और वह (सहज तेज) (सम्यग्दर्शन का विषय) निज रस के फैलाव से प्रकाशित ज्ञान के प्रकाश मात्र (ज्ञायक) है।'

श्लोक १४९ :- 'और जो (सहज तत्त्व - शुद्धात्मा) अखण्डित है (अर्थात् आत्मा में कोई भाग शुद्ध और कोई भाग अशुद्ध, ऐसा नहीं है, पूर्ण आत्मा - अखण्ड आत्मा ही द्रव्यदृष्टि से शुद्धात्मा रूपी ज्ञात होती है), शाश्वत है (अर्थात् तीनों काल ऐसा का ऐसा उपजता है = परिणमता है), सकल दोषों से दूर है (अर्थात् सकल दोषों से भेदज्ञान किया होने की वजह से शुद्धात्मा सकल-दोषों से दूर है), उत्कृष्ट है (अर्थात् सिद्धसदृशभाव है), भव सागर में डूबे हुए जीवसमूह को (अर्थात् सभी संसारी जीवों को) नौका समान है (अर्थात् मुक्ति का कारण है अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय है) और प्रबल संकटों के समूह रूपी दावानल (अर्थात् किसी भी प्रकार के उपसर्गरूप संकटों में स्वयं शान्त रहने) के लिये जल समान है (अर्थात् शुद्धात्मा का अवलम्बन लेते ही संकट गौण हो जाते हैं, पर हो जाते हैं), उस सहज तत्त्व को मैं प्रमोद से सतत नमस्कार करता हूँ।' अर्थात् प्रमोद से सतत भाता हूँ, उसका ही ध्यान-अनुभव करता हूँ।

गाथा १०७ : अन्वयार्थ :- 'नोकर्म और कर्म से रहित (अर्थात् प्रथम, पुद्गल से भेदज्ञान किया, जो कि आत्मा से प्रकट भिन्न है) तथा विभावगुण पर्यायों से व्यतिरिक्त (अर्थात् दूसरा, आत्मा जो कर्मों के निमित्त से विभावभावरूप अर्थात् औदयिकभावरूप परिणमता है, उससे भेदज्ञान किया अर्थात् वे भाव होते तो है आत्मा में ही - मुझ में ही, परन्तु वे भाव मेरा स्वरूप नहीं होने से उनमें 'मैंपन' नहीं होता अर्थात् वे गौण होते ही उनसे रहित शुद्धात्मा प्राप्त होती है, ऐसी) आत्मा को (अर्थात् शुद्ध आत्मा को) जो ध्याता है उस श्रमण को (परम) आलोचना समझना चाहिये।'

श्लोक १५२ :- 'घोर संसार के मूल ऐसे सुकृत और दुष्कृत को सदा निकाल-निकालकर (अर्थात् समयसार गाथा ६ अनुसार का भाव अर्थात् जो प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं ऐसा एक ज्ञायकभावरूपी। दूसरा, यहाँ पुण्य और पाप, दोनों को घोर संसार का मूल कहा है, उसके विषय में हमने पूर्व में बताये अनुसार समझना अर्थात् दोनों आत्मा को बन्धनरूप होने से संसार से मुक्ति के लिये इच्छनीय नहीं है, तथापि किसी ने ऐसा नहीं समझना कि पाप और पुण्य, ये दोनों हेय होने से अपने को पाप करने की छूट मिली है। ऐसा समझनेवाला नियम से अनन्त संसारी ही है परन्तु पाप का विचार भी नहीं करके, मात्र आत्मलक्ष्य से सुकृत करने योग्य है और वह शुभभाव भी शुद्धभाव से विरुद्ध भाव होने से, शुद्धभाव में 'मैंपन' करने से अथवा मात्र शुद्धभाव के लक्ष्य से भले आप नियम से शुभ में ही रहें परन्तु उसपर आदर भाव से नहीं। आदर भाव मात्र शुद्धभाव पर ही हो और रहना भी है शुद्धभाव में ही, परन्तु यदि आप शुद्धभाव से स्खलित हो अथवा शुद्धभाव की प्राप्ति न हुई हो तो शुद्धभाव के लक्ष्य से रहना, नियम से शुभ में ही। अशुभभाव की तो परछाई भी लेने योग्य नहीं है, इसलिये यहाँ किसी को छल ग्रहण करके शुभभाव छोड़कर अशुभ का आचरण नहीं करना। तीसरा यहाँ दृष्टि के विषयरूप शुद्धात्मा इष्ट है कि जिसमें सुकृत और दुष्कृतरूपी विभावभाव को सदा आलोच-आलोचकर अर्थात् अत्यन्त गौण होकरके) मैं निरूपाधिक (स्वाभाविक) गुणवाले शुद्धात्मा का आत्मा से अवलम्बन लेता हूँ (अर्थात् शुद्धात्मा में ही रहने का प्रयत्न करता हूँ) पश्चात् (अर्थात् उससे ही) द्रव्यकर्मरूपी समस्त प्रकृति को नाश प्राप्त कराकर (अर्थात् घातिकर्म का नाश करके केवलज्ञान-केवलदर्शनरूपी) सहज विलसती ज्ञानलक्ष्मी को प्राप्त करूँगा।' अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के ध्यान के विषयरूप शुद्धात्मा ही है।

श्लोक १५५ :- 'जिसने ज्ञानज्योति द्वारा (अर्थात् ज्ञानमात्रभाव के अवलम्बन से) पापतिमिर के पुंज का नाश किया है (अर्थात् उसका 'मैंपन' ज्ञामात्रभाव = परमपारिणामिकभाव में ही होने से सभी पापों के उदयरूपी औदायिकभाव को अत्यन्त गौण हुआ है) और जो पुराण (सनातन अर्थात् त्रिकाली शुद्ध) है ऐसा आत्मा परमसंयमियों के चित्तकमल (भावमन) में स्पष्ट है, वह आत्मा संसारी जीवों के वचन-मनोमार्ग से अतिक्रान्त है (वचन और मन से स्पष्ट कर सकने अथवा व्यक्त कर सकने योग्य नहीं है) ऐसे निकट परमपुरुष में (अर्थात् निकट में ही मोक्ष प्राप्त करनेयोग्य पुरुष में) विधि क्या और निषेध क्या?' अर्थात् ऐसी शुद्धात्मा में मग्न रहनेवाले परमपुरुष, कोई विधि का अनुसरण करे या न करे तो उन्हें उसमें कुछ भी दोष नहीं है इसलिये उनके लिये कोई विधि निषेध नहीं है।

श्लोक १५६ :- 'जो सकल इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न होनेवाले कोलाहल से विमुक्त है

(अर्थात् जो ज्ञान सकल इन्द्रियों से होता है, ऐसे ज्ञानाकाररूपी विशेष, जिसमें गौण है ऐसा सामान्य ज्ञान है), जो नय और अनय के समूह से दूर है (अर्थात् नयातीत है, क्योंकि नय विकल्पात्मक होते हैं और सम्यग्दर्शन का विषय स्वरूप है, जो सभी विकल्पों से रहित है अर्थात् वह नयातीत) होने पर भी योगियों को (अर्थात् आत्मज्ञानियों को) गोचर है (अर्थात् नित्य लब्धरूप और कभी उपयोगरूप है), जो सदा शिवमय है (अर्थात् सिद्धसदृशभाव है), उत्कृष्ट है और जो अज्ञानियों को परम दूर है (क्योंकि वे शुद्धात्मा को एकान्त से ग्रहण करने का प्रयास करते हैं अर्थात् जैसा वह है नहीं, वैसी उसकी कल्पना करके ग्रहण करने का प्रयास करते हैं इसलिये वे मात्र भ्रम में ही रहते हैं और सत्य स्वरूप से योजनों दूर रहते हैं) ऐसा यह अनघ (शुद्ध) चैतन्यमय सहज तत्त्व अत्यन्त जयवन्त (बारम्बार अवलम्बन करने योग्य) है।'

श्लोक १५७ :- 'निजसुखरूपी सुधा के सागर में (यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है कि कोई वर्ग ऐसा मानता है कि योगपद्धति से सुधारस का पान करने से आत्मा का अनुभव होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। उन्हें एक बात यहाँ स्पष्ट समझने योग्य है कि वह अतीन्द्रिय आनन्द है कि जो स्वात्मानुभूति से आता है, उसे ही शास्त्रों में सुधा का सागर अर्थात् सुधारस कहा है, परन्तु किसी शारीरिक क्रिया अथवा तो पुद्गलरूपी रस के विषय की यहाँ बात नहीं है, क्योंकि अनुभव काल में कोई देहभाव होता ही नहीं, स्वयं मात्र शुद्धात्म ही होता है तो पुद्गलरूपी रस की बात ही कहाँ से होगी? अर्थात् होती ही नहीं। ऐसे सुधा के सागर में) डूबते हुए इस शुद्धात्मा को जानकर भव्य जीव परमगुरु द्वारा (इस ज्ञान का प्राय: अभाव होने से इसकी दुर्लभता बताने को परमगुरु शब्द प्रयोग किया है) शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं; इसलिये, भेद के अभाव की दृष्टि से (अर्थात् स्वानुभूति में कुछ भेद ही नहीं अर्थात् वहाँ द्रव्य-पर्याय अथवा तो पर्याय के निषेध इत्यादि कोई भेद ही नहीं है, उसमें तो मात्र द्रव्यदृष्टि ही महत्त्व की है कि जिसमें पर्याय ज्ञात ही नहीं होती अर्थात् पूर्ण द्रव्य मात्र शुद्धात्मारूप ही ज्ञात होता है; ऐसी दृष्टि से) जो सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य (अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द, न कि पुद्गलरूपी सुधारस) द्वारा शुद्ध है ऐसे किसी (अद्भुत) सहज तत्त्व को (परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा को) मैं भी सदा अति अपूर्व रीति से अत्यन्त भाता हूँ।'

श्लोक १५८ :- 'सर्व संग से निर्मुक्त, निर्मोही, अनघ और पर भाव से मुक्त ऐसे इस परमात्मतत्त्व को (इस प्रकार से भेदज्ञानपूर्वक ग्रहण किये हुए शुद्धात्मा को) मैं निर्वाणरूपी स्त्री से उत्पन्न होनेवाले अनंग सुख के (अतीन्द्रिय सुख के) लिये नित्य सम्भाता हूँ (सम्यक्रूप से भाता हूँ - अनुभव करता हूँ) और प्रणाम करता हूँ।'

श्लोक १५९ :- 'निज भाव से भिन्न ऐसे सकल विभाव को छोड़कर (अर्थात् यहाँ भेदज्ञान बताया है) एक निर्मल चिन्मात्र को (ज्ञान सामान्यरूपी परमपारिणामिकभाव को) मैं भाता हूँ। संसार सागर से तिर जाने के लिये, अभेद कहे हुए (ऊपर जिस प्रकार अभेद समझाया है, उस प्रकार से अभेद कहे हुए) मुक्ति के मार्ग को भी मैं नित्य नमन करता हूँ।' जो सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है।

श्लोक १६० :- 'जो कर्म के दूरी के कारण (अर्थात् कर्म और उनके निमित्त से होनेवाले भावों से भेदज्ञान करने से वे गौण हो गये हैं और स्वयं को शुद्धात्मा प्राप्त हुआ है, उसके कारण) प्रकट सहजावस्थापूर्वक (अर्थात् सहजपरिणमनरूपी परमपारिणामिकभाव जो कि पंचमभाव भी कहलाता है, उसमें ही 'मैंपन' करके) रहा हुआ है, जो आत्मनिष्ठापरायण (आत्मस्थित) समस्त मुनियों की मुक्ति का मूल है (अर्थात् ऐसे शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करने योग्य है और उसका ही ध्यान करने योग्य है अर्थात् उसका ही सेवन करने से मुक्ति मिलती है अर्थात् श्रेणी चढ़ी जाती है और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होते है और आयुक्षय से मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिये शुद्धात्मा को मुक्ति का मूल कहा है) जो एकाकार है (अर्थात् सदा वैसा का वैसा ही उपजने से त्रिकाली शुद्ध अर्थात् तीनों काल एक जैसा ही है इसलिये उसे त्रिकाली ध्रुव भी कहा जाता है), जो निजरस के फैलाव से भरपूर होने से (यहाँ निजरस कहा कि जो आत्मा का अरूपी अतिन्द्रिय आनन्द है, न कि कोई रूपी पुद्गल द्रव्यरूपी सुधारस) पवित्र है और जो पुराण है (अर्थात् सनातन है - तीनों काल वैसा का वैसा ही उपजता हुआ वह सहज परिणमनरूपी परमपारिणामिकभाव कहलाता है), वह शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् त्रिकाल परम शुद्ध) एक पंचमभाव सदा जयवन्त है।'

श्लोक १६१ :- 'अनादि संसार से समस्त जनता (जन समूह) को तीव्र मोह के उदय के कारण ज्ञानज्योति सदा मत्त है, काम के वश है, (यहाँ आचार्य भगवन्त ने जगत की स्थिति का बयान किया है कि आप सब विषय-कषाय में रत हो और उपदेश भी दिया है कि आप उन विषय-कषाय में रतपना - वशपना छेदकर/छोड़कर ज्ञानज्योति का अनुभव करें) और निज आत्मकार्य में मूढ़ है (अर्थात् संसार की समस्त होशियारी होने पर भी अपनी आत्मा की प्राप्ति के लिये योग्यकाल की राह देखता अर्थात् नियतिवादी बनकर बैठा रहता है और अपना पूर्ण पुरुषार्थ संसार के लिये प्रयोग करता है और निज आत्मकार्य में मूढ़ है अर्थात् पुरुषार्थहीन है)। मोह के अभाव से वह ज्ञानज्योति शुद्धभाव को पाता है (अर्थात् परमपारिणामिकभाव के अनुभवन और सेवन से श्रेणी चढ़कर मोह का अभाव करके ज्ञानज्योति अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा, केवलज्ञान-केवलदर्शनरूपी शुद्धभाव को प्राप्त करता है) जिस शुद्धभाव ने दिशा मण्डल को उज्ज्वल किया है (अर्थात् उससे तीन काल-तीन लोक

सहज ज्ञात होते हैं) और सहज अवस्था को प्रगट किया है (अर्थात् सर्व गुणों की साक्षात् शुद्ध दशा प्रकट की है)।' यही विधि है सिद्धत्व की प्राप्ति की।

श्लोक १६७ :– 'शुभ और अशुभ से रहित शुद्ध चैतन्य की भावना (विभावभावरहित शुद्धात्मा अर्थात् परमपारिणामिकभाव की ही भावना कि जो भाव श्री समयसार गाथा ६ में कहे अनुसार प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं मात्र एक ज्ञायकभाव है, यह भावना) मेरे अनादि संसार रोग की उत्तम औषधि है।' अर्थात् जो निर्विकल्प आत्मस्वरूप है अर्थात् शुद्धात्मा है, वही सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है और सम्यग्दृष्टि को आगे की साधना में वही ध्यान का भी विषय है।

श्लोक १७० :– 'जिसने सहज तेज (सहजपरिणमनरूपी परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा को भाने) से रागरूपी अन्धकार का नाश किया है (अर्थात् रागरूपी विभावभाव का जिसके भाने से नाश हुआ है अर्थात् जिसके कारण वीतरागता आयी है), जो मुनिवरों के मन में बसता है (मुनिवर उसी का ध्यान करते हैं और उसी का सेवन करते हैं अर्थात् उसमें ही अधिक से अधिक स्थिरता करने का पुरुषार्थ करते हैं), जो शुद्ध-शुद्ध (जो अनादि-अनन्त शुद्ध) है, जो विषयसुख में रत जीवों को सर्वदा दुर्लभ है (अर्थात् मुमुक्षु जीव को समस्त विषय-कषाय के प्रति आदर छोड़ देना आवश्यक है अर्थात् अत्यन्त आवश्यकता के सिवाय उनका ज़रा भी सेवन न करने से उनके प्रति आदर निकल जाता है; उसकी परीक्षा के लिये 'मुझे क्या रुचता है?' ऐसा प्रश्न अपने को पूछकर उसका उत्तर खोजना और यदि उत्तर में संसार अथवा संसार के सुखों के प्रति आकर्षण/आदरभाव हो तो समझना कि मुझे अभी विषय-कषाय का आदर है, संसार का आदर है जो कि छोड़ने योग्य है क्योंकि वह अनन्त परावर्तन कराने में सक्षम है), (शुद्धात्मा) जो परमसुख का समुद्र है, जो शुद्धज्ञान है (अर्थात वह ज्ञानसामान्य मात्र है) और जिसने निद्रा का नाश किया है (अर्थात् इस शुद्धात्मा को भाने से जिन्होंने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया है उन्होंने इस भावना के बल से ही निद्रा का नाश किया है) वह यह (शुद्धात्मा) जयवन्त है (अर्थात् वह शुद्धात्मा ही सर्वस्व है)।'

श्लोक १९० :– 'जिसने नित्यज्योति (अनादि-अनन्त शुद्धभावरूपी परमपारिणामिकभाव) द्वारा तिमिरपुंज का नाश किया है, जो आदि-अन्तरहित है (अर्थात् तीनों काल शुद्ध ही है), जो परमकला सहित है और जो आनन्द मूर्ति है ऐसी एक शुद्ध आत्मा को जो जीव शुद्ध आत्मा में अविचल मनवाला होकर निरन्तर ध्याता है (अर्थात् उसी का ध्यान करता है), वह यह आचारवान (चारित्रवान) जीव शीघ्र बन्धनमुक्त होता है।' जो केवल सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है।

श्लोक १९३ :- 'यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और वह फल है – ऐसे विकल्पजालों से जो मुक्त है (अर्थात् जो निर्विकल्प शुद्धात्मा है) उसे मैं नमन करता हूँ (स्तवन करता हूँ, सम्यक् प्रकार से भाता हूँ)।' उसी का मैं ध्यान करता हूँ और उसी में 'मैंपन' करता हूँ कि जिस से मैं निर्विकल्प होता हूँ अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव करता हूँ; किसी भी विकल्परूपी ध्यान से इस शुद्धात्मा का निर्विकल्प ध्यान उत्तम है, आचरणीय है। **वह ध्यान सम्यग्दर्शन के बाद ही होता है।**

गाथा १२३ : अन्वयार्थ :- 'संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि है।' सम्यग्दृष्टि की आगे की भूमिका में जो करने योग्य है अर्थात् जो सहज होता है, उसका वर्णन किया है और दूसरों को भी वह प्राप्त करने योग्य है।

श्लोक २०२ :- 'वास्तव में समतारहित (अर्थात् सम्यग्दर्शनरहित, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को ही सच्ची समता बतायी है) यति को अनशनादि तपश्चरणों से फल नहीं है (अर्थात् मुक्तिरूपी फल नहीं है परन्तु संसाररूपी फल है जो कि हेय है, इसलिये कहा है कि फल नहीं है); इसलिये हे मुनि! समता का कुल मन्दिर ऐसा जो अनाकुल निजतत्त्व (=शुद्धात्मा) है उसे भज।' अर्थात् सर्वप्रथम शुद्धात्मा की प्राप्ति के उपायों का चिन्तन, निर्णय, लक्ष्य और वैराग्यादि योग्यता करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य है क्योंकि तत्पश्चात् ही सर्व तपश्चरण का अपूर्व फल अर्थात् मुक्तिरूपी फल मिलता है, अन्यथा नहीं। इसलिये जिस को भी बग़ैर सम्यग्दर्शन के अभ्यासरूप से मुनिपना लेना है, उसको एकमात्र लक्ष्य आत्मप्राप्ति का ही रखना चाहिये और आत्मप्राप्ति के लिये ही पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये।

श्लोक २०७ :- 'मैं – सुख की इच्छा रखनेवाला आत्मा – अजन्म और अविनाशी ऐसे निज आत्मा को आत्मा द्वारा ही आत्मा में स्थिर रहकर बारम्बार भाता हूँ।' जो कोई परमसुख के इच्छुक हैं उनके लिये एकमात्र शुद्धात्मा का ही लक्ष्य और शुद्धात्मा का ही ध्यान श्रेष्ठ है क्योंकि उसी से मुक्ति मिलेगी। **वह ध्यान सम्यग्दर्शन के बाद ही होता है।**

श्लोक २११ :- 'यह अनघ (निर्दोष = शुद्ध) आत्म तत्त्व जयवन्त है – कि जिसने संसार को अस्त किया है (अर्थात् संसार के अस्त के लिये अर्थात् मुक्ति के लिये यह शुद्धात्मा ही शरण भूत – सेवने योग्य है), जो महामुनिगण के आदिनाथ (गणधरों) के हृदयारविन्द (मन) में स्थित है, जिसने भव का कारण त्याग दिया है (अर्थात् जो इस भाव में स्थिर हो जाता है, उसे अब फिर कोई भव रहता ही नहीं क्योंकि वह मुक्त ही हो जाता है), जो एकान्त से शुद्ध प्रगट हुआ है (अर्थात् जो सर्वथा शुद्धरूप से स्पष्ट ज्ञात होता है अर्थात् जो तीनों काल शुद्ध ही होता है परन्तु सम्यग्दर्शन होने

से, उस एकान्त से शुद्ध अर्थात् तीनों काल शुद्ध ही है, वह प्रगट हुआ, अनुभव में आया इसलिये प्रथम से वह शुद्ध ही होने पर भी उसका अनुभव न होने से, अनुभूति की अपेक्षा से वह प्रगट हुआ कहलाता है) और जो सदा (टंकोत्कीर्ण चैतन्यसामान्यरूप अर्थात् ज्ञेय गौण होते ही जो जानने-देखनेवाला शेष रहता है, वह तीनों काल वैसा का वैसा ही ज्ञानसामान्यरूप होने से, टंकोत्कीर्ण कहलाता है; दूसरे प्रकार से ज्ञेय विशेष है और वह जिनका बना हुआ है अर्थात् ज्ञान का, उसे सामान्यज्ञान अर्थात् चैतन्यसामान्य कहा जाता है, जो सदा) निज महिमा में लीन होने पर भी सम्यग्दृष्टियों की अनुभूति में आता है।'

श्लोक २१६ :- 'यह स्वत: सिद्ध ज्ञान (अर्थात् ऊपर बताये अनुसार का परमपारिणामिकभाव रूपी सामान्यज्ञान) पाप-पुण्यरूपी वन को जलानेवाली अग्नि है (अर्थात् अपूर्व निर्जरा का कारण है) महा-मोहान्धकारनाशक (अर्थात् मोह का नाश करके अरिहन्त पद दिलानेवाला है) अति प्रबल तेजमय है। विमुक्ति का मूल है और निरूपाधि महा-आनन्द सुख का (अर्थात् अतीन्द्रिय शाश्वत् सुख का) दायक है। भवभय का ध्वंस करने में निपुण (अर्थात् मुक्ति दिलानेवाले) ऐसे इस ज्ञान को मैं नित्य पूजता हूँ।' सम्यग्दृष्टि उसे ही नित्य भाता है और उसमें ही स्थिरता का पुरुषार्थ करता है।

श्लोक २२० :- 'जो भवभय के हरनेवाले इस सम्यक्त्व की, शुद्धज्ञान की और चारित्र की भवछेदक (अर्थात् यह सम्यग्दर्शन, शुद्धज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान और उसी में स्थिरता करनेवाले चारित्र को भवभय का हरनेवाला कहा है अर्थात् मुक्तिदाता कहा है) अतुलभक्ति निरन्तर करता है, वह काम-क्रोधादि समस्त दुष्ट पापसमूह से मुक्त चित्तवाला जीव, श्रावक हो या संयमी हो निरन्तर भक्त है, भक्त है।' अर्थात् जिनसिद्धान्त के अनुसार ऐसी अभेद भक्ति ही कार्यकारी है और इसलिये ऐसी ही भक्ति करने का प्रयास करना चाहिये। **वह सम्यग्दर्शन के बाद ही होती है।**

श्लोक २२७ :- 'इस अविचलित-महाशुद्ध-रत्नत्रयवाले मुक्ति के हेतुभूत निरुपम-सहज-ज्ञानदर्शनचारित्ररूपी (अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि अनन्त गुणों का सहज परिणमनरूपी परम पारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा), नित्य आत्मा में (अर्थात् शुद्धात्मा जो कि नित्य शुद्धरूप वैसा का वैसा ही उपजता है अर्थात् परिणमता है ऐसी नित्य आत्मा में) आत्मा को वास्तव में सम्यक् प्रकार से स्थापित करके (अर्थात् उसी का अनुभव करके और उसी का ध्यान धरकर) यह आत्मा चैतन्य चमत्कार की (सामान्य चेतनारूपी परमपारिणामिकभाव की) भक्ति द्वारा निरतिशय (बेजोड़) घर को, जिसमें से विपदायें दूर हो गयी हैं और जो आनन्द से भव्य है प्राप्त करता है अर्थात् सिद्धि रूपी स्त्री का स्वामी होता है।' शुद्धात्मा के ध्यान से ही अरिहन्त होता है और फिर सिद्ध होकर मुक्त होता है।

गाथा १३७ टीका का श्लोक :- 'आत्मप्रयत्न सापेक्ष विशिष्ट जो मनोगति (अर्थात् नोइन्द्रियरूपी मन द्वारा जो, आत्मा को स्वानुभव होता है वह), उसका ब्रह्म में संयोग होना (अर्थात् स्वात्मानुभूति होती है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित शुद्धात्मा में = ब्रह्म में, 'मैंपन' = सोऽहं होते ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है), उसे योग कहा जाता है।' जिनसिद्धान्त के अनुसार योग की यह व्याख्या है और यही योग आत्मा के लिये हितकर है, जबकि अन्य प्रकार के योग, मात्र विकल्परूपी आर्तध्यान के कारण होने से सेवन योग्य नहीं हैं। अब आगे योग भक्तिवाले जीव की व्याख्या करते हैं, वही भक्ति का स्वरूप भी है।

श्लोक २२८ :- 'जो आत्मा ख़ुदको अपने साथ निरन्तर जोड़ती है (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा का ही ध्यान करती है, अनुभव करती है), वह मुनीश्वर निश्चय से योग भक्तिवाला है।'

गाथा १३८ : अन्वयार्थ :- 'जो साधु सभी विकल्पों के अभाव में (अर्थात् निर्विकल्प स्वरूप परमपारिणामिकभाव में) आत्मा को जोड़ता है (अर्थात् उसमें ही 'मैंपन' करता है), वह योग भक्तिवाला है; दूसरे को योग किस प्रकार हो सकता है?' अर्थात् ऐसे स्वात्मानुभूतिरूपी योग के अतिरिक्त दूसरे को योग माना ही नहीं अर्थात् दूसरा कोई योग कार्यकारी नहीं है।

श्लोक २२९ :- 'भेद का अभाव होने पर (अर्थात् अभेदभाव से शुद्धात्मा को भाने पर अर्थात् अनुभव करने पर) श्रेष्ठ योग भक्ति होती है; उसके द्वारा योगियों को आत्मलब्धिरूपी ऐसी वह (प्रसिद्ध) मुक्ति होती है।' अर्थात् ऐसा ही योग मुक्ति का कारण है और इसलिये अभेदभाव से शुद्धात्मा ही भाने योग्य है, अन्य कोई नहीं। वह योग सम्यग्दर्शन के बाद ही होता है।

गाथा १३९ : अन्वयार्थ :- 'विपरीत अभिनिवेश का परित्याग (अर्थात् मताग्रह, हठाग्रह इत्यादि का त्याग) करके जो जिनेन्द्रकथित तत्त्वों में आत्मा को जोड़ता है, उसका निज भाव (अर्थात् शुद्धात्मानुभूति) योग है।' वह योग सम्यग्दर्शन के बाद ही होता है।

गाथा १४० : अन्वयार्थ :- 'वृषभादि जिनवरेन्द्र इस प्रकार योग की उत्तम भक्ति करके निवृत्तिसुख को प्राप्त हुए; इसलिये योग की (ऐसी) उत्तम भक्ति को तू धारण कर (न कि अन्धभक्ति अथवा व्यक्तिराग से प्रेरित भक्ति को)।' वह योग सम्यग्दर्शन के बाद ही होता है।

श्लोक २३३ :- 'अपुनर्भव सुख (मुक्तिसुख) की सिद्धि के लिये मैं शुद्ध योग (शुद्धात्मा में 'मैंपन' करनेवाले योग) की उत्तम भक्ति करता हूँ (उसे ही बारम्बार भाता हूँ), संसार की घोर भीति से सभी जीव नित्य यह उत्तम भक्ति करें।' सब को उसी शुद्ध योग (सम्यग्दर्शन) की भक्ति की ही

प्रेरणा देते है, न कि चापलूसीवाली भक्ति की अथवा व्यक्तिराग से प्रेरित भक्ति की।

गाथा १४१ : अन्वयार्थ :- 'जो अन्य के वश नहीं (सम्यग्दृष्टि पूर्ण भेदज्ञान करके मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करता है और इस कारण से वह जिन कर्मों का उदय होता है अर्थात् उदय आता है, उन्हें समताभाव से भोगता है अर्थात् उसमें अच्छा-बुरा अर्थात् इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं करता, इसलिये वह अन्य के वश में नहीं है) उसे (निश्चय परम) आवश्यक कर्म कहते हैं (अर्थात् उस जीव को आवश्यक कर्म है ऐसा परमयोगीश्वर कहते हैं)। (ऐसा) कर्म का विनाश करनेवाला योग (अर्थात् ऐसा जो आवश्यक कार्य) वह निर्वाण का मार्ग है ऐसा कहा है।'

श्लोक २३८ :- 'स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक कर्म स्वरूप यह साक्षात् धर्म नियम से (निश्चित रूप से) सच्चिदानन्दमूर्ति आत्मा में (सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा में अर्थात् परम पारिणामिकभावरूपी आत्मा में) अतिशय रूप से होता है। वह यह (आत्मस्थित धर्म), कर्म क्षय करने में कुशल है। ऐसा निर्वाण का एक मार्ग है। उस से ही मैं (अर्थात् उसमें ही 'मैंपन' करके मैं) शीघ्र कोई (अद्भुत) निर्विकल्पसुख को प्राप्त करता हूँ।' अर्थात् स्वात्मानुभूति में अद्भुत-अतीन्द्रिय निर्विकल्प आनन्द ही होता है, उसे मैं प्राप्त करता हूँ।

श्लोक २३९ :- 'कोई योगी स्वहित में लीन रहता हुआ शुद्ध जीवास्तिकाय (अर्थात् पूर्ण जीव जो कि प्रमाण का विषय है, उसमें से विभावभाव अर्थात् पर लक्ष्य से/कर्म के लक्ष्य से होनेवाले भावों को गौण करते ही, अर्थात् उस जीव को द्रव्यदृष्टि से निहारते ही वह परम पारिणामिकभावरूपी शुद्ध जीवास्तिकाय प्राप्त होता है, वह अपने) अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं होता, ऐसा जो सुस्थित रहना, वह निरुक्ति (अर्थात् अवशपने का व्युत्पत्ति अर्थ) है, ऐसा करने से (अर्थात् अपने में लीन रहकर पर के वश नहीं होने से) दुरितरूपी (दुष्कर्मरूपी) तिमिरपुंज का जिसने नाश किया है (अर्थात् वह किसी भी प्रकार का पाप नहीं आचरता ऐसा अर्थात् भावमुनि) ऐसे उस योगी को सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा (अर्थात् परमपारिणामिकभावस्वरूपी कारणसमयसाररूपी सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा) सहज अवस्था (अर्थात् कार्य समयसाररूपी मुक्ति) प्रगट होने से अमूर्तपना (सिद्धत्व की प्राप्ति) होता है।'

श्लोक २४१ :- 'कलिकाल में (अर्थात् वर्तमान हुण्डावसर्पिणी पंचमकाल में) भी कहीं-कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादिरूपी मल कादव से रहित (अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित) और सद्धर्म रक्षामणि ऐसा समर्थ मुनि होता है जिसने अनेक परिग्रहों का विस्तार छोड़ा है और जो पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि है, ऐसा मुनि इस काल में भूतल में (पृथ्वी पर) तथा देवलोक में देवों द्वारा

भी भली प्रकार पूज्य है।' अर्थात् ऐसे समर्थ मुनि कोई विरले ही होते हैं जो कि अत्यन्त आदर के पात्र हैं। सम्यग्दर्शन की दुर्लभता बताई है।

श्लोक २४२ :- 'इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्रिय है; वह योग्य तपश्चर्या (मात्र आत्मलक्ष्य से और मुक्ति के लक्ष्य से) इन्द्रों को भी सतत वन्दनीय है। उसे पाकर जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसारजनित सुख में रमता है, वह जड़मति है। अरे रे! कलि से हना हुआ है।' अर्थात् चारित्र अथवा तपश्चर्या अंगीकार करने के बाद भी यदि किसी जीव को कामभोग के प्रति आदर जीवन्त रहता है तो वैसे जीव को जड़मति कहा है अर्थात् वैसा जीव अपना अनन्त संसार जीवन्त रखनेवाला है।

श्लोक २४३ :- 'जो जीव अन्य के वश (अर्थात् मिथ्यादृष्टि) है वह भले मुनिवेशधारी हो तथापि संसारी है, नित्य दुःख का भोगनेवाला है; जो जीव स्ववश (अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित) है वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वर से किंचित् न्यून है।' सम्यग्दर्शनसहित मुनि में जिनेश्वरदेव की अपेक्षा ज़रा-सी ही हीनता है यानी वैसे मुनि शीघ्र ही जिनत्व प्राप्त करने योग्य हैं और सम्यग्दर्शनरहित मुनिवेशधारियों को भी सर्वप्रथम में प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य है क्योंकि उसके बिना मोक्षमार्ग शुरु ही नहीं होता-ऐसा उपदेश भी दीया है।

श्लोक २४४ :- 'ऐसा होने से ही जिननाथ के मार्ग में मुनि वर्ग में स्ववश मुनि (अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित समताधारी मुनि) सदा शोभता है; और अन्य के वश मुनि नौकर के समूह में राजवल्लभ नौकर के समान शोभता है।' **अर्थात् सम्यग्दर्शनरहित मुनि सभी संसारीजनरूपी नौकरों में राजवल्लभ यानी ऊँची पदवीवाले नौकर की तरह शोभता है, उससे अधिक नहीं। वैसा मुनि भी ऊँची पदवीवाला संसारी ही है ऐसा बताकर सम्यग्दर्शन की ही महिमा समझायी है जो कि एकमात्र सभी जीवों का कर्तव्य है।**

श्लोक २४५ :- 'मुनिवर देवलोकादि के क्लेश के प्रति रति तजो और निर्वाण के कारण का कारण (अर्थात् निर्वाण का कारणरूप निश्चयचारित्र का कारण, ऐसे सम्यग्दर्शन का विषय) ऐसे सहज परमात्मा को भजो (अर्थात् जो सम्यग्दर्शन का विषय है, ऐसा परमपारिणामिकभाव जो कि आत्मा का सहज परिणमन है और इसी लिये उसे सहज परमात्मरूपी कहा जाता है, कि उसमें आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित 'मैंपन' होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है जो कि निश्चय चारित्र का कारण है, इसलिये इस सम्यग्दर्शन के विषय को निर्वाण के कारण का कारण कहा गया है)

जो कि सहज परमात्मा परमानन्दमय है, सर्वथा (अर्थात् तीनों काल – एकान्त से) निर्मल ज्ञान का आवास है, निरावरण स्वरूप है और नय–अनय के समूह से (सुनय और कुनयों के समूह से अर्थात् विकल्प मात्र से) दूर (अर्थात् निर्विकल्प) है।'

गाथा १४५ : अन्वयार्थ :– 'जो द्रव्य–गुण–पर्यायों में (अर्थात् उनके विकल्पों में) मन जोड़ता है, वह भी अन्यवश है; मोहान्धकाररहित श्रमण ऐसा कहते हैं।' ऊपर बताये अनुसार जो निर्विकल्प शुद्धात्मा है, उसमें ही उपयोग लगाने योग्य है, अन्यथा नहीं। इस अपेक्षा से भेदरूपी व्यवहार हेय है, उसका उपयोग वस्तु का स्वरूप समझने के लिये ही है – जैसे कि द्रव्य–गुण–पर्याय अथवा उत्पाद–व्यय–ध्रुव, अनन्त गुण और ४७ नय इत्यादि; परन्तु वे सभी भेद विकल्परूप होने से और वस्तु का स्वरूप अभेद होने से, भेदरूपी व्यवहार से वस्तु जैसी है वैसी समझकर भेद में न रहकर, अभेद में ही रमने योग्य है।

प्रश्न :– यहाँ किसी के मन में विकल्प हो कि दृष्टि का विषय तो पर्याय से रहित द्रव्य है न? तो?

उत्तर :– ऐसा विकल्प करने से वहाँ द्वैत का जन्म होता है अर्थात् एक अभेद द्रव्य में द्रव्य और पर्यायरूपी द्वैत का जन्म होने से, अभेद का अनुभव नहीं होता। अर्थात् दृष्टि का विषय अभेद, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से 'शुद्धात्मा' है और शुद्ध द्रव्यार्थिक नय में पर्याय अत्यन्त गौण हो जाने से ज्ञात ही नहीं होती। अथवा उसका विकल्प भी नहीं आता इसलिये अभेदरूपी शुद्धात्मा का अनुभव हो जाता है कि जिसमें विभाव पर्याय अत्यन्त गौण है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही विधि है निर्विकल्प सम्यग्दर्शन की अर्थात् उस में द्रव्य को पर्यायरहित प्राप्त करने का अथवा किसी भी विभावभाव के निषेध का विकल्प न करके, मात्र दृष्टि के विषयरूपी 'शुद्धात्मा' को ही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से ग्रहण करने पर अन्य सब स्वयमेव ही अत्यन्त गौण हो जाते हैं। परन्तु जो ऐसा न करके निषेध का ही आग्रह रखते हैं, वे मात्र निषेधरूपी विकल्प में ही रहते हैं और निर्विकल्प स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकते। वे मात्र भ्रम में ही रहते हैं और अपने को सम्यग्दृष्टि समझकर अनन्त परावर्तन को आमन्त्रण देते हैं, जो करुणा उपजानेवाली बात है।

श्लोक २४६ :– 'जैसे ईंधनयुक्त अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है (अर्थात् जब तक ईंधन है, तब तक अग्नि की वृद्धि होती है), उसी प्रकार जब तक जीवों को चिन्ता (विकल्प) है, तब तक संसार है।' आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित निर्विकल्प स्वरूप 'शुद्धात्मा' ही उपादेय है।

गाथा १४६ : अन्वयार्थ :– 'जो परभाव का परित्याग कर (अर्थात् दृष्टि में अत्यन्त गौण

होकरके) निर्मल स्वभाववाले आत्मा को ध्याता है, वह वास्तव में आत्मवश है (अर्थात् स्ववश है) और उसे (निश्चयपरम) आवश्यक कर्म (जिनवर) कहते हैं।' अर्थात् आत्मध्यान परम आवश्यक है।

श्लोक २४९ :- 'निर्वाण का कारण ऐसा जो जिनेन्द्र का मार्ग है, उसे इस प्रकार जान कर (अर्थात् जिनेन्द्र कथित निर्वाण का मार्ग यहाँ समझाये अनुसार ही है, अन्यथा नहीं, इसलिये उसे इस प्रकार जानकर) जो निर्वाण सम्पदा को प्राप्त करता है उसे मैं बारम्बार वन्दन करता हूँ।'

श्लोक २५२ :- 'जिसने निजरस के विस्ताररूपी बाढ़ द्वारा पापों को सभी ओर से धो डाला है (अर्थात् शुद्धात्मा में पापरूप सभी विभावभाव अत्यन्त गौण होने से अर्थात् ज्ञात ही न होते होने से और उनमें 'मैंपन' भी न होने से ऐसा कहा है), जो सहज समतारस से पूर्ण भरा हुआ होने से पवित्र है (अर्थात् शुद्धात्मा सभी गुणों के सहज परिणमनरूपी परमपारिणामिकभावरूपी सहज समतारस से पूर्ण होता है), जो पुराण (अर्थात् शुद्धात्मा सनातन – त्रिकाल शुद्ध) है, जो स्ववश मन में सदा सुस्थित है (अर्थात् सम्यग्दर्शनयुक्त को वह भाव सदा लब्धरूप से होता है) और जो शुद्ध सिद्ध है (अर्थात् शुद्धात्मा, सिद्ध भगवान समान शुद्ध है और इसी अपेक्षा से 'सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं' कहा जाता है) ऐसा सहज तेज राशि में मग्न जीव (स्वात्मानुभूतियुक्त जीव) जयवन्त हो।'

गाथा १४७ : अन्वयार्थ :- 'यदि तू (निश्चय परम) आवश्यक को चाहता है तो तू आत्मस्वभावों में (अर्थात् शुद्धात्मा में) स्थिरभाव करता है, उससे जीव का सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है।' अर्थात् जो जीव शुद्धात्मा में ही स्थिरभाव करता है, उसे ही कार्यकारी = सच्ची सामायिक कही है, उसी को अपूर्व निर्जरा होती है। वह सम्यग्दर्शन के बाद ही होती है।

श्लोक २५६ :- 'आत्मा को अवश्य मात्र सहज-परम-आवश्यक को एक को ही, कि जो अघ समूह (दोष समूह) का नाशक है और मुक्ति का मूल (कारण) है उसे ही -अतिशयरूप से करना (सहज परम-आवश्यक वह कोई शारीरिक अथवा शाब्दिक क्रिया न होने से, मात्र मन की ही क्रिया है अर्थात् अतीन्द्रिय ध्यानरूपी होने से अतिशयरूप से करने को कहा है)। (ऐसा करने से) सदा निजरस के फैलाव से पूर्ण भरपूर होने से (शुद्धात्मा में मात्र निजगुणों का सहज परिणमन ही ग्रहण होता है कि जो सम्पूर्ण होने के कारण) पवित्र और पुराण (सनातन – त्रिकाल) ऐसा वह आत्मा वाणी से दूर (वचन अगोचर) ऐसे सहज शाश्वतसुख को (सिद्धों के सुख को) प्राप्त करता है।'

श्लोक २५७ :- 'स्ववश मुनीन्द्र को (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रयुक्त मुनीन्द्र को) उत्तम स्वात्मचिन्तन (निजात्मानुभवन) होता है, और वह (निजात्मा के सुख का अनुभवरूपी)

आवश्यक कर्म उसके मुक्तिसुख (सिद्धत्व) का कारण होता है।'

गाथा १५१ : अन्वयार्थ :- 'जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत है वह भी अन्तरात्मा है। ध्यानविहीन (अर्थात् इन दोनों ध्यानविहीन) श्रमण बहिरात्मा है, ऐसा जान।'

गाथा १५४ : अन्वयार्थ :- 'यदि किया जा सके तो अहो! ध्यानमय (स्वात्मानुभूतिरूपी शुद्धात्मा के ध्यानमय) प्रतिक्रमणादि कर; यदि तू शक्ति विहीन हो (अर्थात् यदि तुझे सम्यग्दर्शन हुआ न हो और इस कारण से शुद्धात्मानुभूतिरूपी ध्यान करने में शक्ति विहीन हो) तो वहाँ तक (अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन न हो तब तक) श्रद्धान ही (अर्थात् यहाँ बतायी तत्त्व की उसी प्रकार से श्रद्धा) कर्तव्य (अर्थात् करने योग्य) है।'

श्लोक २६४ :- 'असार संसार में, पाप से भरपूर कलिकाल का विलास होने पर, इस निर्दोष जिननाथ के मार्ग में मुक्ति नहीं है, इसलिये इस काल में अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है? इसलिये निर्मल बुद्धिवाले भवभय का नाश करनेवाली ऐसी इस (ऊपर बताये अनुसार की) निजात्म श्रद्धा को अंगीकृत करते हैं।' अर्थात् इस काल में सम्यग्दर्शन अत्यन्त दुर्लभ होने से यहाँ बताये अनुसार अपनी आत्मा की श्रद्धा परम कर्तव्य है। वही कार्यकारी = सच्ची भक्ति है। इस पंचमकाल में सत्यधर्म का महत् अंश से लोप हो जाने के कारण धर्म में कई प्रकार की विकृतियाँ आ गयी हैं, इसलिये सत्य समझने के लिये भी साधक को निर्मल बुद्धि होना आवश्यक है, अन्यथा वह प्राय: एकान्त मार्ग में ही श्रद्धा कर बैठेगा; इससे मुक्ति के बजाय अनन्त संसार मिलेगा, यह बात समझाई है।

गाथा १५६ : अन्वयार्थ :- 'नाना प्रकार के जीव हैं। नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धि है, इसलिये स्वसमयों (स्वधर्मियों) और परसमयों (परधर्मियों) के साथ वचन विवाद वर्जन योग्य है।' तत्त्व के लिये कुछ भी वाद-विवाद, वैर-विरोध, झगड़ा कभी भी करने योग्य नहीं है क्योंकि उससे तत्त्व की ही पराजय होती है। धर्म ही लजाता है। दोनों पक्षों को धर्म प्राप्त नहीं होता, इसलिये उसमें वाद-विवाद, वैर-विरोध, झगड़ा त्यागने योग्य ही है।

श्लोक २७१ :- 'हेय ऐसा जो कनक और कामिनीसम्बन्धी मोह, उसे छोड़ कर (अर्थात् मुमुक्षु जीव को आत्मप्राप्ति के लिये यह मोह छोड़ने योग्य है), हे चित्त (अर्थात् चेतन)! निर्मल सुख के लिये (अर्थात् अतीन्द्रिय सुख के लिये) परमगुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके तू अव्यग्र रूप (शान्त स्वरूपी) परमात्मा में (अर्थात् निर्विकल्प परमपारिणामिकभावरूपी त्रिकाली शुद्ध आत्मा में) जो (परमात्मा - शुद्धात्मा) नित्य आनन्दवाला है, निरुपम गुणों से अलंकृत है और दिव्य ज्ञानवाला (अर्थात्

शुद्ध सामान्य ज्ञानवाला शुद्धात्मा) है – शीघ्र प्रवेश कर।' अर्थात् सभी मुमुक्षु जीवों को कनक और कामिनी सम्बन्धी मोह छोड़कर आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित शुद्धात्मा को ही शीघ्र पाकरके उसी की ही अनुभूति में एकरूप हो जाने की प्रेरणा की है अर्थात् सभी मुमुक्षु जीवों को आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित आत्मा की अनुभूति ही करने योग्य है।

गाथा १५९ टीका का श्लोक :– 'वस्तु का यथार्थनिर्णय वह सम्यग्ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान, दीपक की भाँति स्व और (पर) पदार्थों के निर्णयात्मक है (अर्थात् यह सम्यग्ज्ञान वही विवेकयुक्त ज्ञान है कि जो शुद्धात्मा में 'मैंपन' करने पर भी, आत्मा को वर्तमान राग–द्वेषरूपी अशुद्धि से मुक्त कराने के लिये, विवेकयुक्त मार्ग अंगीकार कराता है) तथा प्रमिति (ज्ञप्ति) से कथंचित् भिन्न (अर्थात् जो जानना होता है, वह विशेष अर्थात् ज्ञानाकार है जोकि ज्ञान का ही बना हुआ होने पर भी, उस ज्ञानाकार को दृष्टि का विषय प्राप्त करने में गौण किया होने से और वह ज्ञानाकार तथा ज्ञान कथंचित् अभेद होने से अर्थात् एकान्त से भेद नहीं होने से उन्हें कथंचित् भिन्न कहा) है।'

गाथा १६४ : अन्वयार्थ :– 'व्यवहारनय से ज्ञान पर प्रकाशक है; इसलिये दर्शन पर प्रकाशक है; व्यवहारनय से आत्मा पर प्रकाशक है इसलिये दर्शन पर प्रकाशक है।' जो ज्ञान है अथवा दर्शन है, वही आत्मा है और पर प्रकाशन में (ज्ञेयाकाररूपी ज्ञान के परिणमन में) सामान्यज्ञान और ज्ञेयाकार अर्थात् ज्ञानाकार ऐसा भेद होने से, स्व से कथंचित् भिन्न कहलाता है। यानी स्व, अभेद और निर्विकल्पस्वरूपी है, जबकि पर प्रकाशन में ज्ञेयाकाररूपी जो ज्ञान का परिणमन होता है वह विकल्परूप है और इसलिये वह भेदरूप होने से उसे व्यवहार कहा है, क्योंकि भेद यानी व्यवहार और अभेद यानी निश्चय–ऐसी ही जिनागम की रीति है। दूसरा, अगर कोई दर्शन को मात्र स्व प्रकाशक मानता है तो उस बात का भी खण्डन किया है।

गाथा १७० : अन्वयार्थ :– 'ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसीलिये आत्मा, आत्मा को जानता है, यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो आत्मा से व्यतिरिक्त (भिन्न) सिद्ध होगा।' इस गाथा में भी अगर कोई ज्ञान को मात्र पर प्रकाशक मानता है तो उस बात का खण्डन किया है।

गाथा १७१ : गाथा और अन्वयार्थ :–'रे! (इसलिये ही) जीव है वह ज्ञान है और ज्ञान है वह जीव है, इस कारण से निजप्रकाशक ज्ञान तथा दृष्टि है–आत्मा को ज्ञान जान, और ज्ञान आत्मा है ऐसा जान; इसमें सन्देह नहीं इसलिये ज्ञान तथा दर्शन स्व–पर प्रकाशक हैं।' अर्थात् जहाँ भी ज्ञान से कथन किया हो, वहाँ पूर्ण आत्मा ही समझना। तदुपरान्त कहीं किसी ने ज्ञान को साकार उपयोगवाला

होने के कारण मात्र पर को जाननेवाला कहा है, और दर्शन को निराकार उपयोगवाला होने के कारण मात्र स्व को जाननेवाला कहा है, इस बात का उपरोक्त गाथाओं से निषेध किया है।

गाथा १७२ : अन्वयार्थ :- 'जानते और देखते हुए भी (अर्थात् केवली भगवन्त स्व-पर को जानते-देखते हैं तो भी) केवली को इच्छापूर्वक (वर्तन) नहीं होता, इसलिये उन्हें 'केवल ज्ञानी' कहा है, और इसलिये अबन्धक कहा है' क्योंकि उन्हें पर में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं है अर्थात् पर का जानना जीव को दोषकारक नहीं परन्तु पर में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि ही नियम से दोषकारक अर्थात् बन्ध का कारण है। जो बात हमने पूर्व में भी बतायी है।

श्लोक २८७ :- 'आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूपी जान और ज्ञान-दर्शन को आत्मा जान; स्व और पर ऐसे तत्त्व को (समस्त पदार्थों को) आत्मा स्पष्ट रूप से प्रकाशित करती है।' अर्थात् जहाँ भी ज्ञान से अथवा दर्शन से कथन हुआ हो, वहाँ उसे अपेक्षा से पूर्ण आत्मा ही समझना और उसे नियम से स्व-पर प्रकाशक समझना।

श्लोक २९७ :- 'भाव पाँच हैं, उनमें यह परम पंचमभाव (परमपारिणामिकभाव) निरन्तर स्थायी है (अर्थात् तीनों काल वैसा का वैसा ही सहज परिणमनरूपी - शुद्धभावरूप उपजता है, इस अपेक्षा से स्थायी कहा है), संसार के नाश का कारण है और सम्यग्दृष्टियों को गोचर (अर्थात् अनुभव में आता) है, बुद्धिमान पुरुष समस्त राग-द्वेष के समूह को छोड़कर (अर्थात् द्रव्यदृष्टि को समस्त विभावभाव अत्यन्त गौण होकरके) तथा उस परम पंचमभाव को जानकर (अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति करके) अकेला (अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति के बाद की साधना आभ्यन्तर होने से अकेला कहा है अथवा इस काल में सम्यग्दर्शन की दुर्लभता दर्शाने के लिये अकेला कहा है), कलियुग में पापवन में अग्निरूप मुनिवररूप से शोभा देता है।' अर्थात् जो बुद्धिमान पुरुष परमपारिणामिकभाव का उग्ररूप से आश्रय करते हैं, वे ही पुरुष पापवन को जलाने में अग्नि समान मुनिवर हैं। यहाँ पर परमपंचमभाव को निरन्तर स्थायी कहा है अर्थात् अपेक्षा से उसे अपरिणामी कहा जा सकता है, परन्तु उसे एकान्त से अपरिणामी नहीं मानना। ऐसा मानने पर अनर्थ हो जायेगा और अपना संसार परिभ्रमण बढ़ जाएगा।

श्लोक २९९ :- 'आत्मा की आराधना से रहित जीव को सापराध (अपराधी) गिनने में आया है (इसलिये) मैं आनन्द मन्दिर आत्मा को (शुद्धात्मा को) नित्य नमन करता हूँ।' अर्थात् आत्मा के लक्ष्य के अतिरिक्त की सभी साधना-आराधना अपराधयुक्त कही है, क्योंकि उसका फल अनन्त संसार ही है।

इस प्रकार नियमसार शास्त्र में नियम से आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित कारणसमयसाररूपी निज शुद्धात्मा जो कि परमपारिणामिकभावरूपी अर्थात् सहज परिणमनरूप है, उस की ही अनुभूति करने को, उसे ही जानने को, उसे ही भजने को और उसमें ही स्थिरता करने को कहा है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही मोक्षमार्ग का निश्चित नियम अर्थात् क्रम है, इसलिये इसे निश्चित नियम का सार अर्थात् नियमसार कहा है। **वह ध्यान सम्यग्दर्शन के बाद ही होता है।**

- प्रश्न: हमने तो सुना है कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु कल्पनाजनित आत्मस्वरूप में रमने की आवश्यकता है। आप मना क्यों कर रहे हैं?
  उत्तर: मना इसलिये कर रहे हैं क्योंकि अज्ञानी नियम से पर्याय का ही वेदन करता है। इसलिये वह जब भी शुद्ध आत्मस्वरूप में रमने का प्रयास करता है तब उसकी कल्पना अपनी पर्याय में ही करेगा। वह अपनी पर्याय को ही अपना त्रिकाली स्वरूप मानकर भ्रम वश उसी का वेदन करने का प्रयास करेगा। जबकि अभी पर्याय तो त्रिकाली स्वरूप जैसी है ही नहीं। इसलिये वह भ्रम वश जो शुद्ध आत्मस्वरूप नहीं है उस कल्पनाजनित भ्रम में रमने का ही प्रयास करेगा जो कि आत्मप्राप्ति में ज़रा भी कार्यकारी नहीं है। इसे निश्चयाभास कहा जाता है। निश्चयाभास तो उसे भ्रम में ही रखने का काम करेगा जो कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा है। निश्चयाभास उसके सम्यक् पुरुषार्थ का छेदन कर देगा। निश्चयाभास के रहते परसन्मुखता कभी छूट ही नहीं सकती इसलिये हम अज्ञानी को बौद्धिक स्वरूप के कल्पनाजनित भ्रम में रमने को मना कर रहे हैं।
- पुद्गल कर्म जीव के विशेषभावों में ही निमित्त बनते हैं न कि जीव के सामान्यभावों में और समयसार जैसे ग्रन्थ का हार्द है ज्ञानसामान्यभाव यानी द्रव्यात्मा यानी शुद्धात्मा। समयसार ग्रन्थ में मुख्यत: जीव के सभी विशेषभावों को अनात्मा कहा गया है क्योंकि उन विशेषभावों से भेदज्ञान करने से ही समयसाररूप ज्ञानसामान्यभाव की अनुभूति होती है और समयसार में प्रमुखत: समयसाररूप ज्ञानसामान्यभाव को अनुभव करनेवाले ज्ञानी का ही वर्णन है। इसलिये कर्ता-कर्म अधिकार में भी केवल उपादान की अपेक्षा से ही कर्ता-कर्म की बात कही है। निमित्त को कर्ता के रूप में नहीं स्वीकारा है।

३३

पंचास्तिकाय संग्रह की गाथायें

अब हम श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र की थोड़ी सी गाथायें देखेंगे-

गाथा १६५ : अन्वयार्थ :- 'शुद्ध सम्प्रयोग से (शुद्ध एसे परमपारिणामिकभाव के प्रति भक्तिभाव से) दुःख मोक्ष होता है ऐसा यदि अज्ञान के कारण ज्ञानी (अर्थात् सम्यग्दर्शन रहित क्षयोपशमज्ञानी) माने, तो वह परसमयरत जीव है।' 'अरिहन्त आदि के प्रति भक्ति-अनुरागवाली मन्द शुद्धि से क्रम से मोक्ष होता है' ऐसा यदि अज्ञान के कारण (शुद्धात्म संवेदन के अभाव के कारण, रागांश के कारण) ज्ञानी को (अर्थात् क्षयोपशमज्ञानी को) भी मन्द पुरुषार्थवाला झुकाव वर्ते, तो वहाँ तक वह भी सूक्ष्म परसमयरत है। अर्थात् शुभभावरूपी जिनभक्ति से मुक्ति मिलती है, ऐसा जो मानता है वह मिथ्यात्वी है।

गाथा १६६ : अन्वयार्थ :- 'अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य (अरहन्त आदि की प्रतिमा), प्रवचन (शास्त्र), मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव बहुत पुण्य बाँधता है परन्तु वह वास्तव में कर्म का क्षय नहीं करता।' अर्थात् मोक्षमार्ग मात्र स्वात्मानुभूतिरूपी सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त मिलता ही नहीं, यही दृढ़ कराना है, इसलिये सभी को सम्यग्दर्शन के लिये ही सारे प्रयत्न करना चाहिये।

गाथा १६९ : अन्वयार्थ :- 'इसलिये मोक्षार्थी जीव (मुमुक्षु) निःसंग (अर्थात् स्वयं को शुद्धात्मरूप अनुभव करके, क्योंकि वह भाव त्रिकाल निःसंग है) और निर्मम (सबके प्रति ममता त्यागकर अर्थात् सभी संयोगीभाव में आदर छोड़कर निर्मम) होकर सिद्धों की (अभेद) भक्ति (शुद्ध आत्म द्रव्य में स्थिरतारूपी पारमार्थिक सिद्धभक्ति) करता है, इसलिये वह निर्वाण को पाता है।' हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं कि शुद्धात्मा की अभेदभक्ति ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी है, न कि अन्धभक्ति अथवा व्यक्तिरागरूपी भक्ति।

गाथा १७२ : अन्वयार्थ :- 'इसलिये मोक्षाभिलाषी जीव (मुमुक्षु) सर्वत्र किंचित् राग न करे; राग न करने से वह भव्य जीव वीतराग होकर भव सागर को तिरता है।' अर्थात् मोक्षाभिलाषी जीव को मत, पन्थ, सम्प्रदाय, व्यक्तिविशेष इत्यादि कहीं भी राग नहीं करना चाहिये।

३४

अट्ठपाहुड की गाथायें

अब हम अट्ठपाहुड शास्त्र की थोड़ी सी गाथायें देखेंगे–

'दर्शनपाहुड' गाथा ८ : अर्थ :– 'जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट है (अर्थात् मिथ्यात्वी है) तथा ज्ञान चारित्र में भी भ्रष्ट है, वे पुरुष भ्रष्ट में भी विशेष (अति) भ्रष्ट हैं। कोई दर्शनसहित है परन्तु ज्ञान–चारित्र उन्हें नहीं होता, तथा कोई अन्तरंग दर्शन से भ्रष्ट है तो भी ज्ञान–चारित्र का भली भाँति पालन करते हैं (यहाँ ज्ञान अर्थात् जिनागम का क्षयोपशम ज्ञान लेना) और जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र इन तीनों से भ्रष्ट हैं, वे तो अत्यन्त भ्रष्ट हैं। वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं परन्तु बाकी के अर्थात् अपने अतिरिक्त अन्य जनों को भी भ्रष्ट करते हैं।' इस गाथा से स्पष्ट होता है कि जिनसिद्धान्त में अनेकान्त प्रवर्तता है अर्थात् जिनसिद्धान्त में प्रत्येक कथन अपेक्षा से ही होता है और इसलिये कोई स्वच्छन्दता से ऐसा कहे कि सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त अभ्यासार्थ और पाप से बचने के लिये भी अहिंसादि व्रत–तप नहीं होते, उन्हें यहाँ भ्रष्ट से भी अतिभ्रष्ट कहा है और दूसरों को भी वे भ्रष्टरूप से प्रवर्तन करानेवाले कहे हैं।

अर्थात् इस काल में सम्यग्दर्शन अतिदुर्लभ होने के कारण, यदि कोई मिथ्यात्वी जीव (अर्थात् दर्शनविहीन जीव अथवा दर्शनभ्रष्ट जीव) ज्ञान अथवा चारित्र की आराधना करे, तो उसमें कुछ भी ग़लत नहीं है, मात्र वह ज्ञान और चारित्र उसे मुक्ति दिलाने में शक्तिमान नहीं होने से और गुणस्थानक अनुसार नहीं होने से, वे उसे मात्र अभ्यासरूपी और शुभभावरूप ही हैं, परन्तु उनकी कोई मनाही नहीं है, अपितु उनके लिये यहाँ प्रोत्साहन दिया है। इसलिये सभी को जिनसिद्धान्त सारी अपेक्षाओं से समझना अत्यन्त आवश्यक है, न कि एकान्त से, क्योंकि एकान्त अनेकों के परम अहित का कारण होने में सक्षम है।

'भावपाहुड' गाथा ८६ : अर्थ :– 'अथवा जो पुरुष आत्मा का इष्ट नहीं करता (अर्थात् जिसका लक्ष्य आत्मप्राप्ति नहीं) उसका स्वरूप जानता नहीं (अर्थात् आत्मस्वरूप का सत्य ज्ञान नहीं), उसे अंगीकार नहीं करता (अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं होने से मिथ्यात्वी है) और सभी प्रकार के समस्त पुण्य करता है तो भी सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं करता परन्तु वह पुरुष संसार में ही भ्रमण करता है।' अर्थात् जिसका लक्ष्य आत्मप्राप्ति नहीं, ऐसा जीव सभी प्रकार के समस्त पुण्य करता है तो भी सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं करता परन्तु वह पुरुष संसार में ही भ्रमण करता है इसलिये सारे मोक्षेच्छुकों को पूर्व में हमने देखा वैसा एकमात्र आत्मा के लक्ष्य से ही शुभ में

रहना और अशुभ का त्याग करना, ऐसा है विवेक। पाप का तो त्याग और एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से जो भाव हो वह नियम से शुभ ही हो, ऐसी है सहज व्यवस्था, परन्तु जो कोई इससे विपरीत ग्रहण करे तो उसके तो अब बाद के भवों का भी ठिकाना नहीं रहेगा और जिनधर्म इत्यादि उत्तम संयोग भी प्राप्त होने दुर्लभ हो जायेंगे। इसलिये शास्त्र में से छल ग्रहण नहीं करना चाहिये, अन्यथा अनन्त संसारभ्रमण ही प्राप्त होगा जो कि अनन्त दु:ख का कारण है।

'मोक्षपाहुड' गाथा ९ : अर्थ :- 'मिथ्यादृष्टि पुरुष अपनी देह के समान दूसरे की देह को देखकर, यह देह अचेतन है तो भी, मिथ्याभाव से आत्मभाव द्वारा बहुत प्रयत्न से, उसे पर की आत्मा ही मानता है, अर्थात् समझता है।' मिथ्यात्वी जीव इसी प्रकार से देहभाव पुष्ट करता है। यदि वह साक्षात् समोसरण में भी जाये तो भगवान की देह को ही आत्मा मानकर अथवा यदि वह मन्दिर में जाये तो भगवान की मूर्तिरूप देह को ही आत्मा मानता है और पूजता है और ऐसा करके वह अपना देहाध्यास ही पक्का करता है अर्थात् देहाध्यास ही दृढ़ करता है।

गाथा १८ : अर्थ :- 'संसार के दु:ख देनेवाले ज्ञानावर्णादिक दुष्ट आठ कर्मों से रहित है (अर्थात् जो सम्यग्दर्शन के विषयरूपी शुद्धात्मा है, उसमें द्रव्यदृष्टि से सभी विभावभाव अस्त हुआ है अर्थात् अत्यन्त गौण हो गया है, इसलिये वह दुष्ट आठ कर्मों से रहित कहा है।) जिसे किसी की उपमा नहीं दी जा सकती, ऐसा अनुपम है, जिसका ज्ञान वही शरीर है (अर्थात् जो सामान्यज्ञानमात्रभाव है, वह ही, परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा है वही), जिसका नाश नहीं होता ऐसा अविनाशी - नित्य है और शुद्ध अर्थात् विकाररहित है, वह केवल ज्ञानमयी आत्मा (अर्थात् सभी गुणों के सहज परिणमनरूपी परमपारिणामिकभाव कि जिसे शुद्धात्मा भी कहा जाता है, उसके सभी गुण शुद्ध ही परिणमते हैं, इस अपेक्षा से केवल ज्ञानमयी कहा है और दूसरे ऊपर बताये अनुसार जिसका ज्ञान ही शरीर है अर्थात् वह ज्ञानमात्रभाव होने से उसे केवल ज्ञानमयी कहा है) जिन भगवान सर्वज्ञ ने कहा है, वही स्वद्रव्य (अर्थात् वही मेरा स्व है और उसमें ही मेरा मैंपन/एकत्व होने योग्य है, इस अपेक्षा से उसे स्वद्रव्य कहा) है।' यह परमपारिणामिकभाव रूपी शुद्धात्मा ही उपादेय है और आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उसमें ही 'मैंपन' होने से स्वात्मानुभूतिरूपी सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, ऐसा इस गाथा में बताया है। दूसरे, कई लोग यहाँ बताये गये स्वभाव के लक्षण जैसे कि ज्ञानावर्णादिक आठ कर्मों से रहित या केवल ज्ञानमयी को हार्द समझे बिना शब्दश: पकड़कर और नयों से अपरिचित होने के कारण या तो नयों के पक्षवाले होने के कारण इसे समझ नहीं पाते।

गाथा २० : अर्थ :- 'योगी-ध्यानी-मुनि जिनवर भगवान के मत से शुद्धात्मा को ध्यान में ध्याते हैं (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा का ही ध्यान करने योग्य है, वही उत्तम है और उसके ध्यान

से ही व्यक्ति योगी कहलाते हैं), इसलिये वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं, तो उस से क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं हो सकता ? अवश्य ही प्राप्त हो सकता है।' अर्थात् अनेक लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के उपाय करते दिखते हैं तो उस उपाय से तो कदाचित् क्षणिक स्वर्ग प्राप्त हो भी अथवा न भी हो, परन्तु परम्परा में तो उसे अनन्त संसार ही मिलता है। जबकि शुद्धात्मा का अनुभव और ध्यान से मुक्ति मिलती है और मुक्ति न मिले तब तक स्वर्ग और स्वर्ग जैसा ही सुख होता है, इसलिये सभी को सम्यग्दर्शन पाकर उसी का ध्यान करने योग्य है जो कि मुक्ति का मार्ग है और उस मार्ग में स्वर्ग तो सहज ही होता है, उसकी याचना नहीं होती ऐसा बताया है।

गाथा ६६ : अन्वयार्थ :- 'जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में अपने मन को जोड़े रखता है (अर्थात् मन में इन्द्रियों के विषयों के प्रति आदरभाव वर्तता है), तब तक आत्मा को नहीं जानता (क्योंकि उसका लक्ष्य विषय है, आत्मा नहीं; इसलिये ही पूर्व में हमने कहा था कि 'मुझे क्या रुचता है ?' यह मुमुक्षु जीव को देखते रहना चाहिये और उससे अपनी योग्यता की ख़ोज करते रहना चाहिये और यदि योग्यता न हो तो उसका पुरुषार्थ करना आवश्यक है) इसलिये विषयों से विरक्त चित्तवाले योगी-ध्यानी-मुनि ही आत्मा को जानते हैं।' इस गाथा में आत्मप्राप्ति के लिये योग्यता बतायी है।

'शीलपाहुड' गाथा ४ : अर्थ :- 'जब तक यह जीव विषय बल अर्थात् विषयों के वश रहता है, तब तक ज्ञान को नहीं जानता और ज्ञान को जाने बिना केवल विषयों से विरक्त होने मात्र से ही पहले बाँधे हुए कर्मों का नाश नहीं होता।' अर्थात् विषयविरक्ति वह कोई ध्येय नहीं परन्तु सम्यग्दर्शन जो कि ध्येय है, उसके लिये आवश्यक योग्यता है और वह भी एकमात्र आत्मलक्ष्य से ही होना चाहिये ताकि उससे आगे आत्मज्ञान होते ही, अपूर्व निर्जरा हो सके। परन्तु आत्मज्ञान के लक्ष्यरहित की मात्र विषयविरक्ति कर्म नष्ट करने में कार्यकारी नहीं है, ऐसा बताया है, अर्थात् मुमुक्षु जीवों को एकमात्र आत्मलक्ष्य से विषयविरक्ति करना अत्यन्त आवश्यक है।

- जब तक जीव को आत्मज्ञान नहीं हो जाता तब तक उस जीव को शुद्धात्मा का अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं होता केवल शाब्दिक ज्ञान ही होता है। शुद्धात्मा का शाब्दिक ज्ञान हमने कई बार पाया है परन्तु यदि अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं पाया तो मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं मिलता। शाब्दिक ज्ञान से तो कई बार जीव ठगा भी जाता है, उसे लगता है जैसे उसने आत्मप्राप्ति कर ली है परन्तु वास्तव में वह निश्चयाभासरूपी भ्रम में जी रहा है।

३५

सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग

यहाँ तक जो भाव हमने दृढ़ किये वे यह हैं कि सम्यग्दर्शन और बाद में मोक्षमार्ग तथा मुक्ति के लिये प्रत्येक को लक्ष्य में लेने योग्य कोई वस्तु है तो वह है सम्यग्दर्शन (दृष्टि) का विषय और आत्मा की अन्य योग्यताएँ। सम्यग्दर्शन का विषय परमपारिणामिकभाव अर्थात् आत्मा के सहज परिणमनरूपी शुद्धात्मा है जो कि मुक्ति का कारण होने से कारणसमयसार अथवा कारणशुद्धपर्याय के रूप में भी बतायी है, उसके बहुत नाम प्रयोग में आते हैं, परन्तु उसमें से शब्द नहीं पकड़कर, एकमात्र शुद्धात्मरूपीभाव जैसे कहा है वैसे लक्ष्य में लेना आवश्यक है, क्योंकि उसकी अनुभूति के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं है। इस कारण से भेदज्ञान कराने को, आध्यात्मिक शास्त्र उसे 'स्वतत्त्व' या 'स्वभाव' रूप आत्मा मानते हैं और बाकी के जो आत्मा के समस्त भाव हैं, उनका आत्मा में 'निषेध' करते हैं। उसे ही 'नेति-नेति' कहा जाता है अर्थात् निश्चय नय के निषेधरूप से भी कहा जाता है। इसलिये ही समयसार अथवा नियमसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों का प्राण - हार्द मात्र यह शुद्धात्मा ही है क्योंकि वे शास्त्र, स्वात्मानुभूतिरूपी भेदज्ञान को जाँचने के लिये है, जिससे मुमुक्षु जीव अपने विभावभाव से भेदज्ञान होने पर 'शुद्धात्मा' का अनुभव करे और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करके मोक्षमार्ग में आगे बढ़कर परम्परा से मुक्त हो, यही इन शास्त्रों का एकमात्र उद्देश्य है। इसलिये इन शास्त्रों को इसी उद्देश्य से अर्थात् इसी अपेक्षा से समझना अत्यन्त आवश्यक है, न कि एकान्त से। प्राय: बड़ा वर्ग इस उद्देश्य को नहीं समझ पाने से ऐसे उत्तम शास्त्रों से दूर ही रहता है और दूसरा वर्ग इसे एकान्तरूप से ग्रहण करके स्वच्छन्दतारूप परिणमते हैं, परन्तु ऐसे शास्त्रों को सम्यक्रूप से समझकर प्ररूपणा करनेवाले तो बहुत ही कम लोग हैं।

इन शास्त्रों को पढ़कर लोग ऐसा कहने लगते हैं कि मुझमें तो राग है ही नहीं, मैं राग करता ही नहीं, इत्यादि और वे उसके उद्देश्यरूप भेदज्ञान जाँचे बिना, उसका ही आधार लेकर स्वच्छन्दता से राग-द्वेषरूप ही परिणमते हैं और वह भी किंचित् भी अफ़सोस बिना। इससे बड़ा करुणा योग्य क्या होगा ? अर्थात् इससे बड़ा पतन क्या होगा ? यह महापतन ही है। क्योंकि जो शास्त्र भेदज्ञान जाँचकरके मुक्त होने के लिये है, उसे लोग हार्द समझे बिना एकान्त से शब्दश: समझकर - जानकर स्वच्छन्दता से परिणमकर, अपने अनन्त संसार का कारण बनते हैं। और मानते हैं कि हम सब कुछ ही समझ गये, हम अन्य से ऊँचे/बड़े हैं क्योंकि उनको तो इस बात की खबर ही नहीं है कि आत्मा राग नहीं करता, आत्मा में राग है ही नहीं, इत्यादि। यह है हार्द समझे बिना स्वच्छन्दता से शब्दों

को पकड़कर एकान्तरूपी परिणमन कि जो समयसार अथवा नियमसार जैसे शास्त्रों का प्रयोजन ही नहीं है। अपितु राग, वह आत्मा में जाने की सीढ़ी है, क्योंकि जो राग है वह आत्मा का विशेष भाव है, कि जो गौण होते ही शुद्धात्मा ज्ञात होता है अर्थात् सारे विशेषभाव साधनरूप हैं और वे गौण होते ही, वे जिसके बने हुए हैं वह परमपारिणामिकभाव साध्य है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही विधि है सम्यग्दर्शन की। क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रकट से ही अप्रकट में जाया जाता है अर्थात् व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है। आध्यात्मिक शास्त्र भेदज्ञान को जाँचने के लिये विभावभाव को जीव का नहीं है ऐसा कहते हैं क्योंकि स्वात्मानुभूति में वे नहीं होते। सम्यग्दर्शन के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित मात्र 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपन' होता है इसलिये इन शास्त्रों में जीव के अन्य भावों को पुद्गल के भाव अर्थात् परभाव कहा है न कि लोगों को स्वच्छन्दता से परिणमने के लिये।

आत्मा में राग होता ही नहीं, ऐसा शास्त्र का अभिप्राय नहीं है परन्तु उस रागरूपी विभावभाव से भेदज्ञान कराने के लिये उसे पुद्गल का बताया है। जिनसिद्धान्त का विवेक तो यह है कि 'मैंपन' मात्र शुद्धात्मा में और ज्ञान प्रमाण का अर्थात् अशुद्धरूप से परिणमित पूर्ण आत्मा का और ऐसा विवेक करके, वह मुमुक्षु वैसे रागरूपी उदयभाव से हमेशा के लिये मुक्त होने का प्रयत्न (पुरुषार्थ) करता है, न कि वे मेरे नहीं, मैं कर्ता नहीं इत्यादि कहकर उन्हें पोषण करने का स्वच्छन्द आचरता है। ऐसी है विपरीत समझ की करुणा। ऐसा विपरीत भाव ज्ञानी अथवा मुमुक्षु जीव को एक समय भी सहन करने जैसा नहीं लगता। इस कारण ऐसे जीवों के प्रति करुणा आती है क्योंकि वह भाव तो आत्मा के लिये बन्धनरूप है, दुःखरूप है; इसलिये ऐसे भाव का पोषण तो कोई भी मुमुक्षु नहीं करता। जो स्वच्छन्दता से ऐसे भावों का पोषण करते हैं वे अपना परम अहित ही कर रहे हैं और वे शास्त्रों का मर्म समझे ही नहीं हैं ऐसा अत्यन्त दुःख और करुणा के साथ कहना पड़ेगा।

हमने इस पुस्तक में यहाँ तक जो शुद्धात्मा का वर्णन किया है, वही भाव हम बारम्बार अनुभवते हैं और उसे ही शब्दों में वर्णित करने का हमने प्रयत्न किया है जो कि पूर्णरूप से शक्य ही नहीं है क्योंकि उस अनुभव को शब्दों में भगवान भी नहीं कह सकते। इसलिये हम आपसे निवेदन करते हैं कि आप यहाँ तक की हुई स्पष्टता के आधार पर और आगे समयसार के आधार पर हम जो विशेष स्पष्टता करनेवाले हैं, उन दोनों का मर्म समझकर आप भी 'स्व-तत्त्व' का अनुभव करके परमसुख-शान्ति-परमानन्दरूपी मुक्ति को प्राप्त करें; बस इसी एकमात्र प्रयोजन से यह सब लिखा जा रहा है।

३६

समयसार के अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय

आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार टीका गाथा २ : गाथार्थ :- 'हे भव्य! जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है, उसे निश्चय से स्व-समय जान (अर्थात् जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र और अनन्त गुणों के सहज परिणमनरूपी परमपारिणामिकभाव में ही 'मैंपन' स्थापित होकरके उस में ही स्थित हुआ है उसे स्व-समय अर्थात् सम्यग्दृष्टि जान); और जो जीव पुद्गल कर्मों के प्रदेशों में स्थित है उसे पर-समय (अर्थात् जो विभावभावसहित के जीव में 'मैंपन' करते हैं उन्हें मिथ्यात्वी जीव) जान।' यहाँ सम्यग्दर्शन (दृष्टि) का विषय बताया है। उसे दर्पण के दृष्टान्त से समझें। जैसे दर्पण के स्वच्छत्वरूप परिणमन में जिसका 'मैंपन' होता है वह स्व-समय, अर्थात् प्रतिबिम्ब गौण होकरके मात्र दर्पण को जानना - जैसे कि आत्मा के सहज परिणमनरूपी परमपारिणामिकभाव = ज्ञानसामान्यभाव = निष्क्रियभाव में प्रतिबिम्बरूप से रहे हुए बाक़ी के चार भाव हैं, उन चार भाव गौण होकरके मात्र स्वच्छत्वरूपी परमपारिणामिकभाव = स्व-समय में ही 'मैंपन' होना ही सम्यग्दर्शन है।

ऐसा किस प्रकार किया जा सकता है? तो उसकी विधि आचार्य भगवन्त ने गाथा ११ में बतायी है कि कतकफल (फिटकरी) रूपी बुद्धि से ऐसा हो सकता है। गाथा २९४ में प्रज्ञाछैनी द्वारा यही प्रक्रिया करने को बताया है। यहाँ समझना यह है कि पर्यायरहित का द्रव्य अर्थात् आत्मा के चार भाव गौण होकरके = रहित होकरके पंचमभावरूपी द्रव्य की प्राप्ति जो कि कतकफल (फिटकरी) रूपी बुद्धि से अथवा प्रज्ञारूपी छैनी से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। आचार्य भगवन्त ने किसी भौतिक छैनी से या कपड़े का उदाहरण देकर कैंची से जीव में भेदज्ञान करने को नहीं कहा है क्योंकि जीव एक अभेद-अखण्ड-ज्ञानघनरूपी द्रव्य है। इसलिये वह पर्यायरहित का द्रव्य प्राप्त करने के लिये प्रज्ञाछैनीरूपी बुद्धि से चार भाव गौण होकरके शेष रहे हुए एक भाव जो कि परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा है जो कि सदा ऐसा का ऐसा ही उपजता है, उस में 'मैंपन' होने को कहा है, उसे ही 'स्व-समय' कहा है कि जिस में 'मैंपन' होने से ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और साथ में सम्यक्ज्ञानरूप से उसी 'स्व-समय' का अनुभव भी होता है, जिसे आचार्य भगवन्तों ने आत्मा की अनुभूति बताया है।

गाथा २ : टीका : आचार्य भगवन्त टीका में बताते हैं कि :- '....यह जीव पदार्थ कैसा

है? सदा ही परिणामस्वरूप स्वभाव में रहा हुआ होने से (परमपारिणामिकभाव होने से) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूपी अनुभूति (अर्थात् अनुभूति अभेद द्रव्य की ही होती है। अनुभूतिरूपी भगवान आत्मा = जीवराजा = द्रव्य-पर्याय की एकतारूप होता है। क्योंकि पर्याय न हो तो वह द्रव्य ही न हो अर्थात् कि भौतिक छैनी से पर्याय को न निकालकर, प्रज्ञाछैनी से पर-भावरूपी चार भाव गौण होकरके जो परमपारिणामिकभावरूपी = सहजभवनरूप आत्मा शेष रहे, उसमें 'मैंपन' होते ही अनुभूति प्रगट होती है, वह अनुभूति) जिसका लक्षण है, ऐसी सत्ता से सहित है... और कैसा है? अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने का सामर्थ्य होने से (अर्थात् स्व-पर प्रकाशकपना स्वभाविक है, उसमें भी यदि पर को निकाल देंगे तो स्व ही नहीं रहेगा, क्योंकि जहाँ पर का प्रकाशन होता है वहाँ स्व तो ज्ञान ही है = आत्मा ही है। वहाँ भी प्रकाशन गौण होता है, निषेध नहीं; पर प्रकाशन गौण होते ही ज्ञान =आत्मभाव = ज्ञायकभाव प्राप्त होता है) जिसने समस्तरूप को प्रकाशित करनेवाला एकरूपपन प्राप्त किया है (अर्थात् जो समस्त रूप को प्रकाशित करता है, कि जो गौण होते ही जो भाव = ज्ञान शेष रहता है, वही ज्ञानरूपी एकपना प्राप्त किया है अर्थात् ज्ञान घनपना प्राप्त किया है)। इस विशेषण से, ज्ञान अपने को ही जानता है पर को नहीं जानता ऐसे एकाकार ही माननेवाले का तथा अपने को नहीं जानता परन्तु पर को जानता है ऐसा अनेकाकार ही माननेवाले का व्यवच्छेद हुआ। (यहाँ समझना यह है कि कोई भी एकान्त मान्यता जिनमतबाह्य है और ऐसा जो कथन है कि अन्त में तो अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त प्राप्त करने के लिये ही है – उसका हार्द ऐसा ही है कि जो पाँच भावरूपी जीव का वर्णन है जो कि अनेकान्तरूप है, वह परमपारिणामिकभावरूपी सम्यक् एकान्त प्राप्त करने के लिये है। न कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानता ही नहीं' अथवा 'किसी भी अपेक्षा से आत्मा में राग-द्वेष हैं ही नहीं' – इत्यादि एकान्त प्ररूपणाएँ, जो कि जिनमतबाह्य ही गिनी जाती है) ....जब यह (जीव), सभी पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योति का उदय होने से, सारे पर द्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञान स्वभाव में (यहाँ सर्व गुण समझना) नियत वृत्तिरूप (अस्तित्वरूप) (पर्यायरूप = परमपारिणामिकभावरूप = कारणशुद्धपर्यायरूप) आत्म तत्त्व के साथ एकत्वगतरूप से वर्तता है (मात्र उसमें ही 'मैंपन' होता है) तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में (यहाँ सभी गुण समझना) स्थित होने से युगपद स्व को एकत्वपूर्वक जानता तथा स्व-रूप से एकत्वपूर्वक परिणमता (अर्थात् मात्र सहज आत्म परिणतिरूप = परमपारिणामिकभावरूपी = कारणशुद्धपर्यायरूपी आत्मा में ही 'मैंपन' करता हुआ) ऐसा वह 'स्व-समय' (सम्यग्दृष्टि है) ऐसी प्रतीति की जाती है... मोह उसके उदय अनुसार प्रवृत्ति के आधीनपने

से, दर्शन-ज्ञान स्वभाव में नियत वृत्तिरूपी आत्मतत्त्व से (दृष्टि का विषय = कारणशुद्धपर्याय = परमपारिणामिकभाव से) छूटकर पर द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि भावों के साथ एकत्वगतरूप से (एकपना मानकर) (पाँच भावरूप जीव में 'मैंपन' करके) वर्तता है तब... वह पर-समय है (अर्थात् मिथ्यात्वी ही है)।'

गाथा ३ : गाथार्थ :- 'एकत्व निश्चय को प्राप्त जो समय है (अर्थात् जिसका मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' होकरके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, वैसा आत्मा) इस लोक में सर्वत्र सुन्दर है (अर्थात् वैसा जीव भले नरक में हो या स्वर्ग में हो अर्थात् दु:ख में हो या सुख में हो परन्तु वह सुन्दर अर्थात् स्व में स्थित है) इसलिये एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा (अर्थात् बन्धरूप विभाव भावों में 'मैंपन' करते ही मिथ्यात्व का उदय होने से) विसंवाद-विरोध करनेवाली (अर्थात् संसार में अनन्त दु:ख रूप फल देनेवाली) है।' और दूसरे, जो आत्मद्रव्य अन्य कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल द्रव्य के साथ बन्धकर रहा है उसमें विसंवाद है अर्थात् दु:ख है, जब वही आत्मद्रव्य उस पुद्गल द्रव्य के साथ के बन्धन से मुक्त होता है, तब वह सुन्दर है अर्थात् अव्याबाध सुखी है।

गाथा ४ : गाथार्थ :- 'सारे लोक को काम-भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा तो सुनने में आ गयी है (अर्थात् संसारी जन उसमें तो बहुत ही होशियार होते हैं), परिचय में आ गयी है और अनुभव में भी आ गयी है (अर्थात् दूसरों को वैसा करते देखा है और स्वयं भी उस रूप परिणमकर अनुभव किया है) इसलिये सुलभ है (अर्थात् वह उसे बराबर समझते हैं और उसे ही एकमात्र जीव के लक्ष्यरूप मानकर, उसके पीछे ही दौड़ते हैं); परन्तु भिन्न आत्मा का (अर्थात् भेदज्ञान से प्राप्त शुद्धात्मा का) एकपना होना कभी नहीं सुना (अर्थात् उसमें ही 'मैंपन'= एकत्व प्राप्त होने योग्य है, ऐसा कभी सुना ही नहीं), परिचय में आया नहीं (अर्थात् बात में अथवा पढ़ने में अथवा उपदेश में आया नहीं), और अनुभव में भी आया नहीं (उसे अनुभव भी नहीं किया, स्वात्मानुभूति भी नहीं हुई) इसलिये एक वह सुलभ नहीं है।' पाँच इन्द्रियों के जो विषय हैं, उनमें से शब्द और रूप को काम कहा जाता है तथा गन्ध, रस और स्पर्श को भोग कहा जाता है। पाँचों मिलकर काम-भोग कहलाते हैं, जिसके विषय में बहुभाग लोगों को रस होने से (कि जिस में रस रखने योग्य नहीं है) उनकी कथा सुलभ है परन्तु इस काल में शुद्धात्मा की बात अति दुर्लभ है जो कि हम यहाँ (समयसार में) बतानेवाले हैं, ऐसा भाव है आचार्य भगवन्त का इस गाथा में। वर्तमान के जैन सम्प्रदायों में प्राय: क्रिया को ही अहमियत दी जाती है और आत्मज्ञान की बातें बहुत ही कम सुनाई देती हैं क्योंकि क्रिया धर्म हठयोग के रूप में हमने कई बार किया है परन्तु आत्मज्ञान

न होने से हम अभी तक संसार में भटक रहे हैं, इसलिये अज्ञानी को लगता है कि क्रिया करने से ही अपना मोक्ष हो जाएगा; ऐसी मिथ्या मान्यता सँजोये वे लोग उत्साहपूर्वक क्रिया धर्म तो करते हैं परन्तु आत्मज्ञान का विचार भी नहीं करते।

गाथा ५ : गाथार्थ :- 'वह एकत्व-विभक्त (अर्थात् अभेदरूप और भेदरूप) आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव से दिखाता हूँ; (अर्थात् बताता हूँ), यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण (स्वीकार) करना और यदि कहीं चूक जाऊँ तो छल (अर्थात् उल्टा-विपरीत-नुकसानकारक) ग्रहण नहीं करना।' अर्थात् इस शास्त्र से स्वच्छन्द ग्रहण करके तुम ठगे जाओ, वैसा मत करना, क्योंकि वह स्वच्छन्द अनन्त संसार का कारण है, ऐसा आचार्य भगवन्त ने इस गाथा में बताया है। वर्तमान में प्राय: इस शास्त्र में से लोगों ने एकान्त ही लिया है ऐसा दिख रहा है, आचार्य भगवन्त ने इसी लिये सब को चेतावनी दी है कि हम यहाँ जिस बात को, जिस कारण से प्रस्तुत कर रहे हैं उस बात को, उसी अर्थ में और उसी परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करना अन्यथा यह शास्त्र आपके लिये अनन्त संसार का कारण भी बन सकता है।

गाथा ६ : गाथार्थ :- 'जो ज्ञायकभाव है (अर्थात् जो ज्ञानसामान्यरूपी, सहज परिणमनरूपी, परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा है) वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं (अर्थात् उसमें सभी विशेषभावों का अभाव है क्योंकि वह सामान्यज्ञानमात्रभाव अर्थात् गुणों के सहज परिणमनरूपी सामान्यभाव ही है कि जिसमें विशेष का अभाव ही होता है)-इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं (अर्थात् वर्तमान में शुद्ध न होने पर भी उसका जो सामान्य भाव है वह त्रिकाली शुद्ध होने के कारण उसे शुद्ध कहने में आता है), और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ (अर्थात् जो जाननेवाला है) वह तो वही है (अर्थात् जो जानने की क्रिया है, उसमें से प्रतिबिम्बरूपी ज्ञेय अर्थात् ज्ञानाकार गौण होते ही वह ज्ञायक अर्थात् परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा ज्ञात होता है, अनुभव में आता है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है अर्थात् जो जाननेवाला है, वही ज्ञायक है), दूसरा कोई नहीं।' अर्थात् ज्ञायक दूसरा और जानने की क्रिया दूसरी, ऐसा नहीं है अर्थात् ज्ञायक ही जानने के रूप में परिणमित हुआ है। इसी लिये जानने की क्रिया में से ज्ञानाकाररूप प्रतिबिम्ब गौण होते ही, ज्ञायक उपस्थित ही है अर्थात् आत्मा में से अप्रमत्त और प्रमत्त इन दोनों विशेषभाव गौण होते ही ज्ञायकभाव प्राप्त होता है। पूर्व में हमने यह बात सिद्ध की ही है कि पर्याय ज्ञायकभाव की ही बनी हुई है, इसलिये उस में से विशेषभाव गौण होते ही ज्ञायक अर्थात् सामान्यभाव प्रगट होता है, प्राप्त होता है; आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही विधि है सम्यग्दर्शन

की। आत्मा जो चार भावरूप परिणमता है, वह विशेषभाव है अर्थात् उदय, क्षायोपशमिक, उपशम और क्षायिक इन चार भावरूप से आत्मा परिणमता है, ये चार भाव विशेषभाव हैं और ये जिस भाव के बने हुए हैं, उसे परमपारिणामिकभाव या स्वभाव या आत्मा का सहज परिणमन कहते हैं; आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उसमें 'मैंपन' होने से जिसे उसका अनुभव होता है उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

गाथा ६ : टीका :- 'जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (अर्थात् किसी से उत्पन्न हुआ नहीं होने से) अनादि सत्तारूप है और कभी विनाश को प्राप्त नहीं होने से अनन्त है, नित्य उद्योतरूप होने से (अर्थात् सहजआत्मपरिणमनरूपी = परमपारिणामिकभावरूपी = कारणशुद्धपर्यायरूपी होने से) क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है (अर्थात् परमपारिणामिकभाव है), वह संसार की अवस्था में अनादि बन्ध पर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीर-नीर की भाँति कर्म पुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूपी जीव के सहज परिणमन में ही बाकी के चार भाव होते हैं जो कि हमने पूर्व में बताये ही हैं और समयसार गाथा १६४-१६५ में भी बताया ही है कि 'संज्ञ आस्रव जो कि जीव में ही होते हैं, वे जीव के ही अनन्य परिणाम हैं'= जीव ही उसरूप परिणमित हुआ है अर्थात् जीव में एक शुद्ध भाग और दूसरा अशुद्ध भाग ऐसा नहीं समझकर, समझना ऐसा है कि जीव उदय-क्षयोपशमभावरूप परिणमित हुआ है अर्थात् जीव में छिपे हुए स्वच्छत्वरूप जो जीव का परिणमन है जो कि परम पारिणामिकभाव कहलाता है, वह भाव ही अन्य चार भाव का सामान्यभाव है अर्थात् आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित जीव में अन्य चार भाव गौण होकरके परमपारिणामिकभाव में 'मैंपन' होते ही एक ज्ञायकभाव अनुभव में आता है, यही अनुभव की विधि है। जैसे कि राग-द्वेषरूप परिणमित जीव रागी-द्वेषी ज्ञात होने पर भी, वर्तमान में उसरूप होने पर भी, उन राग-द्वेष गौण होते ही परमपारिणामिकभाव ज्ञात होता है, वह उसका 'स्व' भाव है कि जिसमें आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित 'मैंपन' होते ही वह जीव 'स्व-समय'= सम्यग्दृष्टि होता है) द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से (ऊपर बताया हुआ द्रव्य का 'स्व' भाव = परमपारिणामिकभाव = कारणशुद्धपर्याय से) देखा जाये तो दुरन्त कषायचक्र के उदय की (अर्थात् कषाय के समूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश प्रवर्तमान जो पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभ-अशुभभाव, उनके स्वभावरूप नहीं परिणमता (अर्थात् द्रव्य का स्वभाव, वह परमपारिणामिकभाव है जो कि प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं; वह मात्र एक ज्ञायकभाव है) इसलिये प्रमत्त भी

नहीं और अप्रमत्त भी नहीं; वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से (अर्थात् जीव के चार भाव कि जिसमें अन्य द्रव्य निमित्त है) भिन्नरूप से (अर्थात् जीव के चार भाव गौण होने पर पंचम भावरूपी = परमपारिणामिकभावरूपी) उपासित किये जाने पर शुद्ध कहलाता है। (यहाँ यह समझना आवश्यक है कि राग किसी भी अपेक्षा से जीव में नहीं है, इत्यादि रूप एकान्त प्ररूपणा जिनमत बाह्य है। इसलिये वैसी प्ररूपणा करनेवाले और उसमें अटके हुए भोले जीव = वैसा माननेवाले भोले जीव भ्रम में रहकर अति उत्तम ऐसा मानव जन्म और वीतराग धर्म को फ़ालतू गँवाते हैं और वीतरागी बनने का एक अमूल्य अवसर गँवाते हैं)।

दाह्य के (जलने योग्य पदार्थ के) आकाररूप होने से अग्नि को दहन कहा जाता है (अर्थात् ज्ञान को ज्ञेयाकाररूप परिणमने से स्व-पर को जाननेवाला कहा जाता है) तथापि दाह्यकृत अशुद्धता उसे नहीं है। इसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' (ज्ञानाकार) को ज्ञायकता प्रसिद्ध है (अर्थात् ज्ञान का स्व-पर को जानना प्रसिद्ध है) तथापि ज्ञेयकृत अशुद्धता उसे नहीं है। (क्योंकि वह ज्ञेय को ज्ञेयरूप से = तद्रूप से परिणम कर नहीं जानता अर्थात् ज्ञेय को ज्ञान के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है; उसे अपने आकार = ज्ञानाकार के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है कि जिस से अशुद्धता उसमें प्रवेश नहीं करती)। क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में (अर्थात् स्व-पर को जानने के काल में) जो ज्ञायकरूप से (जाननेवालेरूप से) ज्ञात हुआ वह स्वरूप-प्रकाशन की (स्वरूप जानने की = अर्थात् उन ज्ञेयों को ज्ञानाकाररूप से देखने पर और उन्हें ही ज्ञानरूप से देखने पर अर्थात् ज्ञानाकार गौण होते ही परमपारिणामिकभाव अनुभव में आता है। दर्पण के उदाहरण अनुसार प्रतिबिम्ब गौण होते ही दर्पण का स्वच्छत्व ज्ञात होता है, ऐसी) अवस्था में भी, दीपक की भाँति, कर्ता-कर्म का अनन्यपन होने से (अर्थात् कि जो स्वच्छत्वरूप परिणमन = परम पारिणामिकरूपी = ज्ञानसामान्य = निष्क्रियभाव है कि जो स्व-पर को जाननेवाले विशेषभाव का ही सामान्यभाव है, इसलिये यदि पर को जानने का निषेध किया जाये तो वह स्वच्छत्व का = भगवान आत्मा के निषेधरूप परिणमेगा और समझे बिना निषेध करनेवाले भ्रम को = भ्रमित दशा को पायेंगे और यह अमूल्य मनुष्य जन्म तथा वीतराग का शासन मिला, वह व्यर्थ गँवायेंगे अर्थात् जो जाननेवाला है वह) ज्ञायक ही है-स्वयं जाननेवाला इसलिये स्वयं कर्ता और स्वयं को जाना इसलिये स्वयं ही कर्म....' यहाँ स्व-पर को जानना वह भगवान आत्मा में जाने की सीढ़ी के रूप में दर्शाया गया है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रकट से ही अप्रकट में जाया जाता है। व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है। क्योंकि ज्ञायक ही स्वयं जाननेवाला है। जानना

और ज्ञायक (जाननेवाला) को अनन्यपना बताकर जानना (प्रतिबिम्ब) गौण होते ही ज्ञायक (जाननेवाला) ज्ञात होता है, इसलिये सीढ़ी रूप है।

भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी बताते हैं कि ''.... 'ज्ञायक' ऐसा नाम भी उसे (अर्थात् शुद्धात्मा को = दृष्टि के विषय को = परमपारिणामिकभावरूपी आत्मा को) ज्ञेय को जानने से दिया जाता है क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है, तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव में आता है, तथापि ज्ञेयकृत अशुद्धता उसे नहीं है क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ, वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर (ज्ञेय=ज्ञानाकार को गौण करते ही वहाँ) ज्ञायक ही है। 'यह मैं जाननेवाला हूँ, वह मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं।' ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ, तब उस जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसे जाना, वह कर्म भी स्वयं ही है (यहाँ समझना यह है कि 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानती' ऐसी बातें करके आत्मा में जाने का रास्ता = सीढ़ी बन्द करके क्या मिलेगा? मात्र भ्रम ही मिलेगा, क्योंकि पर को जानने का निषेध करने से जाननेवाले का ही निषेध होता है) ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र (जाननेवाला) स्वयं शुद्ध है-यह शुद्ध नय का विषय है।'' यहाँ समझना यह है कि प्रथम जो 'दृष्टि के विषय' के सम्बन्ध में बताया, वैसे पर्याय से रहित द्रव्य अर्थात् प्रतिबिम्ब से रहित अर्थात् प्रतिबिम्ब गौण होते ही वहाँ जाननेवाले के रूप में ज्ञायक उपस्थित ही है, वही दृष्टि का विषय है। वही परमपारिणामिकभाव है, वही कारणशुद्ध पर्याय है, वही कारणशुद्ध परमात्मा है। वही समयसाररूपी जीवराजा है अर्थात् यहाँ कुछ भी भौतिक छैनी की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आत्मा अभेद-अखण्ड है। उसमें से कुछ भी निकले ऐसा नहीं है और यदि निकालने की कोशिश होगी तो आत्मा स्वयं ही निकल जायेगी अर्थात् आत्मा का ही लोप होगा और निकालनेवाला स्वयं आकाश के फूल की भाँति भ्रम में ही पड़ा रहेगा। इसलिये यहाँ प्रज्ञारूपी छैनी का उपयोग करके = कतकफलरूप बुद्धिपूर्वक उन प्रतिबिम्बरूपी अर्थात् उदय, क्षयोपशमरूपी भाव गौण होते ही वहाँ साक्षात् शुद्धात्मरूप परमपारिणामिकभाव हाज़िर ही है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है, कि जो आचार्य भगवान ने और पण्डित जी ने गाथा ६ में बतायी है।

पण्डितजी आगे बताते हैं कि :- ''....यहाँ ऐसा भी जानना कि जिनमत का कथन स्याद्वाद रूप है इसलिये अशुद्ध नय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना; (यहाँ समझना यह है कि पूर्व में बताये अनुसार गाथा-१६४-१६५ में भावास्रवों को जीव से अनन्य कहा है और इसलिये 'जीव में किसी भी अपेक्षा से राग नहीं होता' जैसी प्ररूपणायें जिनमत बाह्य हैं) क्योंकि स्याद्वाद प्रमाण

से शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं और वस्तुधर्म वस्तु का सत्त्व है (अर्थात् वह वस्तु ही है = आत्मा ही है) (यहाँ समझना यह है कि गाथा १६४-१६५ में बताये अनुसार राग-द्वेषरूप परिणाम होते तो आत्मा में ही हैं - आत्मा ही उनरूप परिणमता है और उस परिणमन की उपस्थिति में भी राग-द्वेष गौण होते ही उनमें छिपा हुआ परमपारिणामिकभावरूपी = समयसाररूपी = कारणशुद्धपर्यायरूपी आत्मा हाज़िर ही है); अशुद्धता पर द्रव्य के संयोग से होती है, यही अन्तर है... अशुद्ध नय को असत्यार्थ कहने से ऐसा नहीं समझना कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है। (अर्थात् जैसा है वैसा समझना, अर्थात् वह है, परन्तु वह गौण होते ही ज्ञायक हाज़िर ही है, अन्यथा) ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व है (यहाँ पण्डितजी ने एकान्त प्ररूपणा करते हुए लोगों को सावधान किया है) इसलिये स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्ध नय का अवलम्बन करना (अर्थात् आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित जीव को पाँच भावरूप जानकर चार भाव गौण होते ही सम्यक् एकान्तरूप शुद्ध निश्चय नय का विषय ऐसा शुद्धात्मा = परमपारिणामिकभाव प्रकट होता है कि जिसका अवलम्बन होना) चाहिये....''

गाथा ७ : गाथार्थ :- ''ज्ञानी को चारित्र, दर्शन, ज्ञान - ये तीन भाव व्यवहार से कहने में आते हैं (अर्थात् ज्ञानी को एकमात्र अभेदभावरूपी 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपन' होने से, जो भी विशेषभाव हैं और जो भी भेदरूपभाव हैं, वे व्यवहार कहे जाते हैं); निश्चय से ज्ञान भी नहीं, चारित्र भी नहीं, दर्शन भी नहीं (अर्थात् निश्चय से कोई भेद शुद्धात्मा में नहीं, वह एक अभेद सामान्यभावरूप होने से उसमें भेदरूपभाव और विशेषभाव, ये दोनों भाव नहीं हैं)। ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।'' अर्थात् शुद्ध निश्चय नय का विषय मात्र, अभेद ऐसा शुद्धात्मा ही है। इसीलिये लोग जब हम से पूछते हैं कि आपने कारणशुद्धपर्याय को अभेद कैसे लिया अर्थात् जो परम पारिणामिकभाव है, उसी को कारणशुद्धपर्याय क्यों कहा? दूसरा, यह भी पूछते हैं कि आपने सम्यग्दर्शन के विषय में प्रमाण का द्रव्य क्यों लिया है? और पर्याय का निषेध क्यों नहीं किया है? तब उनको हम उत्तर देते हैं कि निश्चय से आत्मा अभेद-एक है, उसमें जो भी भेद किये हैं, वे सिर्फ़ समझाने के लिये ही किये हैं न कि वास्तविक, इसलिये ज्ञानी को अनुभव के समय में कोई भेद नहीं होते; इस कारण से वे अभेद ऐसे एक आत्मा के ही अलग-अलग नाम होने से परमपारिणामिकभाव को ही कारणशुद्धपर्याय या कारणशुद्धपरमात्मा कहा है। दूसरा, निश्चय से आत्मा अभेद-एक होने से उसमें जो भी भेद किये जाते हैं, वे सिर्फ़ समझाने के लिये ही किये जाते हैं, न कि वास्तविक इसलिये जिनके ऐसे प्रश्न होते हैं कि सम्यग्दर्शन के विषय में प्रमाण का द्रव्य क्यों लिया है या सम्यग्दर्शन के विषय में पर्याय का निषेध क्यों नहीं किया है या जो

लोग द्रव्य के ध्रुव को और पर्याय के ध्रुव को अलग मानते हों इत्यादि, उनको अपना द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान जाँचने की आवश्यकता है और द्रव्य की अभेदता समझने की आवश्यकता है क्योंकि ये दोनों व्यवस्थाएँ समझ जाने के बाद ये सब समस्याएँ नहीं रहेंगी, अन्यथा आप मिथ्या भ्रम में ही रहेंगे, यह बात इस गाथा में समझायी है। निषेध निश्चय नय का पक्ष है और अनुभव पक्षातीत होता है, इसलिये किसी भी नय के पक्षवाले को अनुभव नहीं होता, बल्कि वह एकान्तरूप परिणमता है।

गाथा ७ : टीका :- '...क्योंकि अनन्त धर्मोंवाले एक धर्मी में (अर्थात् भेद से समझकर अभेदरूपी अनुभूति में) जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्यजन को, धर्मी को बतानेवाले कितने ही धर्मों द्वारा (अर्थात् भेदों द्वारा), उपदेश करते हुए आचार्य का-यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद उत्पन्न करके (अभेद द्रव्य में द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे भेद उत्पन्न करके) व्यवहार मात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी को दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है परन्तु परमार्थ से (अर्थात् वास्तव में) देखने में आवे तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से जो एक है... (अर्थात् जिस द्रव्य ने तीनों काल में उन-उन पर्यायरूप परिणमण करने पर भी अपना द्रव्यत्व नहीं छोड़ा है - जैसे कि मिट्टी घट पिण्डरूप से परिणमने पर भी मिट्टीत्व नहीं छोड़ती और प्रत्येक पर्याय में वह मिट्टीत्व व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से है इसलिये पर्याय अनन्त होने पर भी वह द्रव्य तो एक ही है)। ....एक शुद्ध ज्ञायक ही है।'

गाथा ८ : गाथार्थ :- 'जैसे अनार्य (म्लेच्छ) जन को अनार्य भाषा के बिना कुछ भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है, वैसे व्यवहार बिना परमार्थ का उपदेश करने में कोई समर्थ नहीं है। (अर्थात् मिथ्यात्वी को भेदरूपी व्यवहार भाषा के बिना वस्तु का स्वरूप समझाने में कोई समर्थ नहीं है, इसलिये अभेद तत्त्व में अलग-अलग प्रकार से भेदरूपी व्यवहार किया जाता है, जैसे कि द्रव्य-गुण-पर्याय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र, उत्पाद-व्यय-ध्रुव, सैंतालीस शक्तियाँ इत्यादि, यह मात्र समझाने के लिए है; न कि अनुभव के लिये। अनुभव तो यथार्थ ऐसे अभेद आत्मा का ही होता है अर्थात् परमार्थिक आत्मा में कुछ भी भेद न समझना और जब तक भेद में होगा तब तक अभेद का अनुभव होगा ही नहीं क्योंकि भेद तो व्यवहाररूपी उपचार मात्र अज्ञानी को स्वरूप ग्रहण कराने के लिए किये हैं, वास्तव में हैं नहीं।)'

गाथा ११ : गाथार्थ :- 'व्यवहार नय अभूतार्थ है (अर्थात् ऊपर बताये अनुसार भेदरूप व्यवहार अभूतार्थ है, क्योंकि जो भेद में ही रमता है, वह कभी भी सम्यग्दर्शन के विषय रूप अभेद

द्रव्य का अनुभव कर ही नहीं सकता और दूसरा, निश्चय से द्रव्य अभेद होने से जो भेद उपजाकर कहने में आता है, वैसे व्यवहाररूपी – उपचाररूप भेद आदरणीय नहीं है अर्थात् 'मैंपन' करने योग्य नहीं है, इसलिये अभूतार्थ है) और शुद्ध नय भूतार्थ है (अर्थात् शुद्ध नय का विषय अभेदरूप 'शुद्धात्मा' है जो कि सम्यग्दर्शन का विषय होने से आदरणीय है – भूतार्थ है) ऐसा ऋषीश्वरों ने दर्शाया है, जो जीव भूतार्थ का (अर्थात् शुद्धात्मा का) आश्रय करता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।' अर्थात् कोई भी जीवका आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित अभेदरूप शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' होता है और उसका ही अनुभव होकरके सम्यग्दृष्टि हो सकता है, अन्यथा नहीं। हमने जैसे पीछे समझाया है वैसे लोगों ने व्यवहार से द्रव्य के इतने भेद किये कि उनको लगने लगा कि द्रव्य और पर्याय भिन्न-प्रदेशी हैं, द्रव्य अपरिणामी (कूटस्थ नित्य) और पर्याय परिणामी है, परम पारिणामिकभाव और कारणशुद्धपर्याय अलग-अलग है, जीव को चतुर्थ गुणस्थानक में शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता, इत्यादि; यह सभी भ्रम निकालने के लिये अभेद ऐसा शुद्ध नय सम्यक्‌रूप से समझने की आवश्यकता है क्योंकि वही भूतार्थ है। इसलिये जब अभेद ऐसा शुद्ध नय सम्यक्‌रूप से समझ में आयेगा तभी ऐसे मिथ्या आग्रह या भ्रम दूर होंगे अन्यथा नहीं, यही बात इस गाथा से समझनी है।

गाथा ११ : टीका :– 'व्यवहार नय सारा ही अभूतार्थ होने से (भेदरूप व्यवहार जो कि मात्र आत्मा के स्वरूप का ग्रहण कराने को हस्ताम्लवत् जानकर प्ररूपित किया है वह) अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रगट करता है (अर्थात् जैसा अभेद आत्मा है, वैसा उससे अर्थात् व्यवहार रूप भेद से वर्णन नहीं किया जा सकता).... यह बात दृष्टान्त से बताते हैं – (दृष्टान्त में जीव को = आगमों में वर्णन किये अनुसार पाँच भाव सहित बताकर उसमें से उपादेय ऐसा जीव जो कि चार भाव गौण होते ही पंचमभावरूपी = परमपारिणामिकभावरूपी = दृष्टि के विषयरूपी प्रगट होता है जो कि 'समयसार' जैसे आध्यात्मिक शास्त्र का प्राण है, उसे ग्रहण कराते हैं)। जैसे प्रबल कीचड़ के मिलने से (प्रबल उदय-क्षयोपशमभाव सहित) जिसका सहज एक निर्मलभाव (परमपारिणामिकभाव) आच्छादित हो गया है ऐसे जल का अनुभव करनेवाले (अज्ञानी) पुरुष – जल और कीचड़ का विवेक नहीं करनेवाले बहुत से तो, उसे (जल को = जीव को) मलिन ही अनुभव करते हैं (उदय, क्षयोपशमरूप ही अनुभव करते हैं), परन्तु कितने ही (ज्ञानी) अपने हाथ से डाली हुई फिटकरी (निर्मली औषधि = बुद्धिरूपी प्रज्ञाछैनी) के पड़ने मात्र से उत्पन्न जल-कीचड़ के विवेक से (अर्थात् कीचड़ जल में होने पर भी जल को स्वच्छ अनुभव कर सकनेवाले = आत्मा वर्तमान में उदय, क्षयोपशमरूप परिणमित होने पर भी उसमें छिपे हुये अर्थात् उदय और

क्षयोपशमभाव गौण होते ही जो भाव प्रगट होता है, वह अर्थात् उदय और क्षयोपशम भाव जिसका बना हुआ है वह अर्थात् एक सहज आत्म परिणमनरूपी – परमपारिणामिकभावरूपी आत्मा को), अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मल भावत्व के (परमपारिणामिक भाव के) कारण उसे (जल को = आत्मा को) निर्मल ही अनुभव करते हैं; उसी प्रकार प्रबल कर्म के मिलने से जिसका सहज एक ज्ञायकभाव (परमपारिणामिकभाव) तिरोभूत हो गया है, ऐसी आत्मा का अनुभव करनेवाले पुरुष (अज्ञानी)–आत्मा और कर्म का विवेक नहीं करनेवाले, व्यवहार से विमोहित हृदयवाले तो उसे (आत्मा को) जिसमें भावों का विश्वरूपत्व (अनेकरूपत्व) प्रगट है, ऐसा अनुभव करते हैं, परन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्ध नय को देखनेवाले = ज्ञानी) अपनी बुद्धि से डाले हुए शुद्ध नय (प्रज्ञाछैनी) अनुसार बोध होने मात्र से उत्पन्न हुए आत्मा – कर्म के विवेकत्व से (भेदज्ञान से) अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायकभावत्व के (परम पारिणामिकभाव के) कारण उसे (आत्मा को) जिसमें एक ज्ञायकभाव (परमपारिणामिकभाव) प्रकाशमान है, ऐसा अनुभव करते हैं.....' भावार्थ में पण्डितजी ने समझाया है कि जीव को 'जैसा है वैसा' सभी नयों से निर्णय करके सम्यक्एकान्तरूपी शुद्ध जानना , न कि एकान्त से अपरिणामी ऐसा शुद्ध जानना। उससे तो मिथ्यादर्शन का ही प्रसंग आता है क्योंकि जिनवाणी स्याद्वादरूप है। प्रयोजनवश नय को मुख्य–गौण करके कहती है। जैसे कि मलिन पर्याय गौण होते ही शुद्ध भावरूप परमपारिणामिकभाव हाज़िर ही है, न कि पर्याय को भौतिक रीति से अलग करके। क्योंकि अभेद द्रव्य में भौतिक रीति से पर्याय को अलग करने की व्यवस्था ही नहीं है, इसलिये विभावभाव गौण होते ही (पर्यायरहित का द्रव्य) परमपारिणामिकभावरूपी अभेद–अखण्ड आत्मा का ग्रहण होता है, आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

गाथा १२ : गाथार्थ :– 'परमभाव के (शुद्धात्मा के) देखनेवालों को (अनुभव करनेवालों को) तो शुद्ध (आत्मा) का उपदेश करनेवाला शुद्ध नय जानने योग्य है (अर्थात् शुद्ध नय के विषयरूप शुद्धात्मा का ही आश्रय करने योग्य है क्योंकि उसके आश्रय से ही श्रेणी चढ़कर वे सम्यग्दृष्टि जीव घातिकर्म का नाश करते हैं और केवली होते हैं), और जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं (अर्थात् मिथ्यात्वी हैं), वे व्यवहार द्वारा (अर्थात् भेदरूप व्यवहार द्वारा वस्तुस्वरूप समझाकर तत्त्वों का निर्णय कराने के लिये) उपदेश करने योग्य है।'

भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी बताते हैं कि :– 'अगर कोई जीव जो कि अपरमभाव में स्थित है (अज्ञानी है) वह व्यवहार छोड़े (भेदरूप और व्यवहार धर्मरूप दोनों) और उसे साक्षात्

शुद्धोपयोग की प्राप्ति तो हुई नहीं (अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ नहीं) इसलिये उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर, भ्रष्ट होकर चाहे जैसे स्वेच्छाचाररूप से (स्वच्छन्दता से) प्रवर्तते तो नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करता है।' यहाँ समझना यह है कि आत्मा अज्ञान अवस्था में चौबीस घण्टे कर्म का बन्ध करती ही है इस कारण से करुणावन्त आचार्य भगवन्तों ने बताया है कि जब तक तत्त्व का निर्णय और अनुभव न हो तब तक उसी के लक्ष्य से (शुद्ध के ही एकमात्र लक्ष्य से) नियम से शुभ में ही रहने योग्य है, न कि अशुभ में, क्योंकि अशुभ से तो देव-शास्त्र-गुरु का संयोग मिलना भी कठिन हो जाता है। इस बात में जिसको विरोध हो, वह हमें क्षमा करे क्योंकि यह बात हम किसी भी पक्ष रहित - निष्पक्ष भाव से बताते हैं कि जो सभी आचार्य भगवन्तों ने भी बतायी है और जहाँ-जहाँ (जिस भी गाथाओं में) इन बातों का सर्वथा निषेध करना बताया है, वह एकमात्र शुद्धभाव का लक्ष्य कराने को बताया है, न कि अशुभ में रमने के लिये। और मुनिराज को छठवें गुणस्थानक में इस बात का निषेध सातवें गुणस्थानरूपी अभेद आत्मानुभूति में स्थित होकर आगे बढ़कर केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने के लिये बताया है, न कि छठवें गुणस्थानक में सहज होनेवाले शुभ का निषेध करके नीचे गिराने को अर्थात् अविरति अथवा अज्ञानी होने को।

इसलिये सभी मुमुक्षु जनों को यह बात यथार्थ 'जैसा है वैसा' समझना अत्यन्त आवश्यक है, अर्थात् समझना यह है कि अहोभाव केवल शुद्धता का ही होना चाहिये, शुभ का नहीं ही, परन्तु जब तक जीव शुद्धरूप नहीं परिणमता तब तक रहना तो नियम से शुभ में ही है।

टीका श्लोक ४ :- 'निश्चय और व्यवहार-इन दो नयों को विषय के भेद से परस्पर विरोध है, उस विरोध को नाश करनेवाला 'स्यात्' पद से चिह्नित जो जिन भगवान का वचन, (वाणी) उसमें जो पुरुष रमते हैं (दोनों नयों का पक्ष छोड़कर मध्यस्थ रहते हैं) वे पुरुष स्वयमेव (अन्य कारण बिना) मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमन करके इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को तुरन्त देखते (अनुभवते) ही हैं। (अर्थात् कौन देखते हैं? तो कहते हैं कि 'स्यात्' वचनों में रमता पुरुष, न कि एकान्त का आग्रही पुरुष अर्थात् सम्यग्दर्शन जो कि सम्यक् एकान्तरूप होने पर भी आग्रह तो एकान्त का होता ही नहीं, प्ररूपणा एकान्त की होती ही नहीं। प्ररूपणा जैसी है वैसी स्यात् वचनरूप ही होती है)। कैसी है समयसाररूपी शुद्धात्मा? नवीन उत्पन्न नहीं हुई, पहले कर्म से आच्छादित थी, वह प्रगट व्यक्तिरूप हो गयी (अर्थात् पहले जो अज्ञानी को उदय-क्षयोपशमरूप से अनुभव में आती थी, वही अब ज्ञानी को उदय-क्षयोपशमभाव गौण हो

जाने पर समयसाररूपी = परमपारिणामिकभावरूपी = परमज्योतिरूप प्रगट होती है = ज्ञात होती है = अनुभव में आती है = व्यक्तिरूप होती है) और कैसी है वह? सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होती और निर्बाध है (अर्थात् जो सम्यग्दर्शन के लिये सर्वथा एकान्त नय की प्ररूपणा में रचते हैं, उन्हें शुद्धात्मा कभी प्राप्त ही नहीं होती, ऐसा ही यहाँ बताया है)।'

कई सम्प्रदायों में ऐसी मान्यता है कि शुद्धोपयोग सातवें या तेरहवें गुणस्थानक में ही होता है, चौथे गुणस्थानक में नहीं होता; ऐसा मानकर वे अपने ही सम्यग्दर्शन का मार्ग बन्द कर रहे हैं। उनके लिये ऊपर बताया है कि अधिकतर लोग कीचड़वाले जल को मलिन ही अनुभव करते हैं क्योंकि उनको जिनशासन के नयों की लक्ष्मी की समझ नहीं होने से या फिर कोई नय का आग्रह/पक्ष होने से ऐसा होता है। शुद्धनयाभासी लोगों को छोड़कर सभी को यह बात विदित है कि अज्ञानी जीव अभी अशुद्धरूप से ही परिणम रहा है, फिर भी भगवान ने उस जीव में ही द्रव्यदृष्टि से अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से शुद्धात्मा देखने को यानी अनुभव करने को कहा है और उसी को सम्यग्दर्शन की विधि कही है। इसलिये चौथे गुणस्थानक में भी शुद्धोपयोग होता है, यह मानना आवश्यक है अन्यथा वह जिनमतबाह्य ही कहलायेगा क्योंकि अगर ऐसा होता तब कुन्दकुन्दाचार्य जैसे आचार्य भगवन्त बार-बार शुद्धात्मा का अनुभव करके ज्ञानी होने को नहीं कहते। यह बात हम भी अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं।

टीका श्लोक ५ :- गाथा ११ और १२ को ही दृढ़ कराता है जो कि भेदरूपी व्यवहारनय है वह अज्ञानी को मात्र समझाने के लिये है परन्तु आत्मा में वैसे भेद नहीं है इसलिये आश्रय तो अभेदरूप शुद्धात्मा का, कि जिसमें पर द्रव्यों से होनेवाले भाव गौण होता है, उसी का करना है। वह आत्मा ही उपादेय है अर्थात् द्रव्य-पर्यायरूप भेद अथवा पर्याय के निषेधरूप भेद का जो आश्रय करते हैं, उन्हें अभेद आत्मा का आभास भी नहीं होता। अर्थात् वे भेद में ही रमते हैं अर्थात् वे विकल्प में ही रमते हैं और भेद का ही आदर करते हैं क्योंकि उन्हें निषेध रहित दृष्टि का विषय ही मान्य नहीं होता, ऐसी है करुणाजनक परिस्थिति।

टीका श्लोक ६ :- यहाँ आचार्य भगवान बताते हैं कि जो नौ तत्त्व की परिपाटी है उसे छोड़कर अर्थात् गौण होकरके दिखने पर - आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उस भाव को अनुभव में आते ही आत्मा प्राप्त होती है।

टीका श्लोक ७ में आचार्य भगवान गाथा १३ का ही भाव व्यक्त करते हैं कि नौ तत्त्व में व्याप्त ऐसी आत्मज्योति (अर्थात् परमपारिणामिकभाव), नौ तत्त्व गौण होते ही एक अखण्ड

आत्मज्योति (अर्थात् परमपारिणामिकभाव) प्राप्त होती है।

गाथा १३ : गाथार्थ :- 'भूतार्थ नय से जाने हुए (अर्थात् अभेद ऐसे शुद्ध नय से जाने हुए) जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, और मोक्ष - ये नौ तत्त्व सम्यक् हैं।' अर्थात् अभेद ऐसे शुद्ध नय से जो ऐसा जानता है कि यह सभी नौ तत्त्वरूप परिणमित जीव विशेष अपेक्षा से नौ तत्त्वरूप भासित होता है, परन्तु अभेद शुद्ध नय द्वारा ये नौ तत्त्व जिसके बने हुए हैं, वह एकमात्र सामान्यभावरूपी अर्थात् अभेद शुद्ध जीवत्वभावरूपी 'शुद्धात्मा' ही है और इसी प्रकार जो नौ तत्त्व को जानता है, उसे ही सम्यग्दर्शन है अर्थात् वही सम्यक्त्व है; यह गाथा समयसार के साररूप है। सभी अधिकारों का उल्लेख इस गाथा में करके सभी अधिकारों के साररूप से सम्यग्दर्शनरूपी आत्मा का स्वरूप समझाया है।

गाथा १३ : टीका :- 'ये जीवादि नौ तत्त्व भूतार्थ नय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं (यह नियम कहा)। (भूतार्थ नय से अर्थात् शुद्ध अभेद नय से = इन जीवादि नौ तत्त्वोंरूप से आत्मा ही परिणमता है, इसलिये इन नौ तत्त्व गौण होते ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है = आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन हो सकता है); क्योंकि तीर्थ की (व्यवहार धर्म की) प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नय से (ये नौ तत्त्व) कहने में आते हैं (अर्थात् जो जीव अपरम भाव में स्थित है - अज्ञानी है, उसे आगम की भाषा में उदय-उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक-पारिणामिक - ऐसे पाँच भावरूप से प्ररूपित किया जाता है) ऐसे ये नौ तत्त्व - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष - उन में एकपना प्रगट करनेवाले भूतार्थ नय से एकत्व प्राप्त करके (अर्थात् उन सभी तत्त्वरूप से जो आत्मा परिणमित है, वह बाह्य निमित्त के भाव अथवा अभाव से परिणमित है, उन नौ तत्त्वरूप परिणमित ऐसी आत्मा में विशेषभाव गौण होते ही, एक अभेद ऐसा सहज परिणमनरूपी आत्मा जो कि परमपारिणामिकभावरूपी है = समयसाररूपी है, वह प्राप्त होती है, उसे प्राप्त करते ही), शुद्धनयरूप से स्थापित आत्मा की अनुभूति - कि जिसका लक्षण आत्मख्याति है - उसकी प्राप्ति होती है (अर्थात् सम्यग्दर्शनरूपी - समयसाररूपी आत्मा की प्राप्ति होती है)। (अर्थात् शुद्ध नय से नौ तत्त्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा)। वहाँ, विकारी होने योग्य (आत्मा) और विकार करनेवाला (कर्म) ये दोनों पुण्य हैं.... क्योंकि एक को ही (आत्मा को) स्वयमेव (स्वभाव से) पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि - उस भावरूप आत्मा की परिणती) नहीं होती। वे दोनों जीव (भाव कर्म) और अजीव (द्रव्य कर्म) हैं (अर्थात् उन दोनों में एक जीव है और

दूसरा अजीव है)।

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाये तो – जीव-पुद्गल के अनादि बन्धपर्याय के समीप जाकर एकत्व अनुभव करने पर ये नौ तत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं (अर्थात् आगम में निरूपित पाँच भावयुक्त जीव में ये नव तत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं) औरी एक जीव द्रव्य के स्वभाव ('स्व' का भाव ='स्व' का सहज परिणमनरूपभाव = परमपारिणामिकभाव = कारणशुद्धपर्याय = कारणशुद्धपरमात्मरूपी भाव) के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। (समयसार जैसे अध्यात्मग्रन्थ में निरूपित शुद्धात्मरूपी जीव में वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं)। (जीव के एकाकार स्वरूप में वे नहीं हैं) इसलिये इन नौ तत्त्वों में भूतार्थ नय से एक जीव ही प्रकाशमान है...' यही गाथा का भाव श्लोक ८ में विशेषरूप से समझाया गया है।

टीका श्लोक ८ :- 'इस प्रकार नौ तत्त्वों में बहुत काल से छिपी हुई इस आत्मज्योति को (अर्थात् आत्मा के उदय – क्षयोपशमरूप जो भाव हैं, वे सभी जीवों को अनादि के होते हैं और जो जीव अज्ञानी है, वह उन्हीं भावों में रमता है तथापि प्रत्येक जीव में अनादि से परम पारिणामिक भावरूपी छिपी हुई आत्मज्योति मौजूद ही होती है, हाज़िर ही होती है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित मात्र उदय-क्षयोपशमरूप भाव गौण होके उसका लक्ष्य होते ही वह प्राप्त होती है अर्थात् इन नौ तत्त्व गौण होते ही जो सामान्य जीवत्वभाव शेष रहता है, वह तीनों काल शुद्ध होने से, कहा है कि नौ तत्त्वों में बहुत काल से छिपी हुई आत्मज्योति को), जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकाले वैसे (अशुद्धात्मा में से अशुद्धि गौण होते ही, उसमें छिपी हुई एकाकार = अभेद शुद्धात्मा साक्षात् होती है वैसे), शुद्ध नय से (अर्थात् ऊपर कहे अनुसार अशुद्धभाव गौण होते ही) बाहर निकालकर प्रगट की गयी है। इसलिये हे भव्य जीवो! हमेशा उसे अन्य द्रव्यों से (अर्थात् पुद्गलरूप कर्म-नोकर्म से) तथा उन से होनेवाले नैमित्तिक भावों से (अर्थात् औदयिकभावों से) भिन्न (अर्थात् हमने पूर्व में जो दो प्रकार से भेदज्ञान करने का बताया था वैसे); एकरूप देखो। यह (ज्योति = परम पारिणामिकभाव), पद-पद पर अर्थात् पर्याय-पर्याय में एकरूप चिद्चमत्कार के रूप में उद्योतमान है। (अर्थात् प्रत्येक पर्याय में पूर्ण जीव व्यक्त होता ही है अर्थात् पर्याय में पूर्ण द्रव्य होने से ही ऐसा बताया है। अर्थात् पर्याय ही वर्तमान जीव द्रव्य है, ऐसा जो हमने पूर्व में बताया है, वही समझ यहाँ दृढ़ होती है)।'

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि आगम और अध्यात्म में ज़रा भी विरोध नहीं है क्योंकि आगम से जीव का स्वरूप 'जैसा है वैसा' समझकर अर्थात् जीव को सभी नय से जानकर

आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित अध्यात्मरूप शुद्ध नय द्वारा ग्रहण होते ही सम्यग्दर्शन रूप आत्मज्योति प्रगट होती है, प्राप्त होती है अर्थात् पर्याय में विशेषभाव गौण होते ही एकरूप – अभेदरूप चिद्चमत्कार मात्र ज्योति अर्थात् सामान्यभावरूप परमपारिणामिकभाव हाज़िर ही है जो कि सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है और आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उस में ही 'मैंपन' होने से स्वानुभूति प्रगट हो सकती है; यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

टीका श्लोक ९ :– 'आचार्य शुद्ध नय का अनुभव करके कहते हैं कि इन सारे भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्ध नय (अर्थात् जीव में भेदरूप द्रव्य–गुण–पर्याय, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य अथवा उदय–उपशम–क्षयोपशमरूप भाव गौण होकर परमपारिणामिकभावरूपी समयसाररूपी शुद्ध नय) का विषयभूत चैतन्य–चमत्कार मात्र (ज्ञानमात्र = परमपारिणामिकभाव मात्र) तेज पुंज आत्मा का अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती (अर्थात् सारे नय विकल्प रूप ही हैं, जबकि परमपारिणामिकभाव सभी विशेषभावरहित होने से अर्थात् उसमें कुछ भी विकल्प न होने से उसमें नय–निक्षेप, स्व–पर रूपी भाव नहीं है। वहाँ मात्र एक शुद्ध अभेद भाव में ही 'मैंपन' है, इसलिये) प्रमाण अस्त को प्राप्त होता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, वह हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत प्रतिभासित ही नहीं होता। (स्वानुभूति के काल में मात्र मैं का ही आनन्द – वेदन होता है, वहाँ स्व–पर रूप कोई द्वैत होता ही नहीं)।'

टीका श्लोक १० :– 'शुद्ध नय आत्मा के स्वभाव को प्रगट करता हुआ ('स्व' के भावनरूप = स्व का सहज परिणमनरूप = परमपारिणामिकभावरूपी प्रगट करता हुआ) उदय होता है। वह आत्मस्वभाव को कैसे प्रगट करता है? (वह प्रगट किया हुआ आत्मस्वभाव कैसा है?) पर द्रव्य, पर द्रव्य के भाव तथा पर द्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव – ऐसे परभावों से भिन्न करता है। (अर्थात् पर द्रव्य तो प्रगट भिन्न है, इसलिये उनके साथ उनके लक्षण से भेदज्ञान करता है और पर द्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने जो विभाव हैं, वे जीवरूप हैं, इसलिये उन विभाव गौण होते है और विभावों में छिपी हुई आत्मज्योति मुख्य होती है) और वह आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूप से पूर्ण है – सम्पूर्ण लोकालोक को जाननेवाला है ऐसा प्रगट करता है; (यहाँ समझना यह है कि परमपारिणामिकभावरूपी आत्मा का अर्थात् ज्ञान का लक्षण –ज्ञान का स्वभाव प्रतिबिम्ब रूप से पर को झलकाने का है, उस प्रतिबिम्ब गौण होते ही वहाँ दर्पण की भाँति स्वच्छत्वरूपी परिणमन हाज़िर है ही और ज्ञान का स्वभाव लोकालोक को झलकाने का है इसलिये ही वह 'ज्ञान' नाम पाता है, अन्यथा नहीं। उस ज्ञेयरूप झलकन गौण होते ही वहाँ ज्ञानमात्ररूप =

परमपारिणामिकभावरूपी = ज्ञायक हाज़िर ही है। इसलिये 'आत्मा वास्तव में पर को जानती ही नहीं' ऐसी प्ररूपणा करके आत्मा के लक्षण का अभाव करने से आत्मा का ही अभाव होता है) और वह आत्मस्वभाव को आदि-अन्त से रहित प्रगट करता है (परमपारिणामिकभाव वह आत्मा का अनादि-अनन्त 'स्व' भावन रूप 'स्व' भाव है। वह त्रिकाल शुद्ध होने से उसे आदि-अन्त से रहित कहा है) और वह आत्मस्वभाव को एक - सभी भेदभावों से (द्वैतभावों से) रहित एकाकार प्रगट करता है। (सभी प्रकार के भेदरूपभाव जैसे कि द्रव्य-गुण-पर्याय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र, निषेध रूप, स्व-पररूप भावों से रहित प्रगट करता है) और जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलय हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है। (अर्थात् उदय, क्षयोपशम भाव गौण होते ही परमपारिणामिकभावरूपी आत्मा में कुछ भी संकल्प-विकल्प, नय-प्रमाण-निक्षेप इत्यादि रहते ही नहीं - ऐसा आत्मा प्रगट करता है)। ऐसा शुद्ध नय प्रकाश रूप होता है।'

गाथा १४ : गाथार्थ :- 'जो नय आत्मा को (१) बन्धरहित और (२) पर के स्पर्शरहित, (३) अन्यपनेरहित, (४) चलाचलतारहित, (५) विशेषरहित (अर्थात् विशेष गौण होते ही जो एक सामान्यरूप भाव अर्थात् परमपारिणामिकभावरूपी जीव है वह अन्य के लक्ष्य से होनेवाले सारे भाव जो कि विशेष हैं, उनसे रहित ही होता है), अन्य के संयोग रहित - ऐसे पाँच भावरूप देखता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्ध नय जान।' अर्थात् जैसा हमने पूर्व में बताया, वैसे सभी पर द्रव्य तथा पर द्रव्य के लक्ष्य से होनेवाले आत्मा के भावों से (वे गौण होकरके) भेदज्ञान होने से शुद्ध नयरूप अर्थात् अभेद ऐसा पंचमभावरूप सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) प्राप्त होता है।

गाथा १४ : टीका :- 'निश्चय से अबद्ध-अस्पृष्ट (आत्मा के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ऐसे चार भावों से अबद्ध-अस्पृष्ट), अनन्य (तथापि आत्मा के परिणमन = पर्याय से अनन्य परमपारिणामिकभावरूपी = कारणशुद्धपर्यायरूपी), नियत (नियम से एक समान सहज परिणमनरूप), अविशेष (जिसमें विशेष रूप चारों ही भावों का अभाव है ऐसा सामान्य परिणमनरूप = सहजपरिणमनरूप) और असंयुक्त (कि जो ऊपर कहे गये चार भावों से संयुक्त नहीं है - इन चार भाव गौण होते ही शुद्ध नय का आत्मा प्राप्त होता है, वैसा असंयुक्त) ऐसे आत्मा की जो अनुभूति, वह शुद्ध नय है और वह अनुभूति आत्मा ही है, इस प्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है....'

टीका श्लोक ११ :- 'जगत के प्राणियो! उस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो जहाँ ये बद्ध-स्पृष्ट आदि भाव (ऊपर कहे वे चार भाव) स्पष्टरूप से उस स्वभाव के ऊपर तैरते हैं (अर्थात्

वे भाव होते हैं तो आत्मा के परिणाम में ही अर्थात् आत्मा में ही) तो भी (वे परमपारिणामिक भाव में) प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि द्रव्य स्वभाव (द्रव्यरूप आत्मा के 'स्व' का भावनरूप 'स्व'भाव) तो नित्य है (वैसे का वैसा ही होता है), एकरूप है (अनन्यरूप है, अभेद है, वहाँ कोई भेद नहीं) और ये भाव (अर्थात् कि अन्य चार भाव) अनित्य है, अनेकरूप है, पर्यायें (चार भावरूप पर्यायें - विभावभाव) द्रव्य स्वभाव में प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती हैं (वे चार भाव परमपारिणामिकभावरूपी द्रव्य स्वभाव में प्रवेश पाती ही नहीं क्योंकि परमपारिणामिकभावरूपी द्रव्य स्वभाव सामान्यभावरूप है इसलिये उसमें विशेषभाव का तो अभाव ही होता है अर्थात् विशेष भाव द्रव्य स्वभाव में प्रवेश नहीं करते, ऊपर ही रहते हैं) यह शुद्ध स्वभाव ('स्व' के भावनरूप = परमपारिणामिकभाव) सारी अवस्थाओं में प्रकाशमान है। (आत्मा में तीनों काल हैं इसलिये ही त्रिकाली शुद्धभाव कहलाता है) ऐसे शुद्ध स्वभाव का, मोहरहित होकर जगत का अनुभव करो, क्योंकि मोह कर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूप अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।'

टीका श्लोक १२ :- 'यदि कोई सुबुद्धि (अर्थात् जिसे तत्त्वों का निर्णय हुआ है, ऐसा कि जो सम्यग्दर्शनप्राप्ति की पूर्व की पर्यायों में स्थित है ऐसा) भूत, वर्तमान और भावी ऐसे तीनों काल के (कर्मों के) बन्ध को अपने आत्मा से तत्काल-शीघ्र भिन्न करके (अर्थात् कर्मरूपी पुद्गलों को अपने से भिन्न जानकर - जड़ जानकर अपने को चेतनरूपी अनुभव कर) तथा उन कर्मों के उदय के निमित्त से हुए मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोककर अथवा नाश करके (ऊपर श्लोक ११ में बताये अनुसार आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित चार भाव गौण होकरके, अपने को परमपारिणामिकभावरूप अनुभवते ही मिथ्यात्व उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय को प्राप्त होता है अर्थात् अपने को त्रिकाली शुद्धभावरूपी = परमपारिणामिकभावरूपी जानना/अनुभव करने रूप पुरुषार्थ करे अर्थात्) अन्तरंग में अभ्यास करे - देखे तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही ज्ञात होने योग्य जिसकी प्रकट महिमा है, ऐसी व्यक्त (अनुभवगोचर) ध्रुव (निश्चल) शाश्वत नित्य कर्मकलंक कर्दम से रहित (परमपारिणामिकभावरूपी) ऐसी स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान है।'

टीका श्लोक १३ :- ''इस प्रकार जो पूर्व कथित शुद्ध नय स्वरूप आत्मा की अनुभूति है (अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति है) वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, ऐसा जानकर (अर्थात् जो आत्मा की अनुभूति है, वही ज्ञान की अनुभूति है, उन दोनों में कुछ भी भेद नहीं है) तथा

आत्मा में, आत्मा को निश्चल स्थापित कर (अर्थात् उस शुद्धात्मा का निश्चल – एकाग्ररूप से ध्यान करके) 'सदा सब ओर एक ज्ञान घन आत्मा है' ऐसा देखना।'' अर्थात् जो शुद्धात्मा है उसे ज्ञान अपेक्षा से ज्ञानघन, ज्ञानमात्र, ज्ञानसामान्य इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है, यहाँ विशेष इतना ही है कि जिस गुण से शुद्धात्मा को देखा जाता है, उस गुणमय ही पूर्णरूप से शुद्धात्मा ज्ञात होती है अर्थात् शुद्धात्मा में कोई भेद ही नहीं है।

गाथा १५ : गाथार्थ :– 'जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (अर्थात् किसी भी प्रकार के बन्धरहित शुद्ध और जिसमें सारे विभावभाव अत्यन्त गौण हो गये होने से, विभावभाव से नहीं स्पर्शित ऐसा कि जिसे सम्यक् एकान्तरूप भी कहा जाता है ऐसा), अनन्य (वह स्वयं निरन्तर अपने रूप में ही परिणमता होने से अन्य रूप नहीं होता अर्थात् उसके सभी गुणों का सहज परिणमनयुक्त परमपारिणामिकभावरूपी), अविशेष (अर्थात् सर्व विशेष जिसमें गौण हो गया होनेसे, मात्र सामान्यरूप अर्थात् जो औदयिक आदि चार भाव हैं, वे विशेष हैं परन्तु यह परमपारिणामिक–भावरूपी पंचमभाव सामान्यभावरूप होने से विशेष रहित होता है। जैसे हमने पूर्व में देखा वैसे। वे विशेषभाव सामान्य के ही बने हुए होते हैं अर्थात् जीव एक पारिणामिकभावरूप ही होता है, परन्तु विशेष में जो कर्म के उदय निमित्त से भाव होते हैं, उस अपेक्षा से वह पारिणामिकभाव ही औदयिक इत्यादि नाम पाता है और उन औदयिकादिभावों का सामान्य अर्थात् परमपारिणामिकभाव में अभाव होने से उसे अविशेष) देखता है वह पूरे जिनशासन को देखता है (अर्थात् जिसने एक आत्मा जाना, उसने सब जाना) – कि जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।'

गाथा १७–१८ : गाथार्थ :– 'जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष (उसी प्रकार कोई आत्मा का अर्थी पुरुष) राजा को जानकर श्रद्धा करता है (अर्थात् जीवराजारूपी शुद्धात्मा की श्रद्धा करता है), तत्पश्चात् उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है (अर्थात् उस शुद्धात्मा का अनुभव करने के लिये वैराग्यादि का पुरुषार्थ करता है) अर्थात् सुन्दर रीति से सेवा करता है (अर्थात् उसे पाने के उपाय का बारम्बार मनन–चिन्तन करता है), इसी प्रकार मोक्ष की इच्छावाले को जीवरूपी राजा को जानना, पश्चात् उसी प्रकार उसका श्रद्धान करना और तत्पश्चात् उसका अनुसरण करना अर्थात् अनुभव द्वारा तन्मय हो जाना।'

गाथा ३५ : गाथार्थ :– ''जैसे लोक में कोई पुरुष पर वस्तु को 'यह पर वस्तु है' ऐसा जाने तब ऐसा जानकर पर वस्तु को त्यागता है; उसी प्रकार ज्ञानी सभी पर द्रव्यों के भावों को 'ये पर भाव हैं' ऐसा जानकर उन्हें छोड़ता है।'' पर के लक्ष्य से होनेवाले अपने भाव में ज्ञानी का

'मैंपन' न होने से वह उन्हें छोड़ता है ऐसा कहा जाता है अर्थात् उन परलक्ष्य से होनेवाले भावों को ज्ञानी अपनी कमज़ोरी समझता है और कोई भी जीव अपनी कमज़ोरी का पोषण करना चाहता ही नहीं; इसी प्रकार ज्ञानी भी उन परलक्ष्य से होनेवाले भावों को बिलकुल नहीं चाहता और इसी लिये उनसे छूटने के प्रयत्न करता है अर्थात् शक्ति अनुसार चारित्र ग्रहण करता है; ऐसा है जिनसिद्धान्त का अनेकान्तमय ज्ञान।

गाथा ३६ : गाथार्थ :- ''ऐसा जाने कि 'मोह के साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, एक उपयोग है वह ही मैं हूँ' (अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषय में मोहरूप विभावभाव नहीं होने से, जब ज्ञानी शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करता है तब वह मात्र उतना ही है, उसे किसी विभावभाव के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं अर्थात् उसे एकमात्र सामान्य उपयोगरूप ज्ञायकभाव में ही 'मैंपन' होने से, उस का तब मोह के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं, एक शुद्धात्मा है, वही मैं हूँ) - ऐसा जो जानना, उसे सिद्धान्त के अथवा स्व-पर के स्वरूप के जाननेवाले मोह से निर्ममत्व कहते हैं।'' अर्थात् ज्ञानी को मोह में 'मैंपन' नहीं होता, इसलिये ज्ञानी को मोह से निर्ममत्व है।

गाथा ३८ : गाथार्थ :- 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणमित आत्मा (अर्थात् परम पारिणामिकभावरूपी सहज दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणमन करता भाव जो कि शुद्धात्मा है, उसमें ही 'मैंपन' करती हुई ऐसी सम्यग्दृष्टि आत्मा) ऐसा जानती है कि निश्चय से मैं एक हूँ (अर्थात् वह अभेद का ही अनुभव करती है), शुद्ध हूँ (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' होने से मैं शुद्ध हूँ, ऐसा अनुभवती है), दर्शन ज्ञानमय हूँ (अर्थात् मात्र जानने-देखनेवाली ही हूँ), सदा अरूपी हूँ (अर्थात् किसी भी रूपी द्रव्य में और उससे होनेवाले भावों में 'मैंपन' नहीं होने से अपने को मात्र अरूपी ही अनुभवती है); कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है।'

टीका श्लोक ३२ :- 'यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा (अर्थात् ज्ञानमात्र शुद्धात्मा) विभ्रमरूपी आड़ी चादर को डुबोकर (अर्थात् शुद्ध नय से सारे विभावभाव अत्यन्त गौण होकरके, पर्याय को द्रव्य में अन्तर्गत कर लेता है अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुद्धात्मा में ही दृष्टि होकरके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुई है (अर्थात् ऐसी शुद्धात्मा का अनुभव हुआ है); अब यह समस्त लोक (अर्थात् समस्त विकल्परूपी लोक - विभावरूपी लोक) उसके शान्त रस में (अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अनुभूति में) एक साथ ही अत्यन्त मग्न हो (अर्थात् अपने को निर्विकल्प अनुभवता है वह) कैसा है शान्त रस (अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द)? समस्त लोक पर्यन्त उछल रहा है (अर्थात् अमाप,

अनहद, उत्कृष्ट) है।' ऐसी है आत्मा की अनुभूति कि जो हम अनेक बार अनुभवते हैं और वह सभी मुमुक्षु जीवों को प्राप्त हो ऐसा चाहते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की सिद्धि होने से, यहीं समयसार पूर्ण हो जाता है; अब बाद का जो विस्तार है, वह तो मात्र विस्ताररुचि जीवों को, विस्तार से इसी शुद्धात्मा में 'मैंपन' होता है या नहीं, अनुभव होता है या नहीं यह जाँचकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये, विस्तार से भेदज्ञान समझाया है। अर्थात् यह जीव अनादि से जो नौ तत्त्वों के रूप में अलग-अलग वेश में परिणमकर और पर में कर्ताभाव को पोषण कर ठगा जाता है। उस ठगाई को स्पष्ट करके उस ठगाई से बचने के लिये विस्तार से सारे भावों से भेदज्ञान समझाया है। किसी को ऐसा नहीं समझना चाहिये कि वे नौ तत्त्वरूपीभाव एकान्त से जीव के नहीं हैं अर्थात् ये नौ तत्त्वरूपीभाव हैं तो जीव के ही, परन्तु स्वात्मानुभूतिमें वे नहीं होते, इस अपेक्षा से उन्हें जीव के नहीं हैं ऐसा कहा है और उन्हें उसी प्रकार से समझना अति आवश्यक है। यदि कोई एकान्त से ऐसा कहे कि ये नौ तत्त्वरूपभाव मेरे भाव ही नहीं हैं तो वह भ्रमरूप परिणमकर अनन्त संसार को बढ़ानेवाला बनेगा। इसलिये जिस अपेक्षा से जहाँ जो कहा हो, उसी अपेक्षा से वहाँ वह समझना और वैसा ही आचरण करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा तो स्वच्छन्दता से भ्रमरूप परिणमकर अपने को ज्ञानी मानता हुआ वह जीव अपना और अन्य अनेकों का अहित करता हुआ स्वयं तो भ्रष्ट है ही और अन्य अनेकों को भी भ्रष्ट करेगा।

- समयसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र बताते हैं कि आत्मज्ञान के अभाव में शुद्धात्मा का श्रद्धान न जाने हुए गधे के सींग पर श्रद्धान के समान होने के कारण सम्यक् श्रद्धान नहीं होता। यानी वह श्रद्धान केवल बौद्धिक कल्पना ही होता है। इसलिये आत्मा सधती नहीं, आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा होने पर भी कई उपदेशक अज्ञानी को भी बौद्धिकरूप से 'मैं शुद्धात्मा हूँ' यह मानने को कहते हैं या जाप जपने को कहते हैं या धारणा करने को कहते हैं या निर्णय करने को कहते हैं। बिना आत्मा की वैराग्यादि योग्यता के और बिना आत्मसन्मुखता पाये आत्मानुभूति नहीं होती यानी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता क्योंकि तब तक जीव बहिरात्मा ही है और बहिरात्मा को आत्मानुभूति नहीं होती।

३७

समयसार के अधिकारों का विहंगावलोकन

अब हम विस्ताररुचि जीवों के लिये समयसार शास्त्र के सभी अधिकारों का विहंगावलोकन करेंगे; जिस में सर्व अधिकारों का सारमात्र ही बतायेंगे, इसलिये विस्ताररुचि जीवों को उपरोक्त पूर्वरंग में विस्तार से बताये भाव के अनुसार और सभी अधिकारों के यहाँ बताये सार अनुसार उन सभी अधिकारों का अभ्यास करना, अन्यथा नहीं। स्वच्छन्दता से नहीं। स्वच्छन्दता ही अपने अभी तक के अनन्त संसार का कारण है कि जिसे अब फिर कभी भी पोषण नहीं करना, ऐसा हमारा सभी मुमुक्षु जीवों से निवेदन है।

१. जीव-अजीव अधिकार :- यह अधिकार जीव को, अजीव रूप कर्म-नोकर्म और उनके लक्ष्य से होनेवाले अपने विभावभावों से भेदज्ञान कराने के लिये है अर्थात् वे सब भाव जैसे कि-रस, गन्ध, स्पर्श, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, कर्म, पर्याप्ति, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्म स्थान, अनुभाग स्थान, मन-वचन-काया के योग, बन्ध स्थान, उदय स्थान, मार्गणा, स्थितिबन्ध स्थान, संक्लेश स्थान, विशुद्धि स्थान, जीव स्थान इत्यादि जीव को नहीं है, ऐसा कहा है।

प्रश्न :- यहाँ प्रश्न होता है कि वे भाव जीव के क्यों नहीं है?

उत्तर :- वे भाव दो प्रकार के हैं, एक तो पुद्गलरूप हैं और दूसरे जीव के विशेषभावरूप हैं; उनमें जो पुद्गलरूप हैं, वे तो जीव से प्रगट भिन्न ही हैं और जो जीव के विशेषभावरूप हैं, उन भावों में सम्यग्दृष्टि को 'मैंपन' न होने से अर्थात् उन सब भावों से भिन्न ऐसा 'शुद्धात्मा' वह सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) होने की अपेक्षा से, शुद्धात्मारूप जीवराजा में वे भाव नहीं हैं, ऐसा कहा है। ऐसा स्वात्मानुभूति जाँचकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये कहा है, अन्यथा नहीं, एकान्त से नहीं; इसलिये जैसा है वैसा समझकर मात्र शुद्धात्मा जो कि इन सब भावों से भिन्न है, आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उसमें ही 'मैंपन' होने पर, स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है और तत्पश्चात् ही ज्ञान मध्यस्थ होने से अर्थात् प्रमाणरूप होने से ही जीव को जैसा है वैसा जानता है और विवेक से आत्मस्थिरतारूप पुरुषार्थपूर्वक सभी कर्मों का क्षय करने के प्रति कार्यरत होता है यानी सभी कर्मों का क्षय करने को व्रत-तप-ध्यानरूपी पुरुषार्थ आदरता है, यही मोक्षमार्ग है। यही विधि है मोक्षप्राप्ति की।

श्लोक ४३ :- 'इस प्रकार पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण जीव से अजीव भिन्न है, उसे (अजीव को) स्वयमेव ही विलसता-परिणमता ज्ञानीपुरुष अनुभव करते हैं, तो भी अज्ञानी को अमर्यादित रूप से फैला हुआ मोह (अनन्तानुबन्धी चतुष्टयरूप) क्यों नाचता है - यह हमें महा आश्चर्य और खेद है!' आचार्य भगवान को अज्ञानी पर परम करुणाभाव वर्तता है, उपजता है।

श्लोक ४४ :- 'इस अनादिकाल के महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में पुद्गल ही नाचता है (परिणमता है), अन्य कोई नहीं (शुद्धात्मा नहीं)। यह जीव तो (अर्थात् शुद्धात्मा) रागादि पुद्गल विकारों से विलक्षण (भिन्न) शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति (अर्थात् ज्ञानघन) है।' अर्थात् ऐसा जीव ही अनुभव करने योग्य है अर्थात् ऐसा जीव ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

श्लोक ४५ :- 'इस प्रकार ज्ञानरूपी करवत का (अर्थात् वैराग्यादि योग्यताओं सहित भेदज्ञान करने का) जो बारम्बार अभ्यास (अर्थात् भेदज्ञान के लिये वैराग्यादि योग्यता का अभ्यास करने योग्य है) उसे नचाकर (अर्थात् अभ्यास करके) जहाँ जीव और अजीव दोनों प्रकटरूप से भिन्न नहीं हुए (अर्थात् उस भेदज्ञानरूपी करवत् से अर्थात् प्रज्ञाछैनी से जो अजीवरूपी कर्म-नोकर्म और उनके लक्ष्य से हुए सब भावों से भिन्न स्वयं अर्थात् शुद्धात्मा प्रकट भिन्न है, ऐसा अनुभव होने से अर्थात् अपनी इन अजीवरूपी कर्म-नोकर्म और उनके लक्ष्य से हुए सब भावों से प्रकट भिन्न अनुभूति होते ही) वहाँ तो ज्ञाता द्रव्य (अर्थात् जाननेवाला शुद्धात्मा) अत्यन्त विकासरूप होती अपनी प्रगट (अर्थात् प्रकट अनुभूति स्वरूप) चिन्मात्र शक्ति से विश्व को व्यापकर (अर्थात् कृतकृत्य होकर अद्वितीय आनन्दरूप परिणमकर और स्व विश्व को व्यापकर) स्वयमेव ही अति वेग से उग्रतासे अर्थात् अत्यधिक प्रकाशित हो उठी (अर्थात् ऐसा सहज सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया कि जो स्वात्मानुभूति रूप सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है)।'

२. कर्ता-कर्म अधिकार :- जीव का दूसरा वेष कर्ता-कर्मरूप है। जीव अन्य का कर्ता होता है कि जिसे वह उपादानरूप से परिणमाने को शक्तिमान ही नहीं है यानी सभी द्रव्य अपने उपादान से ही अपनी परिणति करते हैं अर्थात् अपना कार्य करते हैं - परिणमते हैं, उसमें अन्य द्रव्य निमित्त मात्र ही होते हैं।

दूसरे सम्यग्दर्शन के लिये जो मात्र अपने भाव हों, वे ही अर्थात् 'स्व' भाव हों उन में ही 'मैंपन' होने से और उस सम्यग्दर्शन के विषय रूप 'स्व'-भाव, मात्र सामान्यभावरूप ही होने से वह निष्क्रियभाव ही होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषयरूपी 'स्व' भाव में उदय-क्षयोपशमरूप कर्ताकर्मभाव जो कि विशेषभाव हैं, वे न होने से, निमित्त तथा उसके लक्ष्य से हुए विशेषभावों

का उसमें निषेध ही होता है अर्थात् निमित्त का ही निषेध होता है, इस कारण से और इस अपेक्षा से भी निमित्त को परम अकर्ता कहा जाता है।

परन्तु यदि निमित्त को कोई एकान्त से अकर्ता माने और स्वच्छन्दता से निर्बल निमित्तों का ही सेवन करे तो वह जीव अनन्त संसारी होकर, अनन्त दु:ख प्राप्त करेगा। विवेक ऐसा है कि जीव सब ख़राब निमित्तों से बचकर, शास्त्र स्वाध्याय इत्यादि अच्छे निमित्तों का सेवन करके, शीघ्रता से मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता है; न कि एकान्त से निमित्त को अकर्ता मानकर, स्वच्छन्दता से सब निर्बल निमित्तों को सेवन करता हुआ अनन्त संसारी अर्थात् अनन्त दु:खी होता है।

विवेकीजन जानते हैं कि 'मात्र निमित्त से कुछ भी नहीं होता और निमित्त बिना भी कुछ नहीं होता' अर्थात् स्व का सम्यग्दर्शनरूपी जो परिणमन है, वह मात्र निमित्त मिलने से होगा, ऐसा नहीं परन्तु उसके लिये स्वयं अपना उपादानरूपी पुरुषार्थ करे तो ही होगा यानी सभी जनों को सम्यग्दर्शन के लिये नियति इत्यादि कारणों का इन्तज़ार न करके अपना पुरुषार्थ उस दिशा में स्फुरित करना अति आवश्यक है।

विवेकी जीव समझते हैं कि जो अपने भाव बिगड़ते हैं वे वैसे निमित्त मिलने से बिगड़ते हैं। ऐसा जानकर, वे ख़राब निमित्तों से निरन्तर दूर ही रहने का प्रयत्न करते है, जैसे कि ब्रह्मचर्य और आत्मध्यान के लिये भगवान ने एकान्तवास का सेवन करना बताया है। ऐसा है विवेक निमित्त-उपादानरूपी सम्बन्ध का, इसलिये उसे इस परिप्रेक्ष्य में ही समझना, अन्यथा नहीं। यहाँ अनुभूति जाँचने को अर्थात् पर से दृष्टि हटाने के लिये निमित्त को परम अकर्ता कहा है, अन्यथा नहीं।

श्लोक ६९ :- 'जो नय पक्षपात को छोड़कर (अर्थात् हमने पूर्व में अनेक बार बताये अनुसार जिसे किसी भी एक नय का आग्रह हो अथवा तो कोई मत-पन्थ-व्यक्तिविशेषरूप पक्ष का आग्रह हो और जो वैसे पूर्वाग्रह-हठाग्रह छोड़ सकते हैं वे) स्वरूप में गुप्त होकर (यानी स्व में अर्थात् शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' होकरके सम्यग्दर्शनरूप परिणमकर) सदा रहते हैं वे ही (यानी नय और पक्ष को छोड़ते हैं, वैसे मुमुक्षु जीव ही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं), जिनका चित्त विकल्पमल से रहित शान्त हुआ है ऐसे होते हुए (निर्विकल्प 'शुद्धात्मा' का अनुभव करते हुए) साक्षात् अमृत को (अर्थात् अनुभूतिरूपी अतीन्द्रिय आनन्द को) पीते हैं (अनुभव करते हैं)।' अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये सभी को नय और पक्ष का आग्रह छोड़ने योग्य है।

श्लोक ९० :- 'इस प्रकार जिसमें बहुत विकल्पों का जाल अपने आप उठ रहा है ऐसी

महा नय पक्ष कक्षा का (नय के आग्रह को) उल्लंघन करके (तत्त्ववेदी = सम्यग्दृष्टि होकर) अन्दर और बाहर (अर्थात् पूर्ण आत्मा में) समतारसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है, ऐसी अनुभूति मात्र एक अपने भाव को (परमपारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा को) प्राप्त करते हैं।'

श्लोक ९९ :- 'अचल (अर्थात् तीनों काल वैसा का वैसा ही परिणमता), व्यक्त (अनुभव प्रत्यक्ष) और चित् शक्तियों के समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर (अर्थात् मात्र ज्ञानघनरूपी) यह ज्ञानज्योति (यानी ज्ञानसामान्यभावरूपी ज्ञायक = शुद्धात्मा) अन्तरंग में उग्ररूप से इस प्रकार से जाज्वल्यमान हुई कि आत्मा अज्ञान में (पर की) कर्ता होती थी वह अब कर्ता नहीं होती (यानी पर का कर्तापन धारण करनेवाले भाव में एकत्व नहीं करती) और अज्ञान के निमित्त से पुद्गलकर्मरूप होती थी, वह कर्मरूप नहीं होती (अर्थात् अज्ञान के निमित्त से जो बन्ध होता था वह अज्ञान जाते ही, उसके निमित्त से होनेवाला बन्ध भी अब नहीं); और ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है (मतलब ज्ञानी स्वयं को सामान्यज्ञानरूपी शुद्धात्मा ही अनुभव करता है जो कि त्रिकाल ज्ञानरूप ही रहता है) और पुद्गल, पुद्गलरूप ही रहता है (यानी ज्ञानी पुद्गल को पुद्गलरूप और उससे होनेवाले भावों को भी उसरूप ही जानकर, उनमें 'मैंपन' नहीं करता अर्थात् ज्ञानी इस प्रकार भेदज्ञान करता है)।' इस प्रकार आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन प्रगट करता है।

३. पुण्य-पाप अधिकार :- इस अधिकार में भी स्वात्मानुभूति को जाँचने के लिये जो सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है यानी जो शुद्धात्मा है, उसमें बन्धरूपी कोई भी भाव न होने से, उसमें सभी विभावभाव का अभाव होने से, बन्धमात्रभाव यानी शुभभाव और अशुभभाव, ये दोनों (सम्यग्दर्शन के विषय में) नहीं हैं ऐसा बताने के लिये दोनों को एक समान कहा है यानी पुण्य और पाप यानी शुभभाव और अशुभभाव, सम्यग्दर्शन के विषयरूपी परमपारिणामिकभावरूपी - सहज परिणमनरूपी शुद्ध आत्मा में न होने से, दोनों को समान अपेक्षा से हेय कहा है अर्थात् दोनों विभावभाव होने से - बन्धरूप होने से एक समान हेय है।

परन्तु यह एकान्त से ऐसा नहीं समझना है क्योंकि अशुभभाव में परिणमने का कभी कोई उपदेश होता ही नहीं। यहाँ आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये दोनों भावों से भेदज्ञान कराया है और भेदज्ञान की अपेक्षा से दोनों समान ही हैं, अन्यथा नहीं।

यदि कोई अन्यथा पुण्य को हेय समझकर अथवा तो पुण्य-पाप को समानरूप से हेय समझकर, स्वच्छन्दता से पापरूप अर्थात् अशुभभावरूप से परिणमते हों, उसी में रचते-पचते

हों तो वह उनके महा अनर्थ का कारण है। यदि कोई इसी प्रकार से एकान्त समझकर, इसी प्रकार से एकान्त प्रतिपादन करता हो तो वह स्वयं तो भ्रष्ट है ही और अन्य अनेकों को भी भ्रष्ट कर रहा है। जिनसिद्धान्त में विवेक का ही बोलबाला है। यानी सभी कथन जिस अपेक्षा से कहे हो, उसी अपेक्षा से ग्रहण करने चाहिये, यही विवेक है; इसलिये सभी मोक्षार्थियों को पूर्व में बताये अनुसार एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से नियम से शुभ में ही रहने योग्य है। यही जिनसिद्धान्त का सार है जो हमने पूर्व में बार-बार बताया है। इसलिये यहाँ बताये अनुसार विवेकपूर्वक ही सभी सम्यग्दर्शन को पाते हैं और विवेकपूर्वक ही निर्वाण को पाते हैं।

गाथा १५१ : गाथार्थ :- 'निश्चय से जो परमार्थ है (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूपी - सहज परिणमनरूपी शुद्धात्मा है), समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है, उस स्वभाव में (शुद्धात्मा में) स्थित मुनि निर्वाण पाते हैं।'

गाथा १५२ : गाथार्थ :- 'यदि परमार्थ में अस्थित (अर्थात् मिथ्यादृष्टि) जीव तप करता है तथा व्रत धारण करता है, उसके सब तप और व्रत को सर्वज्ञ बालतप और बालव्रत कहते हैं।' मतलब इन बालतप और बालव्रत छोड़ने को नहीं कहते परन्तु इन से भी परम उत्कृष्ट ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। जो परमार्थ में स्थित हैं, उन्हें तो नियम से आगे व्रत-तप इत्यादि आते ही हैं, ऐसा है जिनसिद्धान्त का विवेक जो कि आत्मा को ऊपर चढ़ने को ही कहता है, न कि अन्यथा। यानी व्रत-तप छोड़कर नीचे गिरने को कभी नहीं कहता।

श्लोक १११ :- ''कर्मनय के अवलम्बन में तत्पर (यानी कर्म नय के पक्षपाती यानी कर्म को ही सर्वस्व माननेवाले) पुरुष डूबे हुए हैं क्योंकि वे ज्ञान को नहीं जानते (यानी ज्ञानरूपी आत्मा की यानी अपनी शक्ति में विश्वास नहीं परन्तु कर्म की यानी पर की शक्ति में विश्वास है)। ज्ञान नय के इच्छुक पुरुष भी डूबे हुए हैं (क्योंकि उन्हें एकान्त से ज्ञान का ही पक्ष होने से वे कर्म को कुछ वस्तु ही नहीं मानते और एकान्त से निश्चयाभासीरूप से परिणमते हैं) क्योंकि वे स्वच्छन्दता की वजह से अतिमन्द उद्यमी हैं (क्योंकि वे निश्चयाभासी होने से, पुण्य और पाप को समानरूप से हेय अर्थात् सभी अपेक्षा से हेय अर्थात् एकान्त से हेय मानते होने से, कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करते। एकान्त से समझते हैं और वैसा बोलते भी हैं कि 'मैं तो ज्ञान मात्र ही हूँ' और रमते हैं संसार में। वे आत्मज्ञान के लिये वैराग्यादि योग्यतारूपी अभ्यास भी नियतिवादियों की तरह नहीं करते क्योंकि वे मानते हैं कि आत्मज्ञान के लिये योग्यता तो उसके काल में आ ही जायेगी; इस प्रकार अपने को ज्ञानमात्र मानते हुए और वैसे ही भ्रम में रहते होने से, धर्म में योग्यता करने के

लिये मन्द उद्यमी हैं और इसलिये वे विषय कषाय में बिना संकोच वर्तते हैं)। (अब यथार्थ समझयुक्त जीव की बात करते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि हैं) वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं (यानी परमपारिणामिकभावरूपी स्वयं को अनुभवते होने से दूसरों से कोई नाता न होने से वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं)। वे स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते – परिणमते हुए (अपने को परमपारिणामिकभावरूपी अर्थात् सहज परिणमनरूपी अर्थात् सामान्यज्ञानरूपी अनुभवते हुए) कर्म नहीं करते (यानी परम–पारिणामिकभाव परम अकर्ता होने से कोई भी कर्म नहीं करते हैं ऐसा कहा है) और कभी प्रमाद के वश भी नहीं होते (यानी बुद्धिपूर्वक स्व में रहने का सतत् पुरुषार्थ करते हैं)।'

४. आस्रव अधिकार :– इस अधिकार में भी स्वात्मानुभूति जाँचने के लिये, भेदज्ञान कराने के लिये, जो सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है यानी जो शुद्धात्मा है, उसमें आस्रव रूप भाव न होने से यानी उसमें सभी विभावभाव का अभाव होने से कहा है कि ज्ञानी को आस्रव नहीं है। परमपारिणामिकभाव में आस्रव न होने से ज्ञानी को आस्रव नहीं है, ऐसा कहा है। ज्ञानी आस्रवभावरूप स्वेच्छा से नहीं परिणमता परन्तु मजबूरी या कमज़ोरी के कारण परिणमता है।

दूसरे ज्ञानी को अल्प आस्रव होता अवश्य है परन्तु ज्ञानी को अनन्तानुबन्धी कषायें और मिथ्यात्व का आस्रव न होने से ज्ञानी को आस्रव नहीं है, ऐसा कहा है। परन्तु यदि कोई इस बात को एकान्त से ग्रहण करके स्वच्छन्दता से आस्रवभावों का सेवन करे अथवा कोई अपने को ज्ञानी समझकर स्वच्छन्दता से आस्रवभावों का सेवन करे तो वह उसके महा अनर्थ का कारण है। यदि कोई इस प्रकार से एकान्त से समझकर इसी प्रकार एकान्त से प्रतिपादन करता हो तो वह स्वयं तो भ्रष्ट है ही और अन्य अनेकों को भ्रष्ट कर रहा है। जिनसिद्धान्त में विवेक की ही प्रधानता है। सारा कथन जिस अपेक्षा से कहा हो, उसी अपेक्षा से ग्रहण करना चाहिये। यही विवेक है। इसलिये सभी मोक्षार्थियों को पूर्व में बताये अनुसार एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से नियम से आस्रव के कारणों से दूर ही रहना योग्य है, यही जिनसिद्धान्त का सार है।

श्लोक ११६ :– 'आत्मा जब ज्ञानी होती है तब व्यक्ति स्वयं अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर छोड़ता हुआ अर्थात् नहीं करता हुआ (यानी ज्ञानी के अभिप्राय में मात्र मुक्ति होने से किसी भी रागरूप परिणमित होने का अंशमात्र भी अभिप्राय नहीं होता) और जो अबुद्धिपूर्वक राग है, उसे भी जीतने को बारम्बार (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्ति को स्पर्शता हुआ और (इस प्रकार से) समस्त पर वृत्ति को – पर परिणति को उखाड़ता हुआ (अर्थात् अपूर्व निर्जरा करता हुआ) ज्ञान के पूर्ण भावरूप होता हुआ वास्तव में सदा निरास्रव है।' ऐसी है ज्ञानी की साधना – स्वयं

मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करता हुआ और उसी की अनुभूति करता हुआ बुद्धिपूर्वक यानी प्रयत्नपूर्वक यानी पूर्णजागृतिपूर्वक, जो भी उदय आता है, उसके सामने लड़ता है यानी उदय से परास्त हुए बिना, उदय में मिले बिना, स्वयं शुद्धात्मा में ही बारम्बार स्थिरता का प्रयत्न करता है और यदि वैसी स्थिरता छोटे अन्तर्मुहूर्त से अधिक हो जाये, तो ज्ञानी सभी घातिकर्मों का नाश करके केवली हो जाता है और फिर कुछ ही काल में मुक्त हो जाता है। ऐसा है मोक्षमार्ग।

श्लोक १२० :- 'उद्यत ज्ञान (ज्ञानमात्र) जिसका लक्षण है ऐसे शुद्धनय में रहकर अर्थात् शुद्ध नय का आश्रय करके जो सदा एकाग्रत्व का ही अभ्यास करते हैं (ज्ञानी शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करके, उसी का अनुभव करके, उसी में स्थिरता का अभ्यास करते हैं) वे निरन्तर रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए (यानी शुद्धात्मा में रागादि का कण भी नहीं होने से और उसमें ही 'मैंपन' करते हुए) बन्धरहित ऐसे समयसार को (यानी अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को) देखते हैं – अनुभव करते हैं।'

श्लोक १२२ :- 'इस अधिकार का यही उद्देश्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं (यानी मात्र शुद्धनय में ही रहने योग्य है, क्योंकि उसमें आस्रव नहीं होता), क्योंकि उसके अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता और उसके त्याग से ही बन्ध होता है।'

श्लोक १२३ :- 'धीर और उदार (सर्वथा पर द्रव्यों का जिसमें त्याग है, ऐसी शुद्धात्मा परम उदार है) जिसकी महिमा है ऐसे अनादि-निधन ज्ञान में (यानी त्रिकाली शुद्ध ज्ञान जो कि परमपारिणामिकभावरूपी ज्ञानसामान्यमात्र है, उसमें) स्थिरता को बाँधता हुआ (ज्ञानी उसमें ही 'मैंपन' करता हुआ और उसका ही अनुभव करता हुआ) शुद्धनय – जो कि कर्मों को मूल से नाश करनेवाला है – पवित्र धर्मी (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों के कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है (यानी निरन्तर ग्रहण करने योग्य है, उसमें ही स्थिरता करने योग्य है, उसका ही ध्यान करने योग्य है)। शुद्धनय में स्थित उन पुरुषों को (यानी स्वात्मानुभूति में स्थित ज्ञानी पुरुषों को) बाहर निकलते ऐसे अपनी ज्ञानकिरणों के समूह को (यानी कर्म के निमित्त से पर में जानेवाली ज्ञान की विशेष व्यक्तियों =रश्मियों को) अल्पकाल में समेटकर पूर्ण ज्ञानघन के पुंजरूप (मात्र ज्ञानघनस्वरूप) एक, अचल शान्त तेज को – तेजपुंज को देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं।'

५. संवर अधिकार :- इस अधिकार में आचार्य भगवान बताते हैं कि जो सम्यग्दर्शन है यानी जो शुद्धात्मा की अनुभूति है और उसमें ही स्थिरता है, वही साक्षात् संवर है। इस कारण इस अधिकार में भी आचार्य भगवान आत्मा के औदयिकादि भावों से भेदज्ञान कराकर जीवों

को परमपारिणामिकभावरूपी आत्मा के सहज परिणमनरूपी शुद्धात्मा में ही स्थापित करते हैं और कहते हैं कि उस शुद्धात्मा का वेदन, अनुभवन और स्थिरता ही निश्चय से संवर का कारण है; इसलिये अज्ञानी को कार्यकारी संवर नहीं है, जबकि ज्ञानी को वह सहज ही होता है। जैसे इस श्लोक में बताया है :-

श्लोक १२९ :- 'यह साक्षात् (सभी प्रकार से) संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से (अर्थात् सम्यग्दर्शन से) होता है; और उस शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है इसलिये वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।' मतलब आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन पाकर आत्मानुभूति का ही पुरुषार्थ बार-बार करने योग्य है।

श्लोक १३० :- 'यह भेदविज्ञान अविच्छिन्न धारा से (अर्थात् जिसमें विच्छेद - विक्षेप न पड़े, ऐसे अखण्ड प्रवाह से) इतना भाना ताकि परभावों से छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही स्थिर हो जाये।' यानी ज्ञानी को केवली बनने तक यही भेदज्ञान का अभ्यास निरन्तर करना उचित है।

श्लोक १३१ :- 'जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; और जो कोई बन्धे हैं, वे उसके (भेदविज्ञान के) ही अभाव से बन्धे हैं।' भेदविज्ञान जैनदर्शन का सार है और उसे जाँचने के लिये ही यह 'समयसार' नाम का पूर्ण शास्त्र रचा गया है; इसलिये समयसार में सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये ही, स्वात्मानुभूति जाँचने के लिये ही आत्मा को सम्यग्दर्शन के विषयरूप शुद्धात्मा से ही ग्रहण किया है और अन्य भावों से भेदविज्ञान कराया है।

६. निर्जरा अधिकार :- इस अधिकार में आचार्य भगवान बताते हैं कि जो सम्यग्दर्शन है यानी जो शुद्धात्मा की अनुभूति और उसमें स्थिरता है, वही साक्षात् निर्जरा है, अन्यथा नहीं। इस कारण से इस अधिकार में साक्षात् निर्जरा के लिये भी अन्य सभी भावों से भेदज्ञान ही कराया है क्योंकि आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित एकमात्र शुद्धात्मा की अनुभूति से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उस सम्यग्दृष्टि को ही साक्षात् निर्जरा होती है, अन्यथा नहीं। जैसे कि -

गाथा १९५ :- 'जैसे वैद्य पुरुष विष को भोगता हुआ अर्थात् खाते हुए भी मरण को प्राप्त नहीं होता (क्योंकि उसे उसकी मात्रा, पथ्य-अपथ्य इत्यादि का ज्ञान होने से मरण को प्राप्त नहीं होता), इसी प्रकार ज्ञानी पुद्गल कर्म के उदय को भोगता है तथापि बन्धता नहीं।' क्योंकि ज्ञानी विवेकी होने से उन कर्मों के उदय को भोगते हुए भी उस पारिणामरूप नहीं होता अर्थात् स्वयं का 'मैंपन' एकमात्र शुद्धभाव में ही होने से और उस उदय को चारित्र की कमज़ोरी के कारण

भोगते रहने से, उसे बन्ध नहीं है अर्थात् उसके अभिप्राय में भोग के प्रति ज़रा भी आदरभाव नहीं है क्योंकि उसका पूर्ण आदरभाव एकमात्र स्वतत्त्वरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और इस अपेक्षा से उसे बन्ध नहीं है परन्तु भोग में भी अर्थात् भोग भोगते हुए भी निर्जरा है, ऐसा कहा जाता है। क्योंकि ज्ञानी भोग को विषरूप मानकर भोगता है।

गाथा २०५ : भावार्थ :- 'ज्ञानगुण से रहित (विवेकरूपी ज्ञान से रहित अज्ञानी) बहुत से लोग (बहुत प्रकार के कर्म करने पर भी) इस ज्ञानस्वरूप पद को प्राप्त नहीं करते (यानी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करते)। इसलिये हे भव्य! यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता है (यानी अपूर्व निर्जरा करना चाहता है) तो नियत ऐसे इसे (ज्ञान को) (यानी परमपारिणामिकभावरूपी आत्मा के सहज परिणमन को जो कि सामान्यज्ञानरूप है कि जिसे ज्ञायक अथवा शुद्धात्मा भी कहा जाता है, उसे) ग्रहण कर (यानी वैराग्यादि योग्यता प्राप्त करके आत्मानुभूति से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर)।'

गाथा २०६ : गाथार्थ :- '(हे भव्य प्राणी)! तू इस में नित्यरत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इसमें नित्य सन्तुष्ट हो, और इस से तृप्त हो; (ऐसा करने से) तुझे उत्तम (उत्कृष्ट) सुख होगा।' मतलब शुद्धात्मा के आश्रय से ही मोक्षमार्ग और मोक्ष प्राप्त होगा जो कि अव्याबाध सुखरूप है।

श्लोक १६२ :- 'इस प्रकार नवीन बन्ध को रोकता हुआ और (स्वयं) अपने आठ अंगों सहित होने के कारण (सम्यग्दृष्टि स्वयं सम्यग्दर्शन के आठ अंग सहित होता है, इस कारण से) निर्जरा प्रगट होने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश कर डालता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं अति रस से (अतिन्द्रिय रस - सुधा रस में मस्त होता हुआ) आदि-मध्य-अन्त रहित ज्ञानरूप होकर (यानी अनुभूति में मात्र ज्ञानसामान्य ही है, अन्य कुछ नहीं होने से कहा कि आदि-मध्य-अन्त रहित ज्ञानरूप होकर) आकाश के विस्ताररूपी रंगभूमि में अवगाहन करके (यानी सम्यग्दृष्टि जीव के लिये वह ज्ञानस्वरूप लोक ही उसका लोक होने से, उसी रंगभूमि में रहकर यानी चिदाकाश में अवगाहन करके) नृत्य करता है (अद्वितीय आनन्द का आस्वाद लेता है, भोगता है)।'

७. बँध अधिकार :- ज्ञानी को एकमात्र सहज परिणमनरूपी शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' होने से और उस का ही अनुभव करता होने से तथा उस भाव में बन्ध का सदा अभाव होने से ज्ञानी को बन्ध नहीं है ऐसा कहा जाता है।

दूसरे, ज्ञानी का विवेक जागृत हो गया होने से, जैसे वैद्य ज़हर खाने पर भी मरता नहीं, वैसे ज्ञानी भी विवेकपूर्वक अपने बल की कमी के कारण अर्थात् अपनी विवशता के कारण भोग-

भोगते हुए भी, उसे बहुत ही अल्प बन्ध होने से, उसे बन्ध नहीं है ऐसा कहा जाता है यानी ज्ञानी को राग में और बन्ध के अन्य कारणों में 'मैंपन' नहीं होता और स्वयं बन्धरूप भी स्वेच्छा से परिणमित नहीं होता इसलिये इन दोनों अपेक्षाओं से उसे बन्ध नहीं है ऐसा कहा जाता है।

तीसरे, भेद ज्ञान कराने को और सम्यग्दर्शन कराने के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित एकमात्र शुद्धात्मा की अनुभूति करनी होती है, जो कि दृष्टि का विषयरूप शुद्धात्मा है जिसमें बन्ध का सदा ही अभाव है, यही इस अधिकार का सार है।

श्लोक २७८-२७९ : गाथार्थ :- 'जैसे स्फटिक मणि शुद्ध होने से (यानी ज्ञानी जिसमें 'मैंपन' करता है वह शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से) रागादिरूप से (लालिमा आदिरूप से) स्वयं नहीं परिणमता (यानी ज्ञानी स्वेच्छा से रागरूप नहीं परिणमता यानी इच्छापूर्वक राग नहीं करता) परन्तु अन्य रक्त आदि द्रव्यों द्वारा वह रक्त (लाल) आदि किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् (शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करते हुए) आत्मा शुद्ध होने से (यानी शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से) रागादिरूप अपनी इच्छा से नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषों द्वारा (यानी उसके योग्य ऐसे कर्म के उदय के निमित्त कारण से) वह रागी आदि किया जाता है (वह अपनी विवशता के कारण रागी-द्वेषी होता है यानी राग-द्वेषरूप परिणमता है)।'

श्लोक १७५ :- 'सूर्यकान्त मणि की भाँति (जैसे सूर्यकान्त मणि स्वयमेव से ही अग्निरूप नहीं परिणमती, उसके अग्निरूपी परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्त है, उसी प्रकार) आत्मा स्वयं को रागादि का निमित्त कभी भी नहीं होती (शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से, रागादिरूप स्वयमेव कभी नहीं परिणमती), उसमें निमित्त पर संग ही (पर द्रव्य का संग ही) है - ऐसा वस्तु स्वभाव प्रकाशमान है (सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसीने किया नहीं है)।'

अर्थात् आपने पूर्व में जो 'निमित्त-उपादान' की चर्चा में देखा कि विवेकी मुमुक्षु निर्बल निमित्तों को त्यागता है यानी उनसे दूर ही रहता है क्योंकि वह जानता है कि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि ख़राब निमित्त से उसका पतन हो सकता है। यह है जिनसिद्धान्त का अनेकान्तवाद। यदि कोई निमित्त को एकान्त से अकर्ता माने और ऐसी ही प्ररूपण करे तो वह जिनमतबाह्य ही है अर्थात् वह अपने और अन्य अनेकों के पतन का कारण है, यही बात इस श्लोक में भी बतायी है कि शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से, रागादिरूप स्वयमेव कभी नहीं परिणमता परन्तु उसमें निमित्त परसंग ही है - ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है अर्थात् सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसीने

बनाया नहीं है अर्थात् निमित्त स्वयं उपादानरूप में नही परिणमता होने पर भी वह अमुक संयोगों में उपादान पर असर करता है। उसे ही वस्तुस्वभाव कहा है। इसी लिये जिनसिद्धान्त को विवेक से ग्रहण किया जाता है और अपेक्षा से समझा जाता है, न कि एकान्त से। एकान्त तो महा अनर्थ का कारण है।

८. मोक्ष अधिकार :– आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित परम पारिणामिकभावरूपी अर्थात् सहज परिणमनयुक्त शुद्धात्मा में 'मैंपन' होते ही स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और फिर उसी में निरन्तर स्थिरता करने से आत्मा क्षपकश्रेणी से चढ़कर घातिकर्मों का नाश करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करती है और फिर आयुक्षय होने पर मोक्ष प्राप्त करती है; यही मोक्ष का मार्ग है और इसलिये सभी जीवों के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित शुद्धात्मा ही प्राप्त करने योग्य है, यही मोक्ष अधिकार का सार है।

गाथा २९४ : गाथार्थ :- 'जीव तथा बन्ध नियत स्व लक्षणों से (अपने-अपने निश्चित लक्षणों से) छेदे जाते हैं (यानी जीव का लक्षण ज्ञान है और बन्ध का लक्षण पुद्गलरूप कर्म-नोकर्म और उनके निमित्त से होनेवाले जीव के भाव है); प्रज्ञारूपी छैनी द्वारा (यानी तीक्ष्ण बुद्धि अथवा भगवती प्रज्ञा से उन दोनों के बीच भेदज्ञान से) छेदने में आने पर (भेदज्ञान होने पर) वे रूप भिन्न हो जाते हैं।' यानी द्रव्यदृष्टि में मात्र 'शुद्धात्मा'रूपी जीव ही ग्रहण होता है और आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उस में ही 'मैंपन' होने पर स्वात्मानुभूति सहित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है यानी दोनों भावों में प्रकट भेदज्ञान हो जाता है।

गाथा २९४ : टीका :- '....आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है (यानी अन्य द्रव्यों में वह नहीं है)। वह (चैतन्य) प्रवर्तता हुआ (परिणमता हुआ) जिस-जिस पर्याय को व्याप्त कर प्रवर्तता है (जिस-जिस पर्याय के रूप में परिणमता है) और निवर्तता हुआ (छोड़ता हुआ - निवृत्त होता हुआ) जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है (जिस-जिस पर्याय को छोड़ता है), वे-वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं ऐसा लक्षित करना.... (यहाँ समझना यह है कि आत्म द्रव्य अभेद ही है और वह अभेदरूप ही परिणमता है इसलिये कहा है कि समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं। जो सर्व प्रथम द्रव्य-गुण-पर्याय की समझ में बताया, वही भाव यहाँ पर दृढ़ होता है।)'

गाथा २९७ : गाथार्थ :- ''प्रज्ञा द्वारा (ज्ञान द्वारा आत्मा को) ऐसा ग्रहण करना कि जो

चेतनेवाला (चैतन्यवाला) है, वह निश्चय से मैं हूँ (यानी जो जानने-देखनेवाला है, वही निश्चय से मैं हूँ क्योंकि ज्ञान वह आत्मा का लक्षण होने से आत्मा मात्र ज्ञान से ही ग्राह्य है परन्तु जो सामान्यज्ञान है, वह केवली की तरह छद्मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं होता, वह मात्र अनुभूति का विषय है, इसलिये वह अनुभव में आता है परन्तु केवली जैसे जानते हैं वैसे छद्मस्थ को जानने में आता न होने से, सामान्यज्ञान को उसके लक्षण से यानी पदार्थ के ज्ञान से यानी पर के ज्ञान से ग्रहण किया जा सकता है। इसलिये अपेक्षा से कहा जाता है कि 'पर का जानना वह ज्ञायक में जाने की सीढ़ी है' यानी जिस तल पर पर पदार्थ ज्ञात होते हैं, वह तल ही सामान्यज्ञान है यानी जो ज्ञेयाकार है, वह ज्ञान का बना हुआ होने से वास्तव में ज्ञानाकार ही है और उसमें आकार गौण होते ही, वहाँ ज्ञानमात्र अर्थात् सामान्यज्ञानरूप ज्ञायक ही है कि जो परमपारिणामिकभावरूपी यानी आत्मा के ज्ञानगुण के सहज परिणमनरूप है और उसे ही शुद्धात्मा यानी ज्ञायक कहा जाता है, वह प्राप्त होता है और आत्मा की योग्यताओं सहित उसमें ही 'मैंपन' होने से, स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; यही विधि है सम्यग्दर्शन की।) बाक़ी के जो भाव हैं (यानी जो ज्ञेयाकार हैं, यानी जो राग-द्वेष इत्यादि विभावभाव हैं) वे मुझसे पर हैं (यानी उनसे भेदज्ञान करना, किस प्रकार करना? उत्तर-उन राग-द्वेष इत्यादि विभावभाव अत्यन्त गौण होने से वे दृष्टि में ही नहीं आते यही भेदविज्ञान की विधि है) ऐसा जानना।'' यही भाव आगे दृढ़ करते हैं-

गाथा २९८-२९९ : गाथार्थ :- 'प्रज्ञा द्वारा ऐसा ग्रहण करना कि जो देखनेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ, बाक़ी के जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना और प्रज्ञा द्वारा ऐसा ग्रहण करना कि जाननेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ, बाक़ी के जो भाव हैं, वे मुझसे पर हैं, ऐसा जानना।' पूर्व में जो समझाया है, उसे ही यहाँ-इन गाथाओं में प्रतिपादित किया है।

गाथा ३०६-३०७ : गाथार्थ :- 'प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि-ये आठ प्रकार के विष कुम्भ हैं (यानी जो पूर्व में बताया, वैसे समयसार शास्त्र भेदज्ञान कराने के लिये है अर्थात् इस शास्त्र में एकमात्र शुद्धात्मा का ही लक्ष्य कराने का उद्देश्य होने से और आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उसमें ही 'मैंपन' होकरके स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दृष्टि बनाने का उद्देश्य होने से और उस सम्यग्दर्शन का विषय तथा सम्यग्दर्शन होने के बाद ध्यान का विषय भी शुद्धात्मा ही है, जिसका स्वरूप सब विकल्प रहित निर्विकल्प है, इसलिये यहाँ बताये सब विकल्पयुक्तभावों को विकल्प की अपेक्षा से विषकुम्भ कहा है। क्योंकि जो जीव यहाँ बताये हुए सभी विकल्पयुक्त भावों में ही रहता है और धर्म हुआ मानता है तो वह उसके

लिये विषकुम्भ समान हैं क्योंकि वह स्वयं को ये सब कार्य करके कृतकृत्य मानता है और शुद्धात्मा का लक्ष्य भी नहीं रखता तो ये समस्त भाव उसके लिये विषकुम्भ समान हैं अर्थात् यहाँ बतायी सभी अपेक्षाओं से और निर्विकल्प आत्मस्वरूप में ही स्थिरता कराने के लिये और निर्विकल्प अनुभूति को ही परमधर्म स्थापित करने के लिये इन सब भावों को विषकुम्भ कहा है; किसी ने इसे अन्यथा अर्थात् एकान्त से ग्रहण नहीं करना)। अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा, और अशुद्धि - ये अमृत कुम्भ हैं।' ऊपर के सब भावों के आगे यहाँ अ लगाकर सब विकल्पात्मक भावों का निषेध किया है यानी निश्चयनय निषेधरूप होने से और शुद्धात्मा विकल्परहित यानी निर्विकल्प स्वभाव की होने से जो सम्यग्दर्शन का विषय है और बाद में ध्यान का भी विषय है यानी स्थिरता करने का विषय है उस में ही रहना, वह अमृतकुम्भ समान है यानी मुक्ति का कारण है इसलिये वह अमृतकुम्भ है ऐसा बताया है।

यहाँ किसी को छल ग्रहण नहीं करना यानी विपरीत समझ ग्रहण नहीं करना। जिस अपेक्षा से उपर्युक्त भावों को विषकुम्भ कहा है, वह समझे बिना एकान्त से उन्हें विषकुम्भ समझकर उन्हें छोड़ नहीं देना और स्वच्छन्द से राग-द्वेषरूप नहीं परिणमना क्योंकि वह तो अभव्यत्व अथवा दूरभव्यत्व की ही निशानी है यानी वैसी आत्मा को अनन्त संसार समझना।

जैसे कि **समाधितन्त्र** गाथा ८६ में बताया है कि :- 'हिंसादि पाँच अव्रतों में अनुरक्त मनुष्य को अहिंसादि व्रतों का धारण करके अव्रत अवस्था में होते विकल्पों का नाश करना तथा अहिंसादिक व्रतों के धारक को ज्ञानस्वभाव में लीन होकर व्रतावस्था में होते विकल्पों का नाश करना और फिर अरिहन्त अवस्था में केवलज्ञान से युक्त होकर स्वयं ही परमात्मा होना-सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करना।' **यानी अशुभभाव तो नहीं ही, और शुद्धभाव का मूल्य चुकाकर शुभभाव भी नहीं। जिनसिद्धान्त का प्रत्येक कथन सापेक्ष ही होता है और यदि उसे कोई निरपेक्ष समझे - माने - ग्रहण करे तो वह उसके अनन्त संसार का कारण होता है, इसलिये वैसा करना उचित नहीं है। नहीं है। नहीं है!**

९. सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार :- यह अधिकार समयसार शास्त्र का हार्द है यानी इस शास्त्र का उद्देश्य है सम्यग्दर्शन प्राप्त कराना, स्वात्मानुभूति जाँचना और फिर सिद्धत्व दिलाना यानी सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये भेदज्ञान कराने को, जो सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है यानी जो शुद्धात्मा है, उसमें कोई विभावभाव न होने से यानी उसमें सभी विभावभावों का अभाव होने से, वह सर्वविशुद्ध है यानी वह अनादि-अनन्त विशुद्धभाव है जो कि परम

पारिणामिकभाव, आत्मा का सहज परिणमन, गुणों का सहज परिणमन, ज्ञानमात्र, सामान्यज्ञान, सामान्यचेतना, सहजचेतना, कारणशुद्धपर्याय, कारणसमयसार, चैतन्य अनुविधायी परिणाम, कारणपरमात्मा इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है, ऐसा इस अधिकार में बताया है।

आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित ऐसे सर्वविशुद्ध (त्रिकाल विशुद्ध) भाव में जीव को 'मैंपन' हो, स्वात्मानुभूति होकरके सम्यग्दर्शन प्राप्त हो और इसी भाव में बारम्बार स्थिरता करने से वह जीव घातिकर्मों का नाश करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करे और पश्चात् आयुक्षय से मोक्ष प्राप्त करे अर्थात् सिद्ध हो/सर्व-अर्थ-सिद्ध करे ऐसा सिद्धत्व दिलाना, यही इस शास्त्र का उद्देश्य है। इसी लिये केवल शुद्धात्मा को ही इस शास्त्र में आत्मा कहा है, उसी भाव का प्रतिपादन पूरे शास्त्र में किया है। वह भाव ही सर्वविशुद्धज्ञान है अर्थात् समयसार का सार है।

श्लोक १९३ :- 'समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों का सम्यक् प्रकार से नाश कराके (शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से गौण करके अर्थात् आत्मा को द्रव्यदृष्टि से ग्रहण कर के) पद-पद पर (यानी जीव की प्रत्येक पर्याय में अर्थात् जो कि द्रव्य है, उसका वर्तमान भाव अर्थात् अवस्था ही पर्याय कहलाती है और आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित उस पर्याय को द्रव्यदृष्टि से देखने से - ग्रहण करने से ही उसमें रही हुई विभावभावरूप अशुद्धि दृष्टि में आती ही न होने से उसका सम्यक् प्रकार से नाश हो पाता है यानी अत्यन्त गौण हो जाता है और उसमें छिपी आत्मज्योति यानी शुद्धात्मा अनुभव में आती है, वैसा भाव) बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ (यानी त्रिकाल शुद्धरूप भाव-सामान्यभाव) शुद्ध-शुद्ध (यानी जो रागादिक मल तथा आवरण-दोनों से रहित है ऐसा) जिसका पवित्र अचल तेज निजरस के (ज्ञान चेतनारूपी रस के) विस्तार से भरपूर है ऐसा और जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण (यानी वैसा का वैसा ही उपजने से) प्रगट है ऐसी यह ज्ञानपुंज आत्मा प्रगट होती है (यानी अनुभव में आती है)।'

गाथा ३०८ : गाथार्थ :- 'जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है उन गुणों से उसे अनन्य जानो; जैसे जगत में कड़ा इत्यादि पर्यायों से सुवर्ण अनन्य है वैसे।'

जो पर्याय है वह द्रव्य की ही बनी हुई है यानी पर्यायरूप विशेषभाव गौण होते ही साक्षात् द्रव्य हाज़िर ही है। इसी लिये पर्यायदृष्टि में जो पर्याय है वही द्रव्यदृष्टि से मात्र द्रव्य ही है, वहाँ पर्याय अत्यन्त गौण होने से ज्ञात ही नहीं होती; यही विधि है शुद्ध द्रव्य की प्राप्ति की।

गाथा ३०९ : गाथार्थ :- 'जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये हैं, उन परिणामों

से उस जीव अथवा अजीव को अनन्य जानो।' यही कारण है कि दृष्टि का विषय जो कि पर्याय से रहित द्रव्य कहलाता है, उसे प्राप्त करने की विधि गाथा २९४ में प्रज्ञारूप छैनी = भगवती प्रज्ञा = ज्ञानस्वरूप बुद्धि = तत्त्व के निर्णय सहित की बुद्धि कही है। इस कारण से विभावभाव गौण होते ही शुद्धनयरूपी = समयसाररूपी आत्मा प्राप्त होती है।

गाथा ३१८ : गाथार्थ :- 'निर्वेद प्राप्त (वैराग्य को प्राप्त) ज्ञानी मधुर-कड़वे (सुख-दु:खरूप) बहुविध कर्मफल को जानता है इसलिये वह अवेदक है।' यानी उसे कर्म-नोकर्म और उसके आश्रय से होनेवाले भावों में 'मैंपन' नहीं होने से यानी उन भावों से अपने को भिन्न अनुभव करता होने से उन विशेषभावों को यानी सुख-दु:ख को जानता है, तथापि अवेदक है।

श्लोक २०५ :- 'इस अरिहन्त मत के अनुयायियों अर्थात् जैनों (भी आत्मा) को, सांख्य मतियों की भाँति (सर्वथा) अकर्ता न मानो; भेदज्ञान होने से पहले उसे (यानी मिथ्यादृष्टि को) निरन्तर कर्ता मानो, और भेदज्ञान होने के बाद (यानी सम्यग्दृष्टि को) उद्यत ज्ञान धाम में निश्चित ऐसे (यानी मात्र सामान्यज्ञान में स्थित ऐसे) इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को कर्तापनारहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही देखो।' यानी ज्ञानसामान्यरूपी शुद्धात्मा मात्र ज्ञाता ही है, वह सामान्यभाव परम अकर्ता है परन्तु जिसे उस भाव का अनुभव नहीं, ऐसा अज्ञानी यदि स्वयं को अकर्ता माने तो वह एकान्त पाखण्ड मतरूप सांख्यमती जैसा होता है जो कि अनन्त संसार का कारण होता है।

गाथा ३५६ : गाथार्थ :- 'जैसे खड़िया पर की नहीं है, खड़िया तो खड़िया की ही है, वैसे ज्ञायक (जाननेवाली आत्मा) पर की नहीं है (ज्ञायक यानी जाननेवाली होने पर भी, स्व-पर को जानने का स्वभाव होने पर भी वह पररूप से परिणम कर जानती नहीं होने से वह पर की नहीं है, परन्तु स्व-पर को जानना वह तो 'स्व' का ही परिणमन है) ज्ञायक (स्व-पर का जाननेवाला) वह तो ज्ञायक ही है (प्रतिबिम्ब गौण होने पर मात्र परमपारिणामिकभावरूपी ज्ञायक ही है)।'

श्लोक २१५ :- ''जिसने शुद्धद्रव्य के निरूपण में बुद्धि को स्थापित किया है - लगाया है और जो तत्त्व को अनुभव करता है (यानी जो सम्यग्दृष्टि है) उस पुरुष को एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ बिलकुल (कदापि) भासित नहीं होता। (जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब होने पर भी ज्ञानी जानता है कि दर्पण में कोई अन्य पदार्थ जो कि प्रतिबिम्ब है वह उस में घुस गया हुआ नहीं है यानी ज्ञानी उसे दर्पण का ही प्रतिबिम्ब जानता है यानी वहाँ प्रतिबिम्ब गौण

होकरके दर्पण को दर्पणरूप ही अनुभव करता है, उसी प्रकार) ज्ञान, ज्ञेय को जानता है (यानी ज्ञान का स्व-पर प्रकाशकत्व है, 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानती' ऐसा स्वरूप नहीं) वह तो इस ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है, ऐसा है। (यानी ज्ञान स्वभाव से ही स्व-पर को जानती है ऐसा ही है) तो फिर लोग (अज्ञानी = मिथ्यादृष्टि लोग) ज्ञान का अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से व्याकुल बुद्धिवाले होते हुए (अर्थात् अज्ञानी = मिथ्यात्वी ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान को पर के साथ स्पर्श हो गया मानकर आकुल बुद्धिवाले होते हुए) तत्त्व से (शुद्धस्वरूप से) किसलिये च्युत होते हैं?' ऐसा सम्यक् स्वरूप है स्व-पर प्रकाशक का, जिसे अन्यथा समझने से मिथ्यात्व का दोष आता है जो कि उसके अनन्त संसार का कारण होता है।

श्लोक २२२ :- 'पूर्ण (यानी एक भाग शुद्ध और दूसरा भाग अशुद्ध ऐसा नहीं परन्तु जो प्रमाणदृष्टि से पूर्ण आत्मा है, वही पूर्ण आत्मा द्रव्यदृष्टि से पूर्ण शुद्धरूप में प्राप्त होती है), एक (यानी उसमें कोई भाग नहीं अथवा भेद नहीं ऐसी), अच्युत और शुद्ध (यानी प्रत्येक समय वैसी का वैसी शुद्धभाव से परिणमती, प्रकट होती है। यानी विकाररहित होती है।) ऐसा ज्ञान जिसकी महिमा है (ज्ञान आत्मा का लक्षण होने से, आत्मा मात्र ज्ञान से ही ग्राह्य है और वही उसकी महिमा है) ऐसी यह ज्ञायक आत्मा (यानी ज्ञानसामान्यरूपी परमपारिणामिकभाव जो कि सर्व गुणों के यानी द्रव्य के सहज परिणमनरूपी शुद्धात्मा है वह जाननेवाली है) वह (असमीपवर्ती) या इन (समीपवर्ती) ज्ञेय पदार्थों से (परपदार्थों को जानने से) ज़रा भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होती, जैसे दीपक प्रकाश्य पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार (यानी पर को जानने से आत्मा का ज़रा भी अनर्थ नहीं होता और दूसरा ज्ञानसामान्यभाव पर को जानने रूप क्षयोपशमभावरूप परिणमता है तथापि वह अपना ज्ञानसामान्यत्व यानी परमपारिणामिकभावत्व नहीं छोड़ती यानी वह कोई विक्रिया को प्राप्त नहीं होती यानी वह परम अकर्ता ही रहती है। दर्पण के दृष्टान्त की भाँति प्रकाश्य पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होती)। ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित जिनकी बुद्धि है, ऐसे अज्ञानी जीव (यानी जिन्हें यह बात नहीं जँचती कि जो भाव विशेष में पर को जानता है वही भाव सामान्यरूप से परमपारिणामिकभावरूपी - सहज परिणमनरूपी - शुद्धात्मा - परम अकर्ताभाव है और वह पर को जानने से ज़रा भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता। ऐसे जीवों को अज्ञानी जीव मानना, ऐसे अज्ञानी जीव) अपनी सहज उदासीनता क्यों छोड़ते हैं (अर्थात् वे अज्ञानी जीव अपने परमपारिणामिकभावरूपी सहज परिणमनरूपी ज्ञानसामान्यभाव का अनुभव क्यों नहीं करते?) और राग-द्वेषमय क्यों होते हैं? (ऐसे आचार्यदेव ने करुणा की है)'।

वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा समझकर सभी लोग सम्यग्दर्शन प्राप्त करें, ऐसा ही आचार्यदेव का उद्देश्य है। जो कोई यहाँ बताये गये वस्तुस्वरूप से विपरीत मान्यता पोषित करते हों अथवा प्ररूपित करते हों तो उन्हें शीघ्र अपनी मान्यता यथार्थ कर लेनी अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वे भ्रम में से बाहर निकल सकें और अपना तथा अन्य अनेकों के अहित का कारण बनने से बच सकें और वर्तमान मानव भव सार्थक कर सकें।

श्लोक २३२ :- 'पूर्व में अज्ञानभाव से किये हुए जो कर्म हैं, उन कर्मरूपी विष वृक्षों के फल को जो पुरुष (उनका स्वामी होकर) भोगता नहीं और वास्तव में अपने से ही (आत्म स्वरूप से ही – उसके अनुभव से ही) तृप्त है, वह पुरुष, जो वर्तमान काल में रमणीय है (यानी अतीन्द्रिय आनन्दयुक्त है) और भविष्य में भी जिसका फल रमणीय है, ऐसी निष्कर्म सुखमय (यानी सिद्ध दशारूप) दशान्तर को पाता है।'

इस अधिकार का मर्म यह है कि जो शुद्धात्मा में स्थित है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, मात्र जानने में ही रहने से अभी भी अतीन्द्रिय आनन्द में है और उसका भविष्य भी वही है। भविष्य में सिद्ध के अनन्त सुख उसका स्वागत करने खड़े ही हैं। इसीलिये शुद्धात्मा की प्राप्ति ही सभी का कर्तव्य है। निश्चय से शुद्धात्मा ही सर्व जनों को शरणभूत है।

- कर्म पुद्‌गलवर्गणाओं से बने हैं इसलिये वे जड़ हैं, कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के भाव आत्मा के परिणमन होने से चेतन हैं और नोकर्म यानी जीव का शरीर, पत्नी, पुत्र, परिवार, घर, सम्पत्ति आदि जो जीव को कर्मों के कारण मिलते हैं, वे जड़, चेतन या मिश्र होते हैं। जब आत्मानुभूति होती है तब इन तीनों से परे शुद्धात्मा का अनुभव होता है। बिना आत्मानुभूति के कोई यदि स्वयं को बौद्धिकरूप से शुद्धात्मा मानने लगता है तो उसे भ्रम होता है, उसे लगता है कि वह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) है। वास्तव में वह निश्चयाभासी है यानी उसे शुद्धनय का केवल भास होता है, अनुभूति नहीं। इसलिये सभी मुमुक्षुओं को पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाकर आत्मसन्मुख होने का प्रयास करना चाहिये, स्वयं को बौद्धिकरूप से शुद्धात्मा मान लेने का प्रयास नहीं करना चाहिये अन्यथा वे निश्चयाभासी ही होंगे।

३८

समयसार के परिशिष्ट में से अनेकान्त का स्वरूप

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय है और 'वह जैसा है वैसा ही' समझना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा मिथ्यात्व का नाश शक्य ही नहीं। अनेकान्त का स्वरूप समयसार के परिशिष्ट में बताया है, उसमें से आवश्यक अंशो पर थोड़ा सा प्रकाश डालते हैं।

श्लोक २४७ (के बाद की टीका) :- ''.....और जब वह ज्ञानमात्रभाव एक ज्ञान-आकार का ग्रहण करने के लिये अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (यानी परमपारिणामिक भाव की अनुभूति के लिये अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये 'जीव वास्तव में पर को नहीं जानता' ऐसी प्ररूपणा करके ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों के आकार होते हैं, उनका त्याग करके अपने को नष्ट करता है अर्थात् ज्ञेयों के त्याग में ज्ञानसामान्य अर्थात् परमपारिणामिकभाव नष्ट होता है अर्थात् 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानती' ऐसा कहने से ज्ञान के नाश का प्रसंग आता है। यही बात अपेक्षा लगाकर कही जाये तो समझी जा सकती है परन्तु यह बात एकान्त से सत्य नहीं है।) तब पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता (मतलब अनेकान्त ही बलवान है कि जिसके कारण आत्मा का स्व-पर प्रकाशकत्व स्वभाविक है।) ४.....जब यह ज्ञानमात्रभाव जानने में आते हुए ऐसे पर द्रव्यों के परिणमन के कारण ज्ञातृ द्रव्य को पर द्रव्यरूप मानकर - अंगीकार कर के नाश को प्राप्त होता है, (मतलब आत्मा वास्तव में पर को जानती है परन्तु पर को जाननेरूप वह जब स्वयं परिणमती है, तब उसे परद्रव्यरूप मानकर, स्वयं नाश को प्राप्त होती है यानी मिथ्यात्व पुष्ट करती है), तब (उस ज्ञानमात्रभाव का अर्थात् ज्ञेयों को) स्वद्रव्य से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे ज़िन्दा रखता है - नाश को प्राप्त नहीं होने देता। ५....जब यह ज्ञानमात्रभाव अनित्य ज्ञानविशेषों द्वारा (पर को जाननेरूप परिणमकर) अपना नित्य ज्ञानसामान्य खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञानसामान्यरूप से नित्यपना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे ज़िन्दा रखता है-नाश को प्राप्त नहीं होने देता। (मतलब जो ऐसा मानते हैं कि 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानती, ऐसा मानने से ही सम्यग्दर्शन होता है' वे भ्रमित हैं क्योंकि पर का जानना या जनवाना कभी भी सम्यग्दर्शन के लिये बाधाकारक नहीं होता, क्योंकि-आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित उस पर के जानने के परिणमनरूपी अपने विशेष आकार गौण

होते ही समयसाररूपी = परमपारिणामिकभाव की प्राप्ति होती है, सम्यग्दर्शन होता है अर्थात् वास्तव में तो 'पर का जानना, वह स्व में जाने की सीढ़ी है' क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रकट से ही अप्रकट में जाया जाता है। व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है)। १३.(यही भाव श्लोक १४३ में भी दर्शाया है कि सहजज्ञान के परिणमन द्वारा यानी परमपारिणामिकभाव द्वारा यह ज्ञानमात्र पद = समयसाररूपी आत्मा कर्म से वास्तव में व्याप्त है ही नहीं, कर्म से जीती जा सके ऐसी है ही नहीं; इसलिये निज ज्ञान की कला के बल से = मतिज्ञानादि रूप - ज्ञेयाकाररूप परिणमन से इस पद को = समयसाररूप पद को = परमपारिणामिकभावरूपी पद को अभ्यास करने का जगत सतत प्रयास करो। यहाँ आत्मा का पर का जानना जो है, उसे सीढ़ी रूप से = आलम्बन रूप से प्रयोग कर के समयसाररूपी भगवान आत्मा की प्राप्ति करके बार-बार आत्मानुभूति के लिये प्रयास करने को कहा है)।

और, जब यह ज्ञानमात्रभाव नित्य ज्ञानसामान्य का ग्रहण करने के लिये (समयसाररूपी परमपारिणामिकभाव के ग्रहण के लिये = सम्यग्दर्शन के लिये) अनित्य ज्ञानविशेषों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (ज्ञान के विशेषों का त्याग करते ही स्वयं अपने को नष्ट करता है)। तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञानविशेषरूपी अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता (यानी ऐसा मानने पर कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानती ही नहीं' तो ज्ञेयों के = अनित्य ज्ञान के विशेषों के त्याग द्वारा अपना ही नाश होता है। स्वयं भ्रमरूप परिणमता है, स्वयं मिथ्यात्वरूप परिणमता है। दूसरा, ज्ञानविशेषरूप पर्यायें यानी विभावपर्यायों का त्याग करने पर ज्ञान का = अपना नाश होता है और स्वयं भ्रम में ही रहता है, इसलिये जिनागम में 'पर्याय रहित द्रव्य' के लिये ज्ञानविशेषों का त्याग नहीं यानी विभावपर्यायों का त्याग नहीं परन्तु वे गौण होने का ही विधान है जो कि अनेकान्त स्वरूप आत्मा का नाश नहीं होने देता, मिथ्यात्व रूप परिणमने नहीं देता)। १४....."

श्लोक २५० :- 'पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के (ज्ञान के) स्वभाव की अतिशयता के कारण (यहाँ बताया है कि आत्मा पर को जानती है, वह इसके स्वभाव की अतिशयता है), चारों ओर प्रगट होते अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों से जिसकी शक्ति विदीर्ण हो गयी है, ऐसा होकर समस्तरूप से टूट जाता हुआ (खण्ड-खण्ड अनेक रूप हो जाता हुआ यानी अज्ञानी को खण्ड-खण्डरूप विशेषभावों में रहा हुआ ज्ञानसामान्यभाव ज्ञात नहीं होता = अखण्डभाव ज्ञात नहीं होता इसलिये खण्ड-खण्डरूप विशेष भावों का निषेध करता है,

क्योंकि वह उनसे अखण्ड ज्ञान का = सामान्यज्ञान का नाश मानता है ऐसा स्वयं) नाश को प्राप्त होता है (अज्ञान को प्राप्त होता है यानी अनेक ज्ञेयों के आकार ज्ञान में ज्ञात होने से ज्ञान की शक्ति को छिन्न-भिन्न खण्ड-खण्डरूप हो जाता मानकर अज्ञानी ऐसा कहता है कि जहाँ तक आत्मा पर को जानती है, ऐसा मानने में आवे, वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा = समयसाररूपी आत्मा प्राप्त नहीं होगी और इसी लिये एकान्त से ऐसी प्ररूपणा करता है कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानती ही नहीं' ऐसे लोगों को यहाँ पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी कहा है)। और अनेकान्त का जाननेवाला तो (ज्ञानी = सम्यग्दृष्टि), सदा उदित (प्रकाशमान = ज्ञानसामान्य भाव = परमपारिणामिकभाव = समयसाररूपीभाव) एक द्रव्यपने के कारण (खण्ड-खण्डरूप भासित होते ज्ञान में छिपे हुए अखण्ड ज्ञान की अनुभूति के कारण) भेद के भ्रम को नष्ट करता हुआ (ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में सर्वथा भेद पड़ जाता है, ऐसे भ्रम को नाश करता हुआ यानी यदि ज्ञान को पर का जानना मानेंगे तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा, ऐसे भ्रम का नाश करता हुआ) जो एक है और जिसका अनुभव (समयसाररूपी = परमपारिणामिकभावरूपी = ज्ञानसामान्यरूपी एक अभेद आत्मा) निर्बाध है, ऐसे ज्ञान को देखता है - अनुभव करता है।' ऐसा है जिनशासन का अनेकान्तमय ज्ञान।

श्लोक २६१ : भावार्थ :- 'एकान्तवादी ज्ञान को सर्वथा एकाकार - नित्य प्राप्त करने की वाँछा से उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्य परिणति से पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है (जैसे कि पर को जानने का निषेध कर के अथवा तो पर्याय का दृष्टि के विषय में निषेध करके); परन्तु परिणाम (पर्याय = ज्ञेय) के अतिरिक्त दूसरा कोई पृथक् परिणामी नहीं होता (इस कारण से ज्ञेय अथवा पर्याय को निकालने से पूर्ण द्रव्यों का ही लोप होता है कि जिससे परिणामी हाथ नहीं आता = सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता परन्तु मात्र भ्रम का ही साम्राज्य फैलता है)। स्याद्वादी तो ऐसा मानता है कि यद्यपि द्रव्य अपेक्षा ज्ञान नित्य है तथापि क्रमश: उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली चैतन्य परिणति के क्रम के कारण ज्ञान अनित्य भी है (ज्ञानसामान्य, नित्य है कि जिसका ज्ञानविशेष बना हुआ है कि जो अनित्य है) ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।' यह बात सभी को सम्यग्दर्शन के लिये स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

श्लोक २६२ :- 'इस प्रकार अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानी मूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्म तत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभव में आता है।'

श्लोक २६५ : भावार्थ :- 'जो सत्पुरुष अनेकान्त के साथ सुसंगत दृष्टि के द्वारा

अनेकान्तमय वस्तु स्थिति को देखते हैं, वे इस प्रकार स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके – जान कर जिनदेव के मार्ग को – स्याद्वाद का उल्लंघन न करते हुए, ज्ञान स्वरूप होते हैं।' यानी आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित सम्यग्दृष्टि होते है।

श्लोक २७० :– ''अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदायमय यह आत्मा नयों की दृष्टि से खण्ड–खण्ड किये जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है (यदि किसी भी नय को एकान्त से ग्रहण किया जाये अथवा किसी भी नय की एकान्त प्ररूपणा की जाये अथवा किसी भी नय का एकान्त पक्ष किया जाये तो आत्मा खण्ड–खण्ड होने से तत्काल नाश को प्राप्त होती है। मिथ्यात्वी होती है और अनन्त संसार को बढ़ाती है) इसलिये मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिसमें से खण्डों को बहिष्कृत नहीं किया गया है (यानी कि वह खण्ड–खण्डरूप ज्ञेय हो या विभाव पर्याय हो उसे आत्मा में से दूर नहीं करना) तथापि जो अखण्ड है, एक है, एकान्त शान्त है (यानी कि खण्ड–खण्ड विशेषभाव में अखण्ड सामान्यभाव रहा हुआ है, छिपा हुआ है, इसलिये खण्ड–खण्ड भाव का निषेध नहीं, वे गौण होते ही अखण्ड भाव प्राप्त होता है)। (अर्थात् कर्म के उदय का लेश भी नहीं, ऐसे अत्यन्त शान्त भावमय है, परमपारिणामिकभावमय है) और अचल है (कर्म के उदय से चलाया चलता नहीं) ऐसा चैतन्य मात्र वही 'मैं हूँ'।'' आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित ऐसी है सम्यग्दर्शन के विषय को प्राप्त करने की विधि।

श्लोक २७१ : भावार्थ :– 'ज्ञानमात्रभाव (परमपारिणामिकभाव) जानन क्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है (यहाँ समझना ऐसा है कि जो अज्ञानी हैं और जिन्हें आत्मप्राप्ति की तड़प भी है, उन्हें ज्ञान जो कि आत्मा का लक्षण है, जो कि स्व–पर को जानता है, उसका सीढ़ी के रूप में उपयोग करके आत्मा के ज्ञानमात्रस्वरूप की प्राप्ति करना अर्थात् आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित जो ज्ञेय को जानता है, वह जाननेवाला, वही मैं हूँ – ऐसा चिन्तन करना और उस जानने की क्रिया के समय ही ज्ञेय गौण होते ही; निषेध करते नहीं – यह याद रखना; सामान्यज्ञानरूपी – ज्ञानमात्रभाव की प्राप्ति होती है) और वह स्वयं ही निम्नानुसार ज्ञेयरूप है (ज्ञेय है वह ज्ञानकार ही है और ज्ञानाकार है वह ज्ञान=ज्ञायक ही है। तो पर को जानने का = ज्ञेय को जानने का निषेध करने से ज्ञान का निषेध होता है = ज्ञानमात्रभाव के अभाव का प्रसंग आता है) बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में आने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखायी देता है परन्तु वे ज्ञान की ही लहरें हैं। (जबकि ज्ञेय को जानने का निषेध करने से ज्ञान कल्लोलों का ही निषेध होता है जो कि स्वयं ज्ञानमात्र ही है। इसलिये ज्ञेय को जानने का निषेध

करते ही ज्ञानमात्रभाव के अभाव का प्रसंग आता है, जिसका परिणाम एकमात्र भ्रम ही है)। वे ज्ञान की लहरें ही ज्ञान द्वारा जानी जाती हैं। (यहाँ यह समझना आवश्यक है कि गाथा-६ की टीका में बताये अनुसार ज्ञान की लहरें = ज्ञेयाकार और ज्ञानमात्र ये दोनों अभिन्न ही हैं - अनन्य ही हैं और उनका अर्थात् कर्ता-कर्म का अनन्यत्व होने से ही वह ज्ञायक हैं।) इस प्रकार स्वयं ही स्वयं से जानने योग्य होने से (यानी ज्ञान की लहरें और ज्ञान अनन्य हैं, और यदि उनमें लहरों का निषेध किया जाये तो यानी परज्ञेय को जानने का निषेध किया जाये तो वह निषेध ज्ञायक का ही समझना। क्योंकि कर्ता-कर्म का अनन्यत्व होने से ज्ञेयाकार ज्ञायक ही है) ज्ञानमात्रभाव (परमपारिणामिकभाव) ही ज्ञेयरूप है (यहाँ यदि ज्ञेयों को जानने का निषेध किया जाये तो ज्ञानमात्रभाव का/समयसाररूपीभाव का ही निषेध होने से उन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती) और स्वयं ही (ज्ञानमात्रभाव) अपना (ज्ञेयरूपीभाव = ज्ञान लहरों का) जाननेवाला होने से ज्ञानमात्रभाव ही ज्ञाता है = ज्ञायक है (यानी जो ज्ञेय को जानता है, वह ही मैं हूँ = वहाँ ज्ञेय गौण होते ही मैं प्रगट होता है नहीं कि ज्ञेयों को जानने का निषेध करने से)। इस प्रकार ज्ञानमात्रभाव, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता इन तीनों भावों से युक्त सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है। (सामान्य-विशेष में नियम ऐसा है कि विशेष को निकालने पर सामान्य ही निकल जाता है क्योंकि वह विशेष, सामान्य का ही बना हुआ होता है इसलिये विशेष गौण होते ही सामान्य हाज़िर होता है ऐसा समझना। इसलिये ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता में से किसी भी एक का निषेध, वह तीनों का यानी ज्ञायक का ही निषेध है, ऐसा समझना।) 'ऐसा ज्ञानमात्रभाव मैं हूँ' ऐसा अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव करता है (यानी यह जो जानता है, वह मैं हूँ, फिर वह जानना, स्व का हो या पर का परन्तु यहाँ यह समझना महत्त्व का है कि किसी भी प्रकार से यानी स्व का अथवा पर का, कोई भी जानने का निषेध करते ही आत्मा का - ज्ञायक का निषेध होने से वह जिनमतबाह्य ही है जो कि समयसार गाथा-२ की टीका में भी स्पष्ट बताया है)।'

यही बात श्लोक-१४० में भी बतायी गयी है कि :- 'एक ज्ञायकभाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ (इस प्रकार ज्ञान में ही एकाग्र होने पर दूसरा स्वाद नहीं आता इसलिये) द्वन्द्वमय स्वाद के लेने में असमर्थ (वहाँ स्व पर नहीं, मात्र मैं हूँ) (यानी वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ = इसलिये ऐसा कहा जा सकता है कि अनुभूति के काल में आत्मा पर को नहीं जानता) आत्मा के अनुभव के स्वाद के प्रभाव के अधीन होने से निजवस्तुवृत्ति को (आत्मा की शुद्ध परिणति को = परमपारिणामिकभाव को = समयसाररूपी

भाव को = कारणशुद्धपर्याय को) जानता-आस्वादता हुआ (आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभव से बाहर नहीं आता हुआ = यानी वहाँ कुछ भी स्व-पर नहीं, वहाँ द्रव्य-पर्याय ऐसा कुछ भी भेद नहीं, क्योंकि वर्तमान पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य अन्तर्गत है = समाहित है) यह आत्माज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ (यहाँ समझना यह है कि विशेषों का निषेध नहीं, वे मात्र गौण होता है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित यही विधि है अनुभव की) सामान्यज्ञानमात्र को अभ्यासता हुआ, सकल ज्ञान को एकपने में लाता है - एकरूप से प्राप्त करता है।'

श्लोक २७५ :- 'सहज (अपने 'स्व'भाव रूपी) (स्व के सहज भवनरूपी = स्व का सहज परिणमन = परमपारिणामिकभाव = कारणशुद्धपर्याय) तेज पुंज में (ज्ञानमात्र में) तीन लोक के पदार्थ मग्न होते है इसलिये (ज्ञानमात्र ऐसे आत्मा का स्वभाव ही स्व-पर को जानने का है, इसलिये सारे ज्ञेय ज्ञात होते हैं = जानता है) जिसमें अनेक भेद होते दिखते हैं (यानी ज्ञानमात्रभाव का ज्ञेयरूप से परिणमन दिखता है = होता है। तथापि उससे डरकर जो ज्ञानमात्रभाव का स्वभाव है, ज्ञेयों को जानने का, उसका निषेध किसी काल में हो सके ऐसा नहीं है) तो भी जिसका एक ही स्वरूप है (सामान्यभाव खण्ड-खण्ड नहीं होता, वह अभेद ही रहता है, इसलिये पर को जानने में डरने की कोई बात ही नहीं है).....'

सभी मुमुक्षुजन इस समयसाररूपी शुद्धात्मा में स्थित हों और अक्षय सुख की प्राप्ति करें, इसी भावना के साथ हमने इतना विस्तार से लिखा है। तथापि मेरी छद्मस्थ दशा के कारण, इस पुस्तक में कुछ भी भूल-चूक हुई हो तो आप सुधारकर पढ़ें और मेरे द्वारा जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो मेरा त्रिविध-त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं। उत्तम क्षमा!

- ज्ञानी को सिर्फ़ शुद्धभाव का ही आदर होता है यानी केवल शुद्धात्मा में ही रहने का अभिप्राय होता है परन्तु जब तक वह शुद्धात्मा में नहीं रह सकता तब तक वह शुभभाव में रहता है। हालाँकि अज्ञानी को अभी तक शुद्धभाव का अनुभव ही नहीं है परन्तु उसे भी लक्ष्य में शुद्धभाव ही रखना चाहिये और जब तक उसे शुद्धभाव नहीं मिलता तब तक उसे केवल शुभभाव में ही रहना है। यह समझ नहीं होने के कारण कई अज्ञानी जीव शुभ और अशुभ को एक समान मानकर अशुभ में भी बिना कोई अफ़सोस के मज़ा लेते हुए रहते हैं जिसकी वजह से वे अनन्त संसार में भटकते हैं।

३९

बारह भावना

● **अनित्य भावना :–** सारे संयोग अनित्य हैं, पसन्द या नापसन्द जैसे कोई भी संयोग मेरे साथ नित्य रहनेवाले नहीं हैं। इसलिये उनका मोह या उन के न मिलने का दु:ख त्यागना। उनमें 'मैंपन' और मेरापना त्यागना।

● **अशरण भावना :–** मेरे पापों के उदय के समय में मुझे माता-पिता, पत्नी-पुत्र, पैसा इत्यादि कोई भी शरण दे सके ऐसा नहीं है। वे मेरा दु:ख हर सकें ऐसा भी नहीं है। इसलिये उनका मोह त्यागना, उन में मेरापन त्यागना चाहिये परन्तु कर्तव्य पूरी तरह निभाना है।

● **संसार भावना :–** संसार अर्थात् संसरण-भटकन और उसमें एक समय के सुख के सामने अनन्त काल का दु:ख मिलता है। अत: ऐसा संसार किसे अच्छा लगेगा? नहीं लगेगा। इसलिये एकमात्र लक्ष्य संसार से छूटने का ही रहना चाहिये।

● **एकत्व भावना :–** अनादि से मैं अकेला ही भटकता रहा हूँ, अकेला ही दु:ख भोगता रहा हूँ; मरण के समय मेरे साथ कोई भी आनेवाला नहीं है, मेरा कहा जानेवाला शरीर भी नहीं। अत: मुझे जितना शक्य हो उतना अपने में ही (आत्मा में ही) रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

● **अन्यत्व भावना :–** मैं कौन हूँ? यह चिन्तवन करना अर्थात् पूर्व में बताए अनुसार आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित पुद्गल और पुद्गल (कर्म) आश्रित भावों से अपने को भिन्न समझना और इसका ही अनुभव होना चाहिये। इसे ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। यही इस जीवन का एकमात्र लक्ष्य और कर्तव्य होना चाहिये।

● **अशुचि भावना :–** मुझे, मेरे शरीर को सुन्दर सजाने का जो भाव है, और विजातीय के शरीर का आकर्षण है, उस शरीर की चमड़ी को हटाते ही सिर्फ़ मांस, ख़ून, पीप, मल, मूत्र इत्यादि ही ज्ञात होते हैं, जो कि अशुचि हैं। ऐसा सोचकर अपने शरीर का और विजातीय के शरीर का मोह त्यागना, उससे मोहित नहीं होना।

● **आस्रव भावना :–** पुण्य और पाप ये दोनों मेरे (आत्मा के) लिए आस्रव हैं; इसलिये

विवेक द्वारा प्रथम पापों का त्याग करना और फिर एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभभाव में रहना कर्तव्य है।

- **संवर भावना :–** सच्चे (कार्यकारी) संवर की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिये उसके लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्चे संवर के लक्ष्य से द्रव्य संवर पालना।
- **निर्जरा भावना :–** सच्ची (कार्यकारी) निर्जरा की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिये उसके लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्ची निर्जरा के लक्ष्य से यथाशक्ति तप करना।
- **लोकस्वरूप भावना :–** प्रथम, लोक का स्वरूप जानना, पश्चात् चिन्तन करना कि मैं अनादि से इस लोक में सब प्रदेशों में अनन्तो बार जन्मा और मरण को प्राप्त हुआ; मैंने अनन्त दु:ख भोगे, अब कब तक यह सिलसिला चालू रखना है? अर्थात् इसके अन्त के लिये सम्यग्दर्शन आवश्यक है। अत: उसकी प्राप्ति का उपाय करना। दूसरे, लोक में रहे हुए अनन्त सिद्ध भगवान और संख्यात अरहन्त भगवान और साधु भगवानों की वन्दना करना और असंख्यात श्रावक-श्राविकाओं तथा सम्यग्दृष्टि जीवों की अनुमोदना करना, प्रमोद करना।
- **बोधिदुर्लभ भावना :–** बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन। अनादि से हमारी भटकन का यदि कोई कारण है तो वह है सम्यग्दर्शन का अभाव। इसलिये समझ में आता है कि सम्यग्दर्शन कितना दुर्लभ है, किन्हीं आचार्य भगवान ने तो कहा है कि वर्तमान काल में सम्यग्दृष्टि अंगुली के पोर पर गिने जा सकें इतने ही होते हैं।
- **धर्मस्वरूप भावना :–**वर्तमान काल में धर्मस्वरूप में बहुत विकृतियाँ प्रवेश कर चुकी हैं। इसलिये सत्यधर्म की शोध और उसका ही चिन्तन करना; पूरा पुरुषार्थ उसे प्राप्त करने में ही लगाना।

– बारह भावना को विस्तार से जानने के लिये पृष्ठ **११६** देखिये।

४०

नित्य चिन्तन कणिकाएँ

- **एक समकित पाये बिना, जप तप क्रिया फोक।**
  जैसा मुर्दा सिंगारना, समझ कहे तिलोक।।

अर्थात् सम्यग्दर्शनरहित सर्व जप-तप-क्रिया, श्रावकत्व, क्षुल्लकत्व, साधुत्व इत्यादि मुर्दे को शृंगारित करने जैसा निरर्थक है। यहाँ कहने का भावार्थ यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना तप-जप-क्रिया श्रावकत्व, क्षुल्लकत्व, साधुत्व भव का अन्त करने में कार्यकारी नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे नहीं करने चाहिये। परन्तु उनसे ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये अर्थात् उन्हें करके ही स्वयं को कृतकृत्य न समझकर, सारे प्रयत्न एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये ही करने चाहिये।

- भगवान के दर्शन किस प्रकार करना? भगवान के गुणों का चिन्तन करना और भगवान, भगवान बनने के लिये स्वयं जिस मार्ग पर चले, उस मार्ग पर चलने का हमें दृढ़ निर्णय करना है, यही सच्चा दर्शन है।
- सम्पूर्ण संसार और सांसारिक सुखों के प्रति वैराग्य के बिना अर्थात् संसार और सांसारिक सुखों में रुचि रहते मोक्षमार्ग की शुरुआत होना अत्यन्त दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।
- जीव में चार संज्ञाएँ-आहार, मैथुन, परिग्रह और भय-अनादि से हैं; इसलिये उनके विचार सहज होते हैं। वैसे विचारों से जिन्हें छुटकारा चाहिये हो, उन्हें उन की ओर स्वयं की रुचि तलाशना। जब तक ये संज्ञाएँ रुचती हैं या इनमें सुख भासित होता है तब तक उनसे छुटकारा मिलना कठिन है। जैसे कि कुत्ते को हड्डी चूसने को देने पर तालु में हड्डी चूभने से ख़ून निकलता है और वह ऐसा समझता है कि ख़ून हड्डी में से निकलता है और इसलिये उसे उसका आनन्द होता है कि जो मात्र उसका भ्रम ही है, इसी तरह जीव अनादि से भ्रम में ही है। इस प्रकार जब तक यह आहार, मैथुन, परिग्रह और भय अर्थात् बलवान का डर और कमज़ोर को डराना/दबाना अच्छा लगता है, वहाँ तक उस जीव को उस के विचार सहज होते हैं और इसलिये उस के संसार का अन्त नहीं होता। इस कारण मोक्षेच्छु को इस अनादि के उल्टे संस्कारों को मूल से निकालने का पुरुषार्थ

करना चाहिये जिसके लिये सर्वप्रथम इन संज्ञाओं के प्रति आदर छूटना आवश्यक है। इसलिये सारा पुरुषार्थ उनके प्रति वैराग्यप्राप्ति का ही होना आवश्यक है। इसके लिए सद्वाचन और सच्ची समझ भी आवश्यक है।

- हमें क्या पसन्द है? यह है आत्मप्राप्ति का बैरोमीटर-थर्मोमीटर। इस प्रश्न पर विचार करना होगा। जब तक उत्तर में कोई भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो, तब तक अपनी गति संसार की ओर ही समझना और जब उत्तर एकमात्र आत्मप्राप्ति हो तो समझना कि आपके संसार का किनारा बहुत नज़दीक़ आ गया है। इसलिये उसके लिये पुरुषार्थ बढ़ाना।
- हमें क्या पसन्द है? यह है हमारी भक्ति का बैरोमीटर-थर्मोमीटर अर्थात् भक्तिमार्ग की व्याख्या। जो आपको रुचता है, उस ओर आपकी सहज भक्ति समझना। भक्तिमार्ग अर्थात् चापलूसी अथवा व्यक्तिगतरूप भक्ति नहीं समझना परन्तु जो आपको रुचता है अर्थात् जिसमें आपकी रुचि है, उसी ओर आपकी पूरी शक्ति कार्य करती है। इसलिये जिसे आत्मा की रुचि जगी है और मात्र उसका ही विचार आता है, उसकी प्राप्ति के ही उपाय विचारता है तो समझना कि उसकी भक्ति यथार्थ है। अर्थात् मैं सच्चे भक्ति मार्ग में हूँ। इसलिये जब तक हमें क्या पसन्द है, इसके उत्तर में कोई भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो अथवा कोई व्यक्ति हो, तब तक अपनी भक्ति संसार की ओर ही समझना और जब उत्तर एकमात्र आत्मप्राप्ति हो तो समझना कि आपके संसार का किनारा बहुत नज़दीक़ आ गया है। इसलिये भक्ति अर्थात् संवेग और निर्वेद सहित वैराग्य ही आत्मप्राप्ति के लिए कार्यकारी है।
- अभयदान, ज्ञानदान, अन्नदान, धनदान, औषधिदान में अभयदान अतिश्रेष्ठ है। इसलिये सबको प्रतिदिन जीवन में जयणा/यत्न (प्रत्येक काम में कम से कम जीवहिंसा हो वैसी सजगता ओर सावधानी) रखना अत्यन्त आवश्यक है।
- **प्रश्न :-** धन पुण्य से प्राप्त होता है या मेहनत से?

  उत्तर :- धन की प्राप्ति में पुण्य का योगदान अधिक है और मेहनत अर्थात् पुरुषार्थ का योगदान न्यून है। क्योंकि जिसका जन्म धनी कुटुम्ब में होता है, उसे कुछ भी प्रयत्न बिना ही धन प्राप्त होता है। और कुछ व्यक्ति व्यापार में बहुत मेहनत करने पर भी धन गँवाते हैं। धन कमाने के लिये प्रयत्न आवश्यक है परन्तु कितना? बहुत लोगों को बहुत

अल्पप्रयत्न में अधिक धन प्राप्त होता दिखता है, जबकि किसी को बहुत प्रयत्न करने पर भी कम धन प्राप्त होता है। इसलिये यह निश्चित होता है कि धन प्रयत्न की अपेक्षा पुण्य का अधिक वरण करता है। इसलिये जिसे धन के लिये मेहनत करना आवश्यक लगता हो उसे भी अधिक में अधिक आधा समय ही अर्थोपार्जन में और कम से कम आधा समय तो धर्म में ही लगाने योग्य है। क्योंकि धर्म से अनन्तकाल का दु:ख मिटता है और साथ ही साथ पुण्य के कारण धन भी सहज ही प्राप्त होता है। जैसे गेहूँ बोने पर साथ में घास अपने-आप ही प्राप्त होती है, उसी प्रकार सत्यधर्म करने से पाप हल्के होते हैं और पुण्य तीव्र होते हैं इसलिये भवान्त के साथ-साथ धन और सुख स्वयमेव ही प्राप्त होते हैं। भविष्य में अव्याबाध सुख तथा मुक्ति मिलते है।

- पुरुषार्थ से धर्म होता है और पुण्य से धन मिलता है। अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ धर्म में लगाना और धन कमाने में कम से कम समय गँवाना। क्योंकि वह धन मेहनत के अनुपात में नहीं मिलता बल्कि पुण्य के अनुपात में मिलता है।
- कर्मों का जो बन्ध होता है, उसके उदय काल में आत्मा के कैसे भाव होंगे अर्थात् उन कर्मों के उदय काल में नये कर्म कैसे बन्धेंगे, उसे उस कर्म का अनुबन्ध कहते हैं; वह अनुबन्ध, अभिप्राय का फल है। इसलिये सम्पूर्ण पुरुषार्थ अभिप्राय बदलने में लगाना अर्थात् अभिप्राय को सम्यक् करने में लगाना चाहिये।
- स्वरूप से मैं सिद्ध सम होने पर भी, राग-द्वेष मेरे कलंक समान हैं, इसलिये उन्हें धोने के (मिटाने के) ध्येयपूर्वक धैर्य सहित धर्मरूपी पुरुषार्थ करना।
- सन्तोष, सरलता, सादगी, समता, सहिष्णुता, सहनशीलता, नम्रता, लघुता तथा विवेक आत्मप्राप्ति की योग्यता के लिये जीवन में उतारना अत्यन्त आवश्यक है।
- तपस्या में विशुद्ध ब्रह्मचर्य अति श्रेष्ठ है।
- सांसारिक जीव निमित्तवासी होते हैं, कार्य तो नियम से उपादान में ही होता है परन्तु उस उपादान में कार्य हो तब निमित्त की उपस्थिति अविनाभावी होती ही है। इसी लिये विवेक से मुमुक्षु जीव समझता है कि कार्य भले उपादान में ही हो परन्तु इस कारण से उन्हें स्वच्छन्दता से किसी भी निमित्त-सेवन की अनुमति नहीं मिल जाती। इसी लिये वह निर्बल निमित्तों से भीरुभाव रखकर दूर ही रहता हैं।

- साधक आत्मा के लिए टीवी, सिनेमा, नाटक, मोबाईल, इंटरनेट इत्यादि कमज़ोर निमित्तों से दूर ही रहना आवश्यक है। क्योंकि अच्छे से अच्छे भावों को बदल जाने में देरी नहीं लगती। दूसरे, यह सब निर्बल निमित्त अनन्त संसार अर्थात् अनन्त दु:ख की प्राप्ति के कारण बनने में सक्षम हैं।
- माता-पिता के उपकारों का बदला दूसरे किसी भी प्रकार से नहीं चुकाया जा सकता। एकमात्र उन्हें धर्म प्राप्त कराकर ही चुकाया जा सकता है। माता-पिता की सेवा करना। माता-पिता का स्वभाव अनुकूल न हो तो भी उनकी सेवा पूरी-पूरी करना और उन्हें धर्म प्राप्त कराना है। इसलिये प्रथम स्वयं धर्म प्राप्त करना आवश्यक है।
- धर्म लज्जित न हो, उसके लिये हम सभी को अपने कुटुम्ब में, व्यवसाय में, दुकान, ऑफ़िस इत्यादि में तथा समाज के साथ हमारा व्यवहार अच्छा ही हो, इसका ध्यान रखना आवश्यक है।
- अपेक्षा, आग्रह, आसक्ति, अहंकार निकाल देना अत्यन्त आवश्यक है।
- स्वदोष देखो, परदोष नहीं; परगुण देखो और उन्हें ग्रहण करो, यह अत्यन्त आवश्यक है।
- अनादि से चली आ रही इन्द्रियों की गुलामी छोड़ने योग्य है।
- जिन इन्द्रियों के विषयों में जितनी ज़्यादा आसक्ति, जिन इन्द्रियों का जितना ज़्यादा दुरुपयोग, उतनी वे इन्द्रियाँ भविष्य में अनन्तकाल तक मिलने की सम्भावना कम।
- मेरे ही क्रोध, मान, माया, लोभ मेरे कट्टर दुश्मन हैं, बाक़ी विश्व में मेरा कोई शत्रु है ही नहीं।
- एक-एक कषाय अनन्त परावर्तन कराने में शक्तिमान है और मुझमें उन सभी कषायों का वास है तो मेरा क्या होगा? इसलिये शीघ्रता से सभी कषायों का नाश चाहना और उसी का पुरुषार्थ करना।
- अहंकार और ममकार अनन्त संसार का कारण होने में सक्षम हैं इसलिये उनसे बचने का उपाय करना।
- निन्दा मात्र अपनी करना अर्थात् अपने दुर्गुणों की ही करना, दूसरों के दुर्गुण देखकर सर्वप्रथम स्वयं अपने भाव जाँचना और यदि वे दुर्गुण अपने में हों तो निकाल देना और उनके प्रति उपेक्षाभाव अथवा करुणाभाव रखना क्योंकि दूसरे की निन्दा से तो हमें बहुत कर्मबन्ध होता है। कोई भी किसी दूसरे के घर का कचरा अपने घर में नहीं लाता। इसी

प्रकार दूसरे की निन्दा करने से उसके कर्म साफ़ होते हैं, जबकि हमें कर्मों का बन्ध होता है।

- ईर्ष्या करना हो तो मात्र भगवान से ही करना अर्थात् भगवान बनने के लिये भगवान की ईर्ष्या करना, अन्यथा नहीं। इसके अतिरिक्त किसी से भी ईर्ष्या करने से अनन्त दुःख देनेवाले अनन्त कर्मों का बन्ध होता है और जीव वर्तमान में भी दुःखी रहता है।
- जागृति-हर समय रखना अथवा हर घण्टे अपने मन के परिणामों की जाँच करते रहना, मन का झुकाव किस ओर है, वह देखना और उसमें आवश्यक सुधार करना। लक्ष्य एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही रखना और वही भाव दृढ़ करते रहना।
- अनन्तकाल तक रहने के दो ही स्थान हैं। एक सिद्ध अवस्था और दूसरा निगोद। पहले में अनन्त सुख है और दूसरे में अनन्त दुःख है। इसलिये अपने भविष्य को लक्ष्य में लेकर सभी जनों को अपने सारे प्रयत्न/पुरुषार्थ एकमात्र मोक्ष के लिये ही करने चाहिये।
- मेरे साथ जो होता है, वह अच्छे के लिये होता है-ऐसा मानना। ऐसा मानने से आर्तध्यान और रौद्रध्यान से बचा जा सकता है। अर्थात् नये कर्मों के आस्रव से बचा जा सकता है।
- **प्रश्न :-** हमें किसका पक्ष-किसकी तरफ़दारी करना है? अर्थात् मुझे कौनसा सम्प्रदाय अथवा किस व्यक्तिविशेष का पक्ष करना है?

  उत्तर :- मात्र अपना ही यानी अपनी आत्मा का ही पक्ष करते रहना क्योंकि उस में ही अपना उद्धार है, अन्य किसी की तरफ़दारी नहीं, क्योंकि उसमें अपना उद्धार नहीं, नहीं और नहीं ही है! क्योंकि वह तो राग-द्वेष का कारण है! जब अपनी आत्मा का ही पक्ष लिया जाये, तब उसमें सभी ज्ञानियों का पक्ष समाहित हो जाता है।
- जैनों को रात्रि में कोई भी कार्यक्रम-भोजन समारम्भ नहीं रखना चाहिये। किसी भी प्रसंग में फूल और पटाखों का उपयोग नहीं करना चाहिये।
- विवाह साधक के लिये मजबूरी होती है न कि महोत्सव। जो साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य न पाल सकते हों, उनके लिये विवाह व्यवस्था का सहारा लेने योग्य है। इससे साधक अपना संसार, निर्विघ्नता से श्रावक धर्म के अनुसार व्यतीत कर सकेगा और अपनी मजबूरी भी योग्य मर्यादा सहित पूरी कर सकेगा। ऐसे मजबूरीवाले विवाह का महोत्सव नहीं होता क्योंकि कोई अपनी मजबूरी को उत्सव बनाकर, महोत्सव करता नहीं दिखता। इसलिये

साधक को विवाह बहुत ज़रूरी हो तो ही करना चाहिये और वह भी सादगी से।

दूसरे, यहाँ बताये अनुसार विवाह को मजबूरी समझकर किसी ने विवाह दिवस इत्यादि का महोत्सव करने योग्य नहीं। उस दिन तो विशेष धर्म करने योग्य है। और ऐसी भावना भाओ कि अब मुझे यह विवाहरूपी मजबूरी भविष्य में कभी न हो! जिससे मैं शीघ्रता से आत्मकल्याण कर सकूँ और सिद्धत्व प्राप्त कर सकूँ।

- जन्म आत्मा को अनादि का लगा हुआ भवरोग है, न कि महोत्सव क्योंकि जिसे जन्म है, उसे मरण अवश्य है और जन्म-मरण का दु:ख अनन्त होता है। इसलिये जब तक आत्मा का जन्ममरणरूपी चक्रवात चलता है, तब तक उसे अनन्त दु:खों से छुटकारा नहीं मिलता। अर्थात् प्रत्येक को एकमात्र सिद्धत्व अर्थात् जन्म-मरण से सदा के लिये छुटकारे की इच्छा करने योग्य है। इसलिये ऐसे जन्म के महोत्सव नहीं होते क्योंकि कोई अपने रोग को उत्सव बनाकर महोत्सव करता नहीं दिखता। यहाँ बताये अनुसार जन्म को अनन्त दु:ख का कारण ऐसा भवरोग समझकर साधक के लिये जन्म-दिवस इत्यादि का महोत्सव करने योग्य नहीं है। अर्थात् उस दिन विशेष धर्म करने योग्य है। और ऐसी भावना भाओ कि अब मुझे यह जन्म, जो कि अनन्त दु:खों का कारण ऐसा भवरोग है, भविष्य में कभी भी न हो! अर्थात् साधक को एकमात्र सिद्धत्व की प्राप्ति के लिये अर्थात् अजन्मा बनने के लिये ही सारा पुरुषार्थ करना चाहिये।
- अनादि से पुद्गल के मोह में और उसी की तलाश में जीव दण्डित होता आया है। उसके मोह के फलस्वरूप वह अनन्त दु:ख भोगता आया है। इसलिये शीघ्रता से पुद्गल का मोह छोड़ने योग्य है। वह मात्र शब्दो से नहीं। धर्म की ऊँची-ऊँची बातें करनेवाले भी पुद्गल के मोह में फँसे हुए दिखते हैं। यह जीव अनादि से इसी प्रकार स्वयं को ठगता आया है। इसी लिये सारे आत्मार्थियों से हमारा अनुरोध है कि आप अपने जीवन में अत्यन्त सादगी अपनायें। पुद्गल की जितनी हो सके उतनी आवश्यकता कम करें। आजीवन प्रत्येक प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करें। सन्तोष रखना परम आवश्यक है जिससे स्वयं एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य के लिये ही जीवन जी सकते हैं। जिससे वे अपने जीव को अनन्त दु:खों से बचा सकते हैं और अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त कर सकते हैं।
- आत्मार्थी को किसी भी मत-पन्थ-सम्प्रदाय-व्यक्तिविशेष का आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह,

पूर्वाग्रह, अथवा पक्ष होना ही नहीं चाहिये क्योंकि इस प्रकार का हठ आत्मा के लिये अनन्त काल की बेड़ी समान है। वह आत्मा को अनन्त काल भटकानेवाला है। आत्मार्थी के लिये 'अच्छा वह मेरा' और 'सच्चा वह मेरा' होना अति आवश्यक है, जिससे आत्मार्थी अपनी मिथ्या मान्यताओं का त्यागकर सत्य को सरलता से ग्रहण कर सके। वही उसकी योग्यता कहलाती है।

- आत्मार्थी को दम्भ से हमेशा दूर ही रहना चाहिये। उसे मन-वचन और काया की एकता साधने का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिये और उसमें अड़चनरूपी संसार से बचते रहना चाहिये।
- आत्मार्थी को एक ही बात ध्यान में रखने योग्य है कि यह मेरे जीवन का अन्तिम दिन है और यदि इस मनुष्यभव में मैंने आत्मप्राप्ति नहीं की तो अब अनन्त, अनन्त, अनन्त ... काल के बाद भी मनुष्य जन्म, पूर्ण इन्द्रियों की प्राप्ति, आर्य देश, उच्च कुल, सत्यधर्म की प्राप्ति, सत्यधर्म की देशना इत्यादि मिले, ऐसा नहीं है। बल्कि अनन्त, अनन्त, अनन्त ... कालपर्यन्त अनन्त, अनन्त, अनन्त ... दु:ख ही प्राप्त होंगे। इसलिये यह अमूल्य दुर्लभमनुष्य जन्म मात्र शारीरिक - इन्द्रियजन्य सुख और उसकी प्राप्ति के पीछे ख़र्च करने योग्य नहीं है। उसके एक भी पल को व्यर्थ न गँवाकर शीघ्रता से उसे मात्र और मात्र शाश्वत सुख, आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिये ही लगाना योग्य है।

- जिसे संसार में डूबे हुए जीव सुख मानते हैं, वास्तव में तो वह दु:ख ही है क्योंकि वह सुख (सुखाभास) भी दु:खपूर्वक ही होता है। वैसा सुख भोगते हुए आकुलता का दु:ख होता है, उस सुख को भोगने के बाद उसके अभाव का दु:ख होता है और उस सुख को भोगते वक़्त बाँधे हुए पापों से भविष्य में भी दु:ख मिलता है। ऐसे सुख को हम सुख कैसे मान सकते हैं? नहीं मान सकते। इसलिये सभी साधकों/मुमुक्षुओं को सच्चे सुख की खोज करनी चाहिये। उसके लिये उन्हें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे उन्हें आत्मानुभूति और सच्चा सुख प्राप्त हो सके।

४१

रात्रिभोजन के सम्बन्ध में

रात्रिभोजन का त्याग मोक्षमार्ग के पथिक के लिये तो आवश्यक है ही परन्तु उसके आधुनिक विज्ञान-अनुसार भी अनेक लाभ हैं। जैसे कि रात्रि नौ बजे शरीर की घड़ी (body clock) के अनुसार पेट में रहे हुए विषतत्त्वों की सफ़ाई का (detoxification) समय होता है। तब पेट यदि भरा हुआ हो तो शरीर वह कार्य नहीं करता अर्थात् पेट में कचरा बढ़ता है। जो रात्रिभोजन नहीं करते, उनका पाचन नौ बजे तक में हो जाने से उनका शरीर विषतत्त्वों की सफ़ाई का कार्य भली प्रकार से कर सकता है।

दूसरे, रात्रि में भोजन के पश्चात् दो से तीन घण्टे तक सोना निषिद्ध है और इसलिये जो रात्रि में देर से भोजन करते हैं, वे देर से सोते हैं। रात्रि में ग्यारह से एक बजे के दौरान गहरी नींद (deep sleep)लिवर की सफ़ाई और उसकी नुक़सान भरपाई (cell regrowth) के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यह रात्रिभोजन करनेवाले के लिये शक्य ही नहीं है। इसलिये यह भी रात्रिभोजन का बड़ा नुक़सान है। आरोग्य की दृष्टि से इसके अतिरिक्त भी रात्रिभोजनत्याग के दूसरे अनेक लाभ हैं।

आयुर्वेद, योगशास्त्र और जैनेतर दर्शनों के अनुसार भी रात्रिभोजन निषिद्ध है। जैनेतर दर्शन में तो रात्रिभोजन को मांस खाने के समान और रात्रि में पानी पीने को ख़ून पीने के समान बताया है। रात्रिभोजन करनेवाले के तप-जप-यात्रा सब व्यर्थ होते हैं और रात्रिभोजन का पाप सैकड़ों चन्द्रायतन तप करने से भी नहीं धुलता - ऐसा बताया है।

जैन दर्शन ने रात्रिभोजन को बहुत बड़ा पाप बताया है। यहाँ कोई यदि ऐसा कहे कि रात्रिभोजन त्याग इत्यादि व्रत अथवा प्रतिमाएँ तो सम्यग्दर्शन के बाद ही होती हैं तो हमें इस रात्रिभोजन का क्या दोष लगेगा? तो उन्हें हमारा उत्तर है कि रात्रिभोजन का दोष सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि को अधिक ही लगता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि उसमें रचपचकर सेवन करता है, जब कि सम्यग्दृष्टि तो आवश्यक न हो, अनिवार्य न हो तो ऐसे दोषों का सेवन करता ही नहीं। यदि किसी काल में ऐसे दोषों का सेवन करता भी है तो भीरुभाव से और रोग की औषधि समझकर करता है; न कि आनन्द से अथवा स्वच्छन्दता से। इस कारण किसी भी प्रकार का छल धर्मशास्त्रों से ग्रहण नहीं करना क्योंकि धर्मशास्त्रों में प्रत्येक बात अपेक्षा से होती है। इसलिये व्रत और प्रतिमाएँ पंचम गुणस्थान में कही हैं, उसका अर्थ ऐसा नहीं निकालना कि अन्य कोई निम्न भूमिकावाला उसे अभ्यास के लिये अथवा पाप से बचने के लिये ग्रहण नहीं कर सकता। रात्रिभोजनत्याग सभी के लिये अवश्य ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि जिसे दु:ख प्रिय नहीं है - ऐसे जीव, दु:ख के कारणरूपी पापों का किस प्रकार आचरण कर सकते हैं? कदापि नहीं कर सकते।

४२

समाधिमरण चिन्तन

सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि मरण अर्थात् क्या? और वास्तव में मरण किसका होता है?

उत्तर : आत्मा तो अमर होने से कभी मरण को पाती ही नहीं परन्तु आत्मा का पुद्गल-रूपी शरीर के साथ जो एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का अन्त होता है, उसे ही मरण कहा जाता है। इसलिये मरण अर्थात् आत्मा का एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाना।

संसार में कोई एक घर छोड़कर, दूसरे अच्छे घर में रहने जाता है तब, अथवा कोई पुराने कपड़े बदलकर नये कपड़े पहनता है तब, शोक करता नहीं दिखता। ट्रेन में सब अपने-अपने स्टेशिन आने पर उतर जाते हैं परन्तु कोई उसका शोक करता नहीं दिखता।

मरण के प्रसंग में शोक क्यों होता है? इसका सबसे बड़ा कारण है मोह, अर्थात् उन्हें अपना माना था, इसलिये शोक होता है। सब कोई जानते हैं कि एक दिन सबको इस दुनिया से जाना है, तथापि अपने विषय में कभी कोई विचार नहीं करता और उसके लिये अर्थात् समाधिमरण की तैयारी भी नहीं करता। इसी लिये सबको अपने समाधिमरण के विषय में विचार कर, उसके लिये तैयारी करनी चाहिये।

प्रश्न :- समाधिमरण क्या है? उसकी तैयारी कैसी होती है?

उत्तर :- समाधिमरण अर्थात् एकमात्र आत्मभाव से (आत्मा में समाधिभाव से) वर्तमान देह को छोड़ना। मैं आत्मा हूँ-ऐसे अनुभव के साथ अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित मरण को समाधिमरण कहा जाता है। इसलिये समाधिमरण का महत्त्व इस कारण है कि वह जीव, सम्यग्दर्शन को साथ लेकर जाता है अन्यथा, समाधिमरण न होकर, वह जीव सम्यग्दर्शन का वमन कर जाता है। लोग समाधिमरण की तैयारी के लिये सन्थारा/संलेखना की भावना भाते हुए दिखते हैं। अन्त समय की आलोचना करते हुए/कराते हुए दिखते हैं, निर्यापकाचार्य (सन्थारे का निर्वाह करानेवाले आचार्य की) शोध करते दिखते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन जो कि समाधिमरण का प्राण है, उसके विषय में लोग अनजान ही हैं - ऐसा प्रतीत होता है। इसलिये समाधिमरण की तैयारी के लिये यह पूर्ण जीवन एकमात्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उपाय में ही लगाने योग्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना अनन्त बार दूसरा सब करने पर भी आत्मा का उद्धार शक्य नहीं हुआ, भवभ्रमण का अन्त नहीं आया। सम्यग्दर्शन के बिना चाहे जो उपाय करने से, कदाचित् एक-

दो, थोड़े से भव अच्छे मिल भी जायें, लेकिन भवान्त नहीं होता। इस कारण अनन्त दु:खों का अन्त नहीं आता। अर्थात् नरक-निगोद से स्थायी बचाव नहीं होता। इसलिये ऐसे दुर्लभ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की तैयारी के लिये इस संसार के प्रति वैराग्य, संसार के सुखों के प्रति उदासीनता और शास्त्र स्वाध्याय से यथार्थ तत्त्व का निर्णय आवश्यक है।

यह मनुष्य भव अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये इसका उपयोग किसमें करना – यह विचारना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि जैसा जीवन जिया हो, प्राय: वैसा ही मरण होता है। इसलिये नित्यजागृति ज़रूरी है। जीवन में नीति-न्याय आवश्यक है। नित्य स्वाध्याय, मनन, चिन्तन आवश्यक है। आयुष्य का बन्ध चाहे जब पड़ सकता है और गति अनुसार ही मरण के समय लेश्या होती है। इसलिये जो समाधिमरण चाहते हों, उन्हें पूर्ण जीवन सम्यग्दर्शनसहित धर्ममय जीना आवश्यक है। जीवनभर तमाम प्रयत्न सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये ही करने योग्य हैं। सम्यग्दर्शन के लिये किये गये तमाम शुभभाव यथार्थ हैं, अन्यथा वे भवान्त के लिये अयथार्थ सिद्ध होते हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद भी प्रमाद करने योग्य नहीं है क्योंकि भगवान की आज्ञा है कि एक समय भी प्रमाद मत करो।

सबको मात्र अपने ही परिणाम पर दृष्टि रखनी है। और उसी में सुधार करना है। 'दूसरा क्या करता है?' अथवा 'दूसरे क्या कहेंगे?' इत्यादि न विचारकर अपने लिये क्या योग्य है – यह विचारना। आर्तध्यान और रौद्रध्यान का सेवन नहीं करना। यदि भूल से, अनादि के संस्कारवश आर्तध्यान और रौद्रध्यान हुआ हो तो तुरन्त ही उसमें से पराङ्मुख होना (प्रतिक्रमण), उसका पश्चात्ताप करना (आलोचना) और भविष्य में ऐसा कभी न हो (प्रत्याख्यान)-ऐसा दृढ़ निर्धारण करना। इस प्रकार दुर्ध्यान से बचकर पूर्ण यत्न संसार के अन्त के कारणों में ही लगाना योग्य है। ऐसी जागृति सारे जीवन के लिये आवश्यक है। तभी मरण के समय जागृतिसहित समाधि और समत्वभाव रहने की सम्भावना रहती है। इसी से समाधिमरण हो सकेगा। आप सभी को ऐसा समाधिमरण प्राप्त हो-इसी भावना के साथ....

जिनाज्ञा के विरुद्ध हमसे कुछ भी लिखा गया हो तो त्रिविध-त्रिविध हमारी ओर से मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

यूनिवर्सल लॉ – सभी को समानरूप से लागू होनेवाली ब्रह्माण्ड की संचालन व्यवस्था

- मैंने जो दिया था वही मुझे मिल रहा है। मैं जो दूसरों के लिये चाहूँगा वही मेरे साथ होगा।
- मैं आत्मा हूँ। यह शरीर मुझे मिला हुआ किरदार है। आमतौर पर मैंने जिसकी कामना की थी, वही किरदार मिलता है।
- मेरे साथ जो भी घट रहा है वह मेरे भूतकाल का ही प्रतिबिम्ब है। वह मेरे भूतकाल के कर्मों का फल है। मैंने जो कार्य मन-वचन-काय से नहीं किया या नहीं करवाया वह मेरे साथ कभी भी घटने वाला नहीं है।
- इससे तय है कि मेरे साथ भूत, वर्तमान, या भविष्य में कभी भी अन्याय न हुआ है न होगा। इसलिये मैं 'No Complaint Zone' 'शिकायत मुक्त भाव' में रह सकता हूँ। मेरे साथ जो भी होता है वह मेरे भूतकाल के कारण ही होता है। इसलिये 'मेरे साथ ही क्यों?' यह सवाल उपयुक्त नहीं है।
- मैं पुण्य करके और सप्तव्यसनों से (जुआँ, शराब, मांसभक्षण, वेश्यागमन, चोरी, शिकार, परस्त्री-गमन या परपुरुष-गमन), तथा कन्दमूल सेवन, रात्रिभोजन और अभक्ष्यभक्षण (अचार, मधु, अंजीर, मक्खन इत्यादि से) मुक्त रहकर अपने लिये सौभाग्य निर्मित कर सकता हूँ।
- यह समीकरण याद रखना है – पाप=दु:ख, पुण्य=सुख।
- मुझे दु:ख से भी फ़ायदा उठाने का तरीक़ा सीखना है।
- मैं यहाँ सिर्फ़ देने के लिये आया हूँ-वह भी बिना किसी शर्त या अपेक्षा के। इस तरह देकर मैं अपना पिछला क़र्ज़ चुका रहा हूँ। या फिर नयी निधि (fixed deposit) जमा कर रहा हूँ। दोनों परिस्थितयों में फ़ायदा मेरा ही है।

- ♦ मुझे अपना फ़र्ज़ पूरे जोश से बग़ैर किसी अपेक्षा से पूरा करना है। बाक़ी सभी ऐसा करें यह आग्रह भी नहीं रखना है। हम सभी को अपने परिवार, मित्र, सहयोगियों, समाज और राष्ट्र के प्रति अपना कर्तव्य पूरी निष्ठा से निभाना है।

- ♦ मुझे अपने साथ सख़्त और दूसरों के साथ मृदु/दयालु रहना है।

- ♦ मेरे साथ जो भी हो रहा है वह अच्छे के लिये ही हो रहा है। अगर मैं यह मान लूँ तो हमेशा सकारात्मक बना रहूँगा।

- ♦ लोगों के साथ चार प्रकार से पेश आना है –

  १. **मैत्री –** किसी से भी दुश्मनी नहीं होने के कारण अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी। मित्रों का भला चाहने से अपना भला सुनिश्चित होता है।

  २. **प्रमोद –** दूसरे के गुण देखने से वे गुण मुझमें प्रकट होंगे।

  ३. **करुणा –** पापी के प्रति करुणा रखने से अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी।

  ४. **माध्यस्थ्य –** कोई प्रतिक्रिया नहीं। जब मुझे कोई आहत करे तब मुझे शान्त रहना है। मन में 'Thank you! Welcome! धन्यवाद! स्वागतम्!' करना। इस धन्यवाद स्वागतम् के भी तीन चरण हैं।

प्रथम चरण – अपनी भूतकाल की भूल के लिये माफ़ी माँगना। (Sorry! Sorry!).

द्वितीय चरण – दोबारा ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा यह तय करना। (Never again).

तृतीय चरण – सामनेवाले को अपने को साफ़ करनेवाला और उपकारी मानकर मन में धन्यवाद देना। (Thank you!) इससे मुझे उसके प्रति गुस्सा, घृणा या तुच्छता के भाव नहीं आयेंगे। जिससे हम इस गुस्सा, घृणा या तुच्छता के विषैले चक्र से बच जायेंगे। यह तीनों चरण हमारी प्रसन्नता के लिये रक्षाकवच हैं। इसलिये यह सिद्धान्त स्वागत योग्य है। (Welcome!) इस तरह मैं स्वयं को नकारात्मक भावों से बचाकर सकारात्मक सोच रख सकता हूँ।

- अपनी सोच समझपूर्वक बदलनी चाहिये न कि बलपूर्वक। इससे अपनी प्रसन्नता भंग नहीं होती। इसी लिये हमारा मार्ग 'सहज योग' का है, 'हठ योग' का नहीं।
- इस जीवन में मुझे अपने शरीर और मन का उपयोग कर संसार से मुक्ति हेतु सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है।
- सत्य हमारे भीतर है। उसे कहीं बाहर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। हमें स्वयं को अन्दर से बदलने की आवश्यकता है।
- जिसने सत्य प्राप्त किया है वही मार्ग बता सकता है। वैसे लोग यश, कीर्ति, धन, वैभव, सम्मान इत्यादि के पीछे नहीं भागते।
- सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु हमें सदैव सत्य स्वीकारने को तैयार (Ready to accept) और अपने आप को बदलने को तैयार (Ready to change) रहना चाहिए। सम्यग्दर्शन के लिये संसार की इच्छा, आकांक्षा, अपेक्षा छोड़ना नितान्त आवश्यक है। घर, परिवार, धन इत्यादि छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। संसार की इच्छा, आकांक्षा, अपेक्षा छोड़ने के लिये हमें स्वयं को हर दो घण्टे में जाँचते रहना चाहिये और बारह भावना का चिन्तन करके सांसारिक इच्छाओं को मूल से निरस्त करना है।
- मुझे स्वयं को बदलना है (जो आसान है), औरों को बदलने का आग्रह नहीं रखना है (जो मुश्किल है और निराशा, शोक, सन्ताप, कष्ट इत्यादि का जनक है); औरों को तो हम सिर्फ़ प्रेरणा दे सकते हैं।
- सभी संसारी जीवों के पास अनन्तकाल तक रहने के दो ही स्थान हैं : १. मोक्ष (अनन्त सुख) और २. निगोद (अनन्त दु:ख)। अगर मोक्ष नहीं मिला तो निगोद बिना किसी प्रयास के (by default) मिल जायेगा। इसलिये हमें मोक्ष के लिये ही सारे प्रयास करने हैं।
- अपनी औरों से तुलना न करके अपने भूतकाल की तुलना अपने वर्तमान से करनी है और उसे बेहतर बनाना है। इस तरह हमें दैनिक प्रगति (Daily progress) करनी है।
- यह नियम दिन भर पालें और रात को सोने से पहले अपनी भूलों को जाँचियेगा।

UNIVERSAL LAW

Universal Operating System Applicable to All

Compiled by : **CA Jayesh Sheth** • www.jayeshsheth.com

- I receive what I give. What I wish for others comes back to me.
- I am the soul. This body is a role that I have been given. Generally, we get the role we had hankered after.
- Whatever is happening to me is a mirror of my past. It is a reflection of my past deeds. What I have not done or not caused or supported to be done through acts of mind, speech and body shall never happen to me.
- Therefore, no injustice is done to me either at present or in the past or in the future. By realising this, I remain firmly in the **'No Complaint Zone'**. Whatever has caused me pain is the result of my own past actions. It has nothing to do with others. So there is no question of blaming others. Hence the **'Why Me?'** question does not arise.
- I create good luck by doing *puṇya* (merits).
- I create bad luck by committing *ppa* (sins/demerits) like indulging in the 7 vices (viz. gambling, consuming alcohol, consuming non-vegetarian food, visiting prostitutes, stealing, hunting and adultery/infidelity), consuming tobacco in any form, eating after sunset and eating honey, root vegetables, pickles, figs, butter, etc.
- **Bear in mind:** *Puṇya* = Gain, *Pāpa* = Pain
- **Reflect on this**: I shall learn to gain from pain
- I am here to give unconditionally, without any expectations. By giving, I am either repaying my old debts or creating new deposits. I benefit in both cases.
- I have to perform my duty to the best of my ability without expecting others to do their best. All of us have to fulfill our duty towards family, friends, colleagues, society, country and humanity.
- I have to be strict with myself and lenient with others.
- Whatever happens, happens for good. Believing this brings super positivity.
- I have to deal with people in four ways *(Four Bhāvanās)*:
    1. **मैत्री** *Maitrī* — ***Universal Friendship****: It shall protect my happiness by not creating enmity with others. Wanting the welfare of others ensures my own welfare.*
    2. **प्रमोद** *Pramoda* — ***Admiration****: I shall imbibe others' virtues by admiring them.*
    3. **करुणा** *Karuṇā* — ***Compassion****: Compassion for sinners because they are unaware of the Universal Law.*
    4. **माध्यस्थ्य** *Mādhyasthya* — ***Indifference*** *or* ***No Response****: When someone hurts me, I shall stay calm, keep quiet and contemplate upon 'Thank you! Welcome!' inside my heart. This protects my happiness.*

It is a 3-step process:

Step 1 – I shall apologise for my mistakes **(Sorry! Sorry!)**

Step 2 – I shall not repeat my mistakes **(Never again!)**

Step 3 – I should believe that my opponent has obliged me by cleaning me. So I shall say **'Thank you!'** in my heart. This will ensure that annoyance/irritation does not get triggered and that I do not get trapped in the vicious circle of anger and resentment as they lead to increased anger and hatred and future pains.

These three steps are a shield for my happiness and good spirits. Hence, they are a **Welcome!** process. They save me from negative thoughts and emotions and make space for positivity.

- Attitude changes through conviction and not by force because this is the path of *Sahaja Yoga* and not *Hamha Yoga.*
- My goal is to use this body and mind to liberate myself by gaining *Samyak Darœana.*
- The truth lies within me. I do not have to go anywhere seeking it. I just need to look inwards.
- To attain *Samyak Darœana* (self-realisation), I am always **'Ready to Accept'** the truth and **'Ready to Change'** accordingly.
- Only one who has attained *Samyaktva* can guide others. Such a person never thrusts himself in the limelight. He never seeks fame and money. He remains in the background and helps true seekers on a one-on-one basis.
- In order to make real progress on the spiritual path, I have to rise above worldly desires. I need not give up my worldly home, family or wealth.
- I have to change myself, which is easy, and not others, which is not only difficult but also causes anger, animosity, agony, anguish, fear, grief, disappointment, frustration and resentment.
- I have to remember this: There are only two abodes where the soul can reside infinitely — ***Mokṣa*** and ***Nigoda***

  Mokṣa = liberation, the highest form of existence, the state of supreme and unending bliss

  Nigoda = bondage, the lowest form of existence, the state of intense sorrow, constant agony and endless pain and suffering
- I have to ask myself which option I would prefer, out of *Mokṣa* and *Nigoda*. If I choose *Mokṣa*, I have to work for it. *Nigoda* is my default destination.

I shall not compare myself with others. Instead, I have to compare my today with my yesterday and ensure daily improvement. This is the way to achieve ***daily progress****.*

I have to check my ***Bucket List*** *and work on it with the Twelve Contemplations. I need to check my likes and dislikes every two hours and correct them.*

I have to apply this for the whole day and check for deviations at night before going to sleep.

For a detailed explanation, please refer to:

The Key To Happiness

Samyak Darśana Ki Vidhi

Samyak Darśana Ni Rit

आत्मप्राप्ति का मार्ग

जब कोई जीव वैराग्य आदि योग्यताओं को प्राप्त करता है, तभी वह आत्मसन्मुख होता है। आत्मसन्मुख होने के पश्चात ही वह आत्मानुभूति कर पाता है। उस समय उसका 'मैंपन' ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में स्थित होता है। ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहलाता है।

वैराग्य आदि योग्यताओं के अभाव में आत्मा बहिरात्मा बनी रहती है। जब तक बाह्य पदार्थों में सुख की बुद्धि बनी रहती है, तब तक आत्मानुभूति नहीं होती। बहिरात्मा व्यक्ति को यह भ्रम रहता है कि सुख बाहर से प्राप्त होता है। इसलिए वह बाह्य वस्तुओं या व्यक्तियों के पीछे दौड़ता रहता है और इच्छित वस्तु या व्यक्ति मिलने पर उनके अधीन हो जाता है।

यदि कोई ऐसा सुख चाहता है जो कभी समाप्त न हो - अव्याबाध, नित्य और शाश्वत हो - तो वह केवल आत्मानुभूति से ही संभव है। आत्मानुभूति के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता, और आत्मप्राप्ति के बिना अनन्त अव्याबाध सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति असंभव है।

केवल आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्य प्राप्त करने के लिये बारह भावना, चार भावना, धर्मध्यान, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) आदि का अभ्यास करना चाहिये और निरंतर स्वयं की जांच करते रहना चाहिये।

आत्मपरीक्षण के लिये स्वयं से ये प्रश्न पूछने चाहिये:

- मुझे क्या प्रिय लगता है?
- मुझे किस वस्तु या व्यक्ति के प्रति मोह/ममता है?
- मेरी तीव्र इच्छाएँ क्या हैं?
- ऐसा क्या है जिसके बिना मैं रह नहीं सकता?

इन प्रश्नों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि मेरी बहिर्मुखता या परसन्मुखता कितनी है। फिर इस बहिर्मुखता का उपचार बारह भावना आदि के अभ्यास से करते हुए अपने अभिप्राय को आत्मसन्मुख बनाते रहना ही आत्मानुभूति का मार्ग है।

– जयेश मोहनलाल शेठ

आत्मानुभूति का मार्ग

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं को प्राप्त करता है, तभी वह आत्मसम्मुख होता है। आत्मसम्मुख होने के पश्चात ही वह आत्मानुभूति कर पाता है। उस समय उसका 'मैंपन' ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा से होता है। ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि — अर्थात ज्ञानी — कहलाता है।

वैराग्यादि योग्यताओं के अभाव में आत्मा परसम्मुख या बहिरात्मा रहती है। जब तक पर में सुखबुद्धि बनी रहती है, तब तक आत्मानुभूति नहीं होती। बहिरात्मा व्यक्ति को यह भ्रम होता है कि सुख पर से प्राप्त होता है। इसलिये वह परवस्तु या परव्यक्ति के पीछे दौड़ता रहता है, और वांछित परवस्तु/परव्यक्ति मिलने पर उसके अधीन रहता है।

यदि कोई ऐसा सुख चाहता है जो कभी समाप्त न हो — अव्याबाध, नित्य और शाश्वत हो — तो वह केवल आत्मानुभूति से ही सम्भव है। आत्मानुभूति के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता, और बिना आत्मप्राप्ति के अनन्त अव्याबाध सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति असम्भव ही है।

एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्यप्राप्ति हेतु बारह भावना, चार भावना, धर्मध्यान, धन्यवाद! स्वागतम् ! (Thank you! Welcome!) इत्यादि करना चाहिये और स्वयं को जाँचते रहना चाहिये।

आत्मपरीक्षण के लिये स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिए:

मुझे क्या प्रिय लगता है ?

मुझे किस वस्तु या व्यक्ति के प्रति मोह/मूर्च्छा है ?

मेरी तीव्र इच्छाएँ क्या हैं ?

ऐसा क्या है जिसके बिना मैं रह नहीं सकता ?

इन प्रश्नों से यह स्पष्ट होगा कि मेरी बहिर्मुखता या परसम्मुखता कितनी है।

फिर इस बहिर्मुखता का उपचार — बारह भावना आदि के अभ्यास से —करते हुए अपने अभिप्राय को आत्मसम्मुख बनाते रहना ही आत्मानुभूति का मार्ग है।

- जयेश मोहनलाल शेठ

आध्यात्मिक प्रगति के लिये विज़िट करें
www.jayeshsheth.com

मैत्री भावना – सर्व जीवों के प्रति मैत्री चिन्तवन करना, मेरा कोई दुश्मन ही नहीं ऐसा चिन्तवन करना, सर्व जीवों का हित चाहना।

प्रमोद भावना – उपकारी तथा गुणी जीवों के प्रति, गुण के प्रति, वीतरागधर्म के प्रति प्रमोदभाव लाना।

करुणा भावना – अधर्मी जीवों के प्रति, विपरीत धर्मी जीवों के प्रति, अनार्य जीवों के प्रति करुणाभाव रखना।

मध्यस्थ भावना – विरोधियों के प्रति मध्यस्थभाव रखना।

आपके जीवन में सम्यग्दशर्न का सूर्योदय हो, और उसके आलोक से आपको अव्याबाध सुखस्वरूप सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो, यही मेरी अन्तरात्मा से अभिलषित मंगलमयी भावना है।

JSBN

ISBN

ISBN
9 789334 425598